पश्चात् यदि आवश्यक समझें तो अपने ज्ञान में संशोधन कर लें। लेखक को अपनी कल्पना से पूरा पूरा काम लेना चाहिए। निरीक्षित वस्तु को कल्पना में उलट फेर कर इस दृष्टि से देखना चाहिए कि उसके साहित्यिक वर्णन में कितनी काट-छाँट वा नमक-मिर्च की आवश्यकता होगी। हम जिसके संपर्क में आवें उसकी विशेषताएँ, उसका उठना-बैठना, उसकी रहन-सहन, उसकी प्रसन्नता और नाराज़गी की बातों को नोट करना अपना कर्तव्य समझें। ऐसा करना हमें व्यवहारकुशल बना देगा। हमें सांसारिक ज्ञान से अनभिज्ञ न रहना चाहिए। पूर्णतया शिक्षित होने के लिए दूसरे देशों के रीति-रिवाज़ जानना भी स्पृहणीय है। साथ ही यह जानना भी आवश्यक है कि कौन चीज़ कहाँ और किस समय उत्पन्न होती है। ऐसा न करने से हमारी रचनाओं में देश और काल-सम्बन्धी विरोध के दूषण रह जाना संभव है। जानवरों की विशेषताएँ जानना भी एक उपादेय गुण है। जिन पौधों और जिन वृक्षों का साहित्य में वर्णन आता है, यदि उनका निजी परिचय प्राप्त कर लिया जाय तो बहुत अच्छा है।

तीसरी बात जो लेखक बनने के लिए आवश्यक है वह अभ्यास है। बिना पानी में पैर दिये तैरना नहीं आता। लेख ठीक कराने का चाहे अवसर मिले या न मिले, लेख लिखना उपयोगी है। यदि स्वयं अपने विचार न हों तो किसी दूसरे के विचारों को अपनी भाषा में लिखने का अभ्यास डाला जाय। विद्यार्थियों को चाहिए

अभ्यास

कि लेख लिख कर उन्हें स्वयं दो तीन बार पढ़ें, उनमें स्वयं ही आवश्यक परिवर्तन और संशोधन करें और स्वयं ही उनकी शुद्ध लिपि तैयार करें। यदि किसी को दिखा कर सम्मति प्राप्त करने या संशोधन कराने का अवसर मिले तो बहुत ही अच्छा है और यदि नहीं तो भी अभ्यास के लिए लिखना अवश्य चाहिए। ऐसा न हो कि निबन्ध-लेखन का पहला अभ्यास परीक्षा-भवन में ही किया जाय। जो संशोधन किया जाय उनको याद रखना उचित है। एक-एक प्रकार के कई लेख लिखे जाने वाञ्छनीय हैं। पहले छोटे लेख लिखे जायँ फिर क्रमशः बड़े लिखे जायँ। जो कुछ लिखा जाय उसमें पूर्ण सावधानी रखनी चाहिए, असावधानी से लेखन-शैली बिगड़ जाती है।

यद्यपि विषयों की अनन्तता के कारण प्रबन्धों के कई प्रकार हैं तथापि उनमें चार भेद मुख्य हैं—(१) विवरणात्मक (Narrative), (२) वर्णनात्मक (Descriptive), (३) विवेचनात्मक (Reflective), (४) भावात्मक (Emotional)

प्रबन्धों के प्रकार

विवरणात्मक लेखों में किसी काल में बीती हुई बात का विवरण रहता है। कथाओं का कहना, घटनाओं, लड़ाइयों, यात्राओं, सम्मेलनों, राजाओं के शासनकाल आदि का विवरण देना, ऐसे लेखों का मुख्य विषय रहता है।

विवरणात्मक

वर्णनात्मक लेखों में नगरों, ग्रामों, नदियों, पवतों, प्राकृतिक दृश्यों, कारखानों, योजनाओं, वस्तुओं की निर्माणविधि आदि का स्पष्ट और व्यौरेवार वर्णन रहता है। विवरणात्मक लेखों में कालक्रम की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। वर्णनात्मक में वस्तु को बीती हुई न बता कर वह सामने घटित होती हुई-सी या स्थित-सी वर्णित की जाती है। दोनों प्रकार के निबन्धों के बीच की रेखा बड़ी क्षीण है और प्रायः लेखों में विवरण और वर्णन दोनों के ही तत्त्व रहते हैं।

वर्णनात्मक

विवेचनात्मक लेखों में विवादास्पद विषयों का पक्ष-प्रतिपक्ष प्रतिपादन, किसी वस्तु वा प्रथा के गुण-दोष-विवेचन, किसी पुस्तक वा कवि की समालोचनाएँ तथा सिद्धान्तों का उद्घाटन आदि रहता है। इसमें बुद्धि की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। आचार्य शुक्लजी के निबन्ध विचारात्मक निबन्धों के परमोत्कृष्ट उदाहरण हैं। उनमें एक शृंखलाबद्ध विचार-परम्परा रहती है। किसी व्यवस्था-प्रिय शौकीन व्यक्ति के ट्रंक में व्यवस्था के साथ रक्खे हुए वस्त्रों की भाँति एक विचार के पश्चात् दूसरा विचार एक स्वाभाविक तारतम्य में निकलता आता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक लेखों में कल्पना के सामने चित्र उपस्थित किया जाता है। कुछ लेख भावात्मक भी होते हैं; उनमें बुद्धि की अपेक्षा हृदय से अधिक काम लिया जाता है। इस प्रकार के लेख प्रायः गद्य-काव्य के अन्तर्गत रक्खे जाते हैं। श्री वियोगी हरि के निबन्ध इस कोटि के निबंधों

विवेचनात्मक

का सुन्दर उदाहरण उपस्थित करते हैं।

लेख लिखने से पूर्व हमको अपने विषय के सम्बन्ध में पूरा विचार कर लेना चाहिए। जो विचार आवें उनको लिख कर उनमें क्रम स्थापित कर लेना

विचार-संग्रह और क्रमबद्ध करना

आवश्यक है। जो विचार एक साथ रक्खे जा सकते हैं उनको एक संदर्भ वा परिच्छेद (Paragraph) के लिए रख लेना वांछनीय है। उन संदर्भों में एक स्वाभाविक आनुपूर्वी स्थापित कर लेना लेख में संगति और तार्किकता उत्पन्न कर देगा। लेख की थोड़ी-सी भूमिका दे कर उसके पक्ष वा विपक्ष में जो कुछ विचारणीय बातें हों वे अलग-अलग आनी चाहिए। तदनन्तर उसके व्यावहारिक पहलू पर (यदि उसका व्यावहारिक पहलू है तो) विचार कर लेना भी श्रेयस्कर होगा। अन्त में उसके फल-स्वरूप दो चार ऐसे और सारगर्भित सुन्दर वाक्य लिखना वांछनीय होगा जो बहुत देर तक पाठक के ऊपर अपना प्रभाव बनाये रहें।

लेख का आरम्भ आकर्षक रूप से करना चाहिए जिससे पाठक की उत्सुकता बढ़ जाय। कहीं पर एक साधारण सिद्धान्त बतला कर लेख आरम्भ

आरम्भ

किया जाता है; जैसे 'दुख के पीछे सुख मिलता है, यह नियम अटल है'। अथवा 'कवि स्वभाव से ही उच्छृङ्खल होते हैं।' कहीं पर समस्या उपस्थित कर दी जाती है और कहीं पर परिभाषा से शुरू कर देते हैं; जैसे 'साहित्य जीवन की आलोचना है' अथवा 'राष्ट्र समाज की सुव्यवस्थित राजनीतिक इकाई है'। किन्तु परिभाषा देना अधिक अच्छा नहीं समझा जाता। परिभाषा की अपेक्षा तुलना द्वारा या और प्रकार से समझाना अच्छा होता है; जैसे आचार्य शुक्लजी 'क्रोध' शीर्षक लेख के आरम्भ में लिखते हैं:—'दुख की कोटि में जो स्थान भय का है आनन्द की कोटि में वही स्थान उत्साह का है'। लेख के प्रारम्भ करने के और भी कई प्रकार हैं। कोई तो पूर्व पक्ष दे कर आरम्भ करते हैं और फिर उसपर विवेचन करते हैं। कुछ लेखक कोई संस्मरण दे कर निबन्ध का प्रारम्भ कर देते हैं; जैसे पंडित बनारसीदास जी चतुर्वेदी का 'साहित्य और जीवन' लेख इस प्रकार शुरू होता है 'कुछ वर्ष पहले की बात है। उत्तर भारत के एक प्रसिद्ध नगर में

प्लेग फैलने की आशङ्का थी। चूहे मर रहे थे।' कभी-कभी लेख का प्रारम्भ विषय की महत्ता बतला कर किया जाता है; जैसे 'क्षमा धर्म का दूसरा लक्षण है', जिससे उस विषय के प्रति आकर्षण बढ़े और कभी-वार्तालाप के बीच के एक वाक्य को उद्धृत कर निबन्ध में प्रवेश कराया जाता है। आरम्भ प्रश्नात्मक भी होते हैं; जैसे, 'घर प्यारा घर' शीर्षक लेख का आरम्भ इस प्रकार होता है—'आखिर यह इतना प्यारा क्यों है ? जिसे देखिए पैर बढ़ाये घर का रास्ता नाप रहा है।' कभी सुन्दर वातावरण उपस्थित कर निबन्ध का प्रारम्भ किया जाता है। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी 'गोपियों की भगवद्भक्ति' शीर्षक लेख का प्रारम्भ इस प्रकार करते हैं—"शरत्काल है। धरातल पर धूल का नाम नहीं। मार्ग रजरहित है। नदियों का औद्धत्य जाता रहा है।' कभी-कभी निबन्ध का आरंभ उपयुक्त उद्धरण दे कर किया जाता है; जैसे प्रस्तुत पुस्तक में। इसका कोई नियम नहीं स्थापित किया जा सकता। विषय और अवसर के अनुकूल अपनी-अपनी स्फूर्ति से काम लेना उचित होगा। वर्णनात्मक वा विवरणात्मक लेखों में स्वाभाविक क्रम रखना चाहिए। यात्रा में घर से चलने के पूर्व अभीष्ट स्थान पर पहुँचने का वर्णन देना असंगत होगा। कहानी को भी क्रम से ही कहना पड़ता है। उसमें काल का क्रम रहता है। इमारत आदि के वर्णन में देश का क्रम रहता है। पहले अड़ोस-पड़ोस की स्थिति का, फिर दरवाजे का, उसके पीछे भीतर की कारीगरी इत्यादि का वर्णन होना चाहिए।

विचारों में संगति रखना परम आवश्यक है। यह संगति तब ही आ सकती है जब विचार स्पष्ट हों। यदि विचार स्पष्ट नहीं हैं तो उतने ही विचार रक्खे जावें जितने कि स्पष्ट हों। विचारों की अस्पष्टता भाषा में भी अस्पष्टता उत्पन्न कर देती है। जो कुछ लिखा जाय उसका पूरा निर्वाह करना लेखकों को अपना प्रथम कर्तव्य समझना चाहिए। विषय के प्रतिपादन में किसी प्रकार की असावधानी न की जावे। एक अधिकरण में एक ही प्रधान विचार से संबंध रखने वाले पोषक विचार रक्खे जावें। जहाँ तक हो विचार इधर उधर न घूमें। ऐसा न हो कि कभी एक विचार आ जावे और कभी दूसरा; अथवा एक के पूरे होने

संगति और निर्वाह

से पूर्व दूसरा बीच में ही कूद पड़े। विचारों के सम्बन्ध में जहाँ तक हो संगति रखना आवश्यक है। जिस दृष्टिकोण से हम वस्तु को देखें, उसी दृष्टिकोण की बातें लिखें। यदि दृष्टिकोण दूसरा बनावें तो उसे स्पष्टतया बतला देवें। विचारात्मक और भावात्मक निबन्धों में बुद्धि और भावात्मक तत्त्वों का अनुपात घटता-बढ़ता रहता है। विचारात्मक निबन्धों में भावात्मक निबन्धों की अपेक्षा बुद्धि तत्त्व का प्राधान्य रहता है। विचारात्मक निबन्धों में प्रतिपाद्य विषय की (पक्ष और विपक्ष की युक्तियों द्वारा) उपादेयता पर प्रकाश डाला जाता है। उसको उदाहरणों द्वारा पुष्ट किया जाता है और कभी-कभी दूसरों के मतों का उल्लेख करके अपने मत का समर्थन किया जाता है। किन्तु विद्यार्थियों को एकाङ्गिता से सदा दूर रहना चाहिए। भावात्मक निबन्धों में बुद्धि का पल्ला नहीं छोड़ा जाता किन्तु भावना का पुट अधिक रहता है। वर्णनात्मक और विवरणात्मक निबन्धों में कल्पना का पुट अधिक रहता है।

भाषा और शैली

भाषा और शैली की उत्तमता उतनी ही आवश्यक है जितनी कि विचारों की। उत्तम भाषा और शैली से लेखक के प्रति श्रद्धा उत्पन्न होती है और पाठकों के हृदय की ग्राहकता बढ़ जाती है। अशुद्ध और अस्पष्ट भाषा सुन्दर से सुन्दर विचारों की आकर्षकता को नष्ट कर देती है और वे विचार मरुभूमि में पड़े बीजों की भाँति अनुत्पादक रह जाते हैं। भाषा में सब से पहले इस बात की ज़रूरत है कि वह सर्व-साधारण के समझने योग्य हो। यद्यपि क्लिष्ट विषय के लिए क्लिष्ट और पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करना पड़ता है तथापि साधारण विचार को अलंकारों के आवरण में छिपा देना अथवा पाण्डित्य प्रदर्शन के हेतु पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग करना उचित नहीं।

शब्दों में अर्थ की उपयुक्तता के साथ ध्वनि की मधुरता भी वांछनीय है। यद्यपि ध्वनि के लिए अर्थ का बलिदान करना श्रेयस्कर नहीं है तथापि जहाँ पर निभ सके एक स्थान से उच्चारण किये जाने वाले वर्णों का एक साथ आना श्रवण-सुखद होता है। छोटे शब्दों के बाद बड़े शब्दों का रखना श्रेयस्कर होगा; जैसे—अनुगामी और सेवक के स्थान में सेवक और अनुगामी अधिक

श्रुति-मधुर है। लेकिन यह भी ध्यान रखना चाहिए कि शब्दों का तार्किक क्रम न बिगड़े। जहाँ उतार का क्रम हो वहाँ उतार का रहे और जहाँ चढ़ाव का क्रम हो वहाँ चढ़ाव का रहे। 'ऊख, मयूख, पियूख' में चढ़ाव का क्रम है। यथासम्भव शब्दों की उपयुक्तता का ध्यान रखते हुए उनकी पुनरावृत्ति से बचना चाहिए, जैसे 'चाहिए चाहिए' की पुनरावृत्ति अच्छी नहीं लगती। उसके स्थान पर कहीं 'वांछनीय' लिखना और कहीं पर 'आवश्यक' या 'उचित होगा' से काम लेना श्रेयस्कर होगा। विषय के अनुकूल ही माधुर्य और ओज गुणों का समावेश करने के लिए उन गुणों के अनुकूल ही वर्णों और शब्दों का प्रयोग करना चाहिए।

अनुप्रास शैली का गुण है किन्तु उसका बाहुल्य शैली का दोष हो जाता है। एक से शब्दों की पुनरावृत्ति एकतानता (Monotony) उत्पन्न कर देती है। इसी प्रकार गद्य में तुकबन्दी के शब्द अग्राह्य हो उठते हैं।

मुहावरों का प्रयोग भाषा की शक्ति को बढ़ा देता है। चिरकाल से प्रयुक्त होने के कारण उनके व्यवहार में आत्मीय के मिलन का सा आनन्द प्राप्त होता है। किन्तु मुहावरों को सप्रयास जमा-जमा कर बैठालना उचित नहीं है।

अपने विषय का प्रतिपादन करते हुए जोश में न आना चाहिए। बहुत भावोत्तेजक शब्द लिखना शिक्षा की कमी का द्योतक होता है। 'हा! अहो, भाइयो, पाठको' आदि शब्दों का प्रयोग करना उचित नहीं है। बिना भावोत्तेजक शब्दों का व्यवहार किये भी भाषा ज़ोरदार बनाई जा सकती है। गांभीर्य रखते हुए कहीं-कहीं हास्य का पुट आ जाना सोने में सुगंध का काम करता है। उससे पढ़नेवाले पर अच्छा प्रभाव पड़ता है और वह ऊबने नहीं पाता। हास्य जहाँ तक साहित्यिक हो वहाँ तक अच्छा है। कभी-कभी बड़े लेखकों या कवियों के प्रसिद्ध वाक्यों में थोड़ा बहुत परिवर्तन कर देना बड़ा शिष्ट हास्य उत्पन्न कर देता है; जैसे रघुवंश के 'योगेनान्ते तनुत्यजाम्' के स्थान में 'रोगेणान्ते तनुत्यजाम्' लिख देना अथवा 'उमा दारुयोषित की नाईं सबहिं नचावे राम गुसाईं' तुलसीदास जी की इस चौपाई में 'राम गुसाईं' के स्थान

में 'दाम (धन) गुसाईं' लिख देने से बात बड़ी रोचक बन जाती है।

शब्दों के चुनाव में बहुत सावधानी की आवश्यकता है। सब पर्याय-वाची शब्द एक ही अर्थ नहीं रखते; जैसे—'भय' अधिकतर वर्तमान का और कभी-कभी भविष्य का भी होता है, 'आशंका' केवल भविष्य की ही होती है। आशंका में अनिश्चय की मात्रा अधिक रहती है। लज्जा दूसरों से होती है, ग्लानि के लिए दूसरे की अपेक्षा नहीं होती। साधारण प्रेम और प्रणय में भी अन्तर है। प्रणय प्रायः दाम्पत्य प्रेम को ही कहते हैं। जहाँ तक हो बहुत समासवाले या कर्णकटु शब्दों का व्यवहार न होना चाहिए। संस्कृत के जो शब्द रक्खे जावें शुद्ध रूप में रक्खे जावें, विकृत रूप में न रक्खे जावें। फारसी अंग्रेज़ी से भी तत्सम शब्द रक्खे जायँ, किन्तु उनमें विभक्तियाँ बहुवचन के रूप आदि हिन्दी के लगाना उपयुक्त होगा और अब फारसी की तत्समता निभाने के लिए क या ख के नीचे बिन्दी लगाना वांछनीय नहीं समझा जाता। खुराक ही लिखेंगे ख़ुराक नहीं। हिन्दी में फुट का बहुवचन फुटों लिखना ठीक होगा न कि फीट। इस प्रकार लफ्ज का बहुवचन अलफाज़ न लिख कर लफ़्ज़ों लिखना उचित होगा।

विदेशी भाषाओं के शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ लोगों का तो यह कथन है कि दूसरी भाषा का एक भी शब्द लाने की आवश्यकता नहीं है। थर्मामीटर को तापमापक, फोटोग्राफी को छायाचित्रण आदि संस्कृत शब्दों से पुकारा जाय। इसके विपरीत कुछ लोग बेधड़क अंगरेज़ी, फारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्दों के पक्ष में हैं। अन्य भाषाओं के जो शब्द प्रचार में आ गये हैं उनके स्थान में अप्रचलित शब्द रखना अधिक युक्ति-संगत नहीं है। यद्यपि अन्य भाषाओं के शब्दों की अपेक्षा संस्कृत के शब्द अधिक ग्राह्य समझे जाते हैं, तथापि केवल पांडित्य प्रदर्शन के लिए संस्कृत शब्दों का प्रयोग उचित नहीं। शब्दों का अक्षर-विन्यास (हिज्जे) एक सा ही होना वांछनीय है। यदि संस्कृत के ढंग से अनुस्वार के स्थान में पंचम वर्ण का प्रयोग किया जाय तो वैसा ही सब स्थानों में करना उचित होगा।

उपर्युक्त शब्द-योजना के अतिरिक्त अच्छे लेखक को वाक्य-संगठन की ओर

ध्यान देना आवश्यक है। प्रायः वे वाक्य अच्छे समझे जाते हैं जिनका आशय अन्त में पूरा हो जिससे वाक्य के खतम करने तक आकांक्षा और कौतूहल बना रहे। ऐसे वाक्यों को **वाक्योच्चय (Period)** कहते हैं। नीचे का वाक्य देखिए :—

'सभ्यता की वृद्धि के साथ-साथ ज्यों-ज्यों मनुष्य के व्यापार बहुरूपी और और जटिल होते गये त्यों-त्यों उनके मूल-रूप बहुत-कुछ आच्छन्न होते गये।' (आचार्य रामचन्द्र शुक्ल)

शिथिल (Loose) वाक्य—ऐसे वाक्यों में अनुचित विस्तार दोष हो जाता है। एक विशेषण वाक्य में दूसरा विशेषण वाक्य लगाना भी अच्छा नहीं समझा जाता।

कभी-कभी एक से संगठन के वाक्यों का तारतम्य उपस्थित करना कथन की प्रभावोत्पादकता को बढ़ा देता है। ऐसे वाक्यों को समीकृत (Balanced) वाक्य कहते हैं। नीचे का वाक्य इसका उदाहरण है:—

'उसने निश्चय किया कि वह उस भावुकता को आमूल नष्ट कर डालेगी, जिसका आश्रय ले कर पुरुष उसे रमणी समझता है, उस गृहबन्धन को छिन्न-भिन्न कर देगी जिसकी सीमा ने उसे पुरुष की भार्या बना दिया है और उस कोमलता का नाम भी न रहने देगी जिसके कारण उसे बाह्य जगत् के कठोर संघर्ष से बचने के लिए पुरुष के निकट रक्षणीय होना पड़ता है।'—श्रीमती महादेवी वर्मा।

इस शब्दावली में भिन्नता होते हुए भी शब्दों का संगठन एक सा है। इससे वाक्यों का सामूहिक प्रभाव पड़ता है।

वाक्य प्रायः छोटे अच्छे होते हैं किन्तु विषय के अनुकूल वाक्यों का बड़ा हो जाना बुरा नहीं, किन्तु उनमें स्पष्टता का ध्यान रखना चाहिए। बड़े वाक्यों में स्पष्टता लाने के लिए विराम-चिह्न बड़े सहायक होते हैं। शैलियाँ दोनों तरह की होती हैं। कहीं-कहीं थोड़े में बहुत-से भाव भर दिये जाते हैं। जिस शैली में भाव ठसे हुए रहते हैं उसे समास शैली कहते हैं और जिसमें फैले रहते हैं उसे व्यास शैली कहते हैं। विचारात्मक निबन्धों के लिए समास शैली अच्छी रहती

है और भावात्मक के लिए व्यास शैली। समास शैली इतनी कठिन न होनी चाहिए कि रचना पढ़ने वाले के लिए लोहे के चनों का रूप धारण कर ले।

अच्छी रचना में बुद्धि, कल्पना और रागात्मक तत्त्वों का सुखद संतुलन रहता है। कल्पना पर प्रभाव डालने के लिए भाषा में चित्रोपमता लाना आवश्यक होता है। सूक्ष्म सिद्धान्त की अपेक्षा स्थूल चित्र कल्पना को अधिक ग्राह्य होते हैं। इसी लिए रूपक भाषा को सजीवता प्रदान करने में समर्थ होते हैं। मनकामना 'पूर्ण हुई' की अपेक्षा 'फलीभूत हुई' अधिक भाव-व्यञ्जक होता है। 'भूखा है' न कह कर 'पेट में चूहे कलाबाजी कर रहे हैं' या 'पेट पीठ चिपक गये हैं'—कहना अधिक प्रभावोत्पादक है। आनन्द लूटना, सौरभ बिखेरना, रूप सुधा का पान करना, कार्य भार से दबना, कार्य सञ्चालन करना आदि प्रयोग कल्पना को चित्रों द्वारा प्रभावित करने के उदाहरण हैं। ऐसे प्रयोगों में भाषा की लक्षणा शक्ति से काम लिया जाता है। लक्षणा और व्यञ्जना के सफल प्रयोग से गद्य में भी काव्य का सा आनन्द और चमत्कार आ जाता है। 'अन्धे का दुख गूँगा हो कर आया', 'वैर क्रोध का अचार या मुरब्बा है' आदि वाक्यों पर मुग्ध हो जाना पड़ता है।

विद्यार्थियों को चाहिए कि प्रशस्त लेखकों की शैली का अध्ययन कर देखें कि वे कौन-से साधनों को काम में लाये हैं। उन साधनों को जान कर उन से लाभ उठाते हुए विद्यार्थियों को अपनी स्वतंत्र शैली का निर्माण करना चाहिए।

यह लेखमाला विद्यार्थियों के मानसिक विस्तार के लिए लिखी गई है। इसमें उनको बहुत से स्वतंत्र लेखों के लिए सामग्री मिलेगी; किन्तु इनको पढ़ कर ही उनके कार्य की इति-श्री नहीं हो जाती। जिन विचारों को इन लेखों द्वारा उत्तेजना मिले उनकी अन्य ग्रन्थों से पुष्टि करना परम आवश्यक है। विद्यार्थियों को चाहिए कि इनसे मिलते-जुलते और भी विषयों पर लेख लिखें। एक विषय के लेख के लिए उससे सम्बद्ध दूसरे लेखों से भी सामग्री का चयन करें। एक उदाहरण लीजिए; 'क्या विज्ञान का कविता और धर्म के साथ विरोध है?' इस शीर्षक के निबन्ध के साथ, 'वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों का महत्त्व' भी पढ़ कर ध्यान में रखना अच्छा होगा। विज्ञान और धर्म का एक स्वतन्त्र

लेख तैयार किया जा सकता है । जहाँ तक सम्भव हुआ है सम्बद्ध विषय एक साथ रक्खे गये हैं । विद्यार्थियों के लाभ के लिए इस संस्करण में कुछ लेख और बढ़ा दिये गये हैं ।

विद्यार्थियों के अध्ययन के लिए हिन्दी में पर्याप्त साहित्य है । भरे घर का चोर क्या उठाये और क्या छोड़े । फिर भी डाक्टर श्यामसुन्दरदास का हिन्दी भाषा और साहित्य तथा साहित्यालोचन, पं० रामचन्द्र शुक्ल का हिन्दी साहित्य का इतिहास, चिन्तामणि तथा तुलसीदास, प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री की साहित्य-मीमांसा तथा हिन्दी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास, मिश्रबंधुओं का हिन्दी नवरत्न, प्रोफेसर रामकुमार वर्मा का हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास और साहित्य-समालोचना, पं० पद्मसिंह शर्मा लिखित बिहारी सतसई की भूमिका और पद्म-पराग पं० कृष्णबिहारी मिश्र का देव और बिहारी 'रसाल' का साहित्य परिचय, बख्शी जी का हिन्दी साहित्य विमर्श और साहित्य शिक्षा, श्रीमती महादेवी वर्मा का विवेचनात्मक गद्य, आचार्य द्विवेदी जी का रसज्ञ-रंजन, पंडित नन्ददुलारे वाजपेयी का आधुनिक हिन्दी साहित्य, श्री नगेन्द्रजी का साकेत का एक अध्ययन और सुमित्रानन्दन पन्त, प्रोफेसर सत्येन्द्र की साहित्य की झाँकी और गुप्तजी की कला, धीरेन्द्र वर्मा का हिन्दी भाषा का इतिहास, हिन्दी भाषा और लिपि तथा विचारधारा, कृष्णशंकर शुक्ल का आधुनिक हिन्दी साहित्य का इतिहास, पं० जयचन्द्र विद्यालंकार की भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भारतभूमि और उसके निवासी, भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न तथा इतिहास प्रवेश आदि, डा० सुनीतिकुमार चटर्जी की भारत की भाषाएँ और भाषा संबंधी समस्याएँ, लेखक के नवरस, हिन्दी नाट्य विमर्श, सिद्धान्त और अध्ययन, काव्य के रूप इत्यादि ग्रन्थ विद्यार्थियों का साहित्यक ज्ञान परिपक्व करने में बड़े सहायक होंगे । वैज्ञानिक विषयों पर निबन्ध लिखने में श्री रामदास गौड का विज्ञान हस्तामलक तथा लेखक की विज्ञानवार्ता पढ़ना उपयोगी होगा । इन ग्रन्थों के अध्ययन से उच्चकोटि के निबन्ध लिखने में बहुत-कुछ सहायता मिलेगी । लेखक ने भी इन ग्रन्थों में से बहुत से ग्रन्थों से लाभ उठाया है । उनके सुयोग्य लेखकों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करता हुआ लेखक

इस लेखमाला को विद्यार्थियों के हाथ सौंपता है। आशा है कि वे अपने मानसिक विकास में सहायता ले कर यथोचित लाभ उठायँगे और उसके परिश्रम को सफल करेंगे।

---

१. काव्य का लक्षण और उसका मानव-जीवन से सम्बन्ध

यद्यपि काव्य की यथार्थ परिभाषा देना कठिन है, क्योंकि इसके सम्बन्ध में आचार्यों में बहुत मतभेद है, तथापि इतनी बात अवश्य कही जा सकती है कि उसका उदय मानव हृदय में होता है और वह मानव-हृदय को प्रभावित कर आनन्द का उत्पादक होता है। 'काव्य क्या है ?' इसके उत्तर में केवल इतना कहना पर्याप्त होगा कि मनुष्य के शेष सृष्टि से भावात्मक सम्बन्ध रखनेवाले अनुभवों की आनन्दप्रदायिनी सुन्दर शब्द-मयी अभिव्यक्ति को काव्य कहते हैं। काव्य में भाव का प्राधान्य रहता है। थोड़ी सामग्री में बहुत से भावों को व्यंजित कर देना काव्य का बाहरी लक्षण है।

कविता का मानव-जीवन से विशेष सम्बन्ध है। उसका दृष्टिकोण ही मानवीय है। काव्य उन्हीं अनुभवों को लेता है जिनका कि मनुष्य से भावात्मक संबंध है। यह बात काव्य और विज्ञान का दृष्टिकोणभेद बतला देने से और भी स्पष्ट हो जायगी। विज्ञान जिस वस्तु को देखता है उसको वैसा ही कहता है। उसके लिए सुन्दर और असुन्दर कुछ नहीं। जल ओषजन (Oxygen) और उदजन (Hydrogen) से मिल कर बनता है, इसमें न उसको हर्ष है, न विषाद। फूल के लिए वह बता देगा कि उसमें इतनी पंखुड़ियाँ हैं, इतने तन्तु हैं, वह कार्बन (Carbon) और उदजन (Hydrogen) आदि से बना है। किन्तु कवि फूल को अपने हृदय के नेत्रों से देखेगा। फूल के देखने से कवि के हृदय पर जो प्रभाव पड़ता है, वह उसको बतलायेगा। कवि फूल में सौन्दर्य देखता है। फूल उसके लिए हँसता और खिलखिलाता है। वह प्रकृति देवी की प्रसन्नता का सूचक है। वह उसके प्रियतम भगवान के प्रेम-संदेश का वाहक

है। कवि के लिए शिथिल पत्रांक में सोतीं हुई सुहागभरी जुही की कली मलयानिल से प्रेमालाप करती है।

कवि सारी सृष्टि को मानवीय रूप में देखता है और उसमें मानवीय भावों को आरोपित कर अपनी सहानुभूति के क्षेत्र को विस्तृत कर लेता है। वैज्ञानिक वस्तु की सचाई को बतलाता है। कवि अपने हृदय पर पड़े हुए प्रभाव को सच्चे रूप में बतलाता है। वैज्ञानिक के लिए मनुष्य भी भौतिक तत्त्वों का संघात है और भौतिक नियमों से शासित होता है, किन्तु कवि के लिए मनुष्य ईश्वर का अंश है; उसमें जीते-जागते भाव हैं जो उसके हृदय को प्रभावित करते हैं; मनुष्य उसके लिए एक कर्त्तव्य और लक्ष्य रखने वाला जीव है। कवि की दृष्टि से मनुष्य स्वतन्त्र है; उसकी आत्मा भौतिक नियमों के बन्धन से परे है; उसके भाव सरिता की स्वच्छन्द गति से बहते हैं; मनुष्य स्वयं सुन्दर है और वह सौन्दर्य का उत्पादक भी है।

इस विवेचना से प्रकट होता है कि वैज्ञानिक के लिए मनुष्य भी प्रकृति का एक अंग है, उसमें कोई विशेषता नहीं, और कवि के लिए प्रकृति भी मानवीय रूप धारण कर लेती है। यद्यपि वैज्ञानिक भी प्रकृति को मनुष्य जाति की अनुचरी बना कर उसका उपयोग मानवीय हित के लिए करता है, तथापि उसकी दृष्टि में प्रकृति का प्राधान्य है। वह मनुष्य को भी प्राकृतिक नियमों के बन्धन में रखता है और उसको प्राकृतिक दृष्टिकोण से देखता है। कवि इसके विपरीत प्रकृति को भी मानवीय दृष्टिकोण से देखता है। इसलिए काव्य का विशेष रूप से मानव-जीवन से सम्बन्ध है।

यह तो रही साधारण सिद्धान्त और दृष्टिकोण की बात। काव्य का मनुष्य-जीवन से कई अन्य प्रकारों से भी सम्बन्ध है। सबसे पहले तो काव्य आनन्द देता है और आनन्द मनुष्य का मुख्य ध्येय है। काव्य के आनन्द को ब्रह्मानन्द-सहोदर अर्थात् ब्रह्मानन्द का भाई बतलाया गया है। मनुष्य जब अपने जीवन में चारों ओर संघर्ष पाता है तब काव्य ही उसके जीवन में साम्य उपस्थित कर उसके जीवन-भार को हलका करता है। काव्य के द्वारा मनुष्य-जाति की सहानुभूति बढ़ती है। मनुष्य अपने संकुचित घेरे से बाहर आ जाता है।

इस प्रकार काव्य का अनुशीलन जीवन को सफल, साम्यमय और सरल बनाने में सहायक होता है। वह बेकार को भी खाली नहीं रखता, उसको प्रसन्नता दे कर मानव-जाति के प्रति घृणा के भावों को कम कर देता है। काव्य का अध्ययन निरापत्तिजनक व्यसन है। वह जीवन को जीवन के योग्य बनाता है। इसीलिए कहा है कि—

काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन च मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा॥

---

२. काव्य-कला और चित्र-कला

कला आनन्द से उद्वेलित आत्मा का अभिव्यंजन है। जब आत्मा आनन्द-विभोर हो कर भीतर से बाहर प्रकट होना चाहती है, तभी कला की उत्पत्ति होती है। जब मीरा आनन्द मग्न हो कर गा उठती है कि—'मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई' तब उसकी आत्मा संगीत में प्रकट होने लगती है। यही सच्ची कला है। मनुष्य अपनी आत्मा का, कहीं तो स्थूल प्रस्तरमूर्तियों द्वारा, कहीं चित्रों द्वारा और कहीं लेखों और काव्य द्वारा प्रकटीकरण करता है। कहीं पर उसका आनन्द नृत्य का रूप धारण कर लेता है और कहीं पर उसकी आन्तरिक-स्फूर्ति अपने शरीर को अलंकृत करने में प्रस्फुटित होती है, ये सब कला के रूप हैं। भारतवर्ष में ६४ कलाएँ मानी गई हैं। वास्तव में कलाएँ अनन्त हैं। यह आत्मा का अभिव्यंजन भौतिक सामग्री द्वारा होता है। आत्मा भौतिक सामग्री पर अपनी छाप डाल देती है। कई कलाओं में भौतिक सामग्री का प्राचुर्य रहता है और कई में कमी। वे ही कलाएँ श्रेष्ठ या उच्च गिनी जाती हैं; जिनमें भौतिक सामग्री का आश्रय कम हो और आत्मा की छाप अधिक। इसी कसौटी पर कलाएँ कसी जा कर ऊँची और नीची ठहराई जाती हैं। स्थापत्य को सामग्री के बाहुल्य के कारण सब से नीचा स्थान दिया जाता है। संगीत और काव्य का सम्बन्ध ध्वनि से है। संगीत केवल ध्वनि को प्रधानता देता है, इसलिए उसमें इतनी सम्पन्नता नहीं आती जितनी काव्य में, जो कि शब्द

(ध्वनि) और अर्थ दोनों को मुख्यता देता है और दोनों में परस्परानुकूलता देखता है।

चित्र-कला और काव्य-कला दो प्रधान कलाएँ हैं; पहली का सम्बन्ध रंग और रेखाओं से है, दूसरी का शब्दों से। भारतवर्ष में इनका आदि-काल से आदर चला आया है। साहित्य के रीति-ग्रंथों में चित्र-दर्शन भी पूर्वानुराग (जो वास्तविक मिलन से पूर्व हो) का एक कारण माना गया है। पुराणों में चित्रलेखा आदि कुशल चित्रकर्त्रियों का उल्लेख पाया जाता है। चित्रों के आधार पर ही दूर देश के विवाह निश्चित होते थे। हम नाटकों में पढ़ते हैं कि नायक लोग अपने आनन्द और प्रेम के प्रकाशनार्थ अपनी प्रेयसियों के चित्र बनाया करते थे और उन्हें अपनी पटरानियों से छिपा कर रखते थे। शकुन्तला नाटक के धीर-ललित नायक महाराज दुष्यन्त बड़े ही कुशल चित्रकार थे। मुद्रिका के मिल जाने पर परित्यक्ता शकुन्तला की स्मृति जाग्रत हो गई थी। विरह-विह्वल दुष्यन्त ने उसका एक ऐसा सुन्दर चित्र बनाया था कि उसे देख कर शकुन्तला की सखी मिश्रकेशी अप्सरा भी धोखे में पड़ गई, भौंरे का धोखा खा जाना तो कोई बात ही नहीं। इसी प्रकार काव्य का भी आदर वैदिक काल से चला आता है। गीता में स्वयं परमात्मा का वर्णन कवि कह कर किया गया है—"कविं पुराणमनुशासितारम्"। हमारे देश की काव्य-कला तो और भी बढ़ी-चढ़ी थी। कालिदास और भवभूति की कविताएँ आज भी अद्वितीय हैं।

अब यह देखना है कि चित्र-कला और काव्य-कला में और कलाओं से क्या विशेषता है, और यह एक दूसरे से किस प्रकार भिन्न हैं। स्थापत्य (भवन-निर्माण-कला) और मूर्ति-तक्षण कला से चित्र कला में भौतिक सामग्री बहुत कम लगती है और आत्मा की अभिव्यक्ति अधिक रहती है। मूर्ति में तो लम्बाई, चौड़ाई, मोटाई रहती है; चित्र केवल लम्बाई-चौड़ाई वाले धरातल पर बनाये जाते हैं। समानभूमि में ही ऊँचाई, निचाई, गहराई दिखा दी जाती है। काव्य में तो भौतिक सामग्री का प्रायः अभाव-सा हो जाता है और आत्मा ही आत्मा का खेल रहता है। इस दृष्टि से काव्य-कला सर्वोपरि है।

चित्र-कला और काव्य-कला में इस भेद के अतिरिक्त और भी कई भेद

हैं, और भेदों के साथ समानताएँ भी हैं। समानता के बिना कोई भेद नहीं रह सकता। काव्य में जहाँ तक वर्णन रहता है, वहाँ तक वह चित्र-कला की भाँति है। चित्र-कला रेखाओं और रंगों से काम लेती है, काव्य-कला शब्दों से। काव्य में जो 'चित्र-काव्य' के नाम से प्रख्यात है, वह तो एक प्रकार की चित्र-कला ही है, काव्य नहीं। शब्दों द्वारा कल्पनापट पर अङ्कित काव्य के एक चित्र का उदाहरण देखिए—

फिर-फिर सुन्दर ग्रीवा मोरत,
देखत रथ पाछे जो घोरत।
कबहुँक डरपि बानि मति लागे,
पिछले गात समेटत आगे।
अध-रोंथी मग दाभ गिरावत,
थकित खुले मुख ते बिखरावत।
लेत कुलाँच लखो तुम अब ही,
धरत पाँव धरती जब तब ही।

यह भागते हुए मृग का कितना सजीव और गतिमय चित्र है? रंग और स्याही की रेखाओं में इस चित्र का लाना थोड़ा कठिन अवश्य है, किन्तु चित्रकार की कला से बाहर नहीं। एक चित्र और देखिए। 'उत्तर-रामचरित' से तापस-कुमार-वेश-धारी लव की वेश-भूषा का वर्णन सुनिए—

दोऊ बगलन और पीठ पै निषंग राजै,
तिन के बिसिख सिखा चुम्बति सुहावै है।
अलप विभूति उर पावन रमाये मंजु,
धारे रुरु मृग-छाला, छटा छिति छावै है।
मौरवी लता की बनी कौंधनी कलित कटि,
कौपीन मजीठी-रंग रँगी सरसावै है।
कर में धनुष, तथा पीपर को दंड चारु,
आछी रुदराछी माला मोद उपजावै है।

यहाँ तक तो इसका रंगीन चित्र भी अच्छा बन सकता है। चित्र-कला

और काव्य-कला का साथ है। किन्तु आगे चल कर काव्य इससे आगे बढ़ जाता है। चित्र-कला का विषय वही पदार्थ हो सकते हैं, जो नेत्रों के विषय हैं। काव्य गन्ध और शब्दों के भी चित्र खींच सकता है। पंतजी ने सरसों की तैलाभ गन्ध का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। चित्र केवल भौतिक दृश्यों का ही होता है। उसमें आध्यात्मिकता रहती अवश्य है, किन्तु वह भौतिक पदार्थों द्वारा प्रकट होती है। चित्र-कला में भी वास्तविकता के साथ आदर्श-वाद रहता है, जैसा कि बंगाल के चित्रों में अथवा पुरानी बौद्ध-कला में। विष्णुधर्मोत्तर में चित्रकला में भी वे ही रस माने गये हैं जो काव्य के हैं। किन्तु शुद्ध आध्यात्मिक भावों के चित्रण में चित्रकला असफल रहती है। प्रेम का यदि चित्र खींचना है, तो चित्रकार लम्बी, खिंची, एकटक आँखें बना देगा, मुख पर प्रसन्नता का भाव भी ले आवेगा, शायद रोमांच और स्वेद का भी भाव प्रकट कर देगा, कुछ वस्त्रों की लापरवाही दिखा देगा, किन्तु ये सब बाहरी व्यंजक हैं। भवभूति ने जिस प्रकार प्रेम का वर्णन किया है वह चित्रकार के कौशल से बाहर है। देखिए—

सुख दुख में नित एक, हृदय को प्रिय विराम-थल।
सब बिधि सों अनुकूल विषद लच्छनमय अविचल॥
जासु सरलता सकै न हरि कबहूँ जरठाई॥
ज्यों ज्यों बाढ़त, सघन-सघन सुन्दर सुखदाई॥
जो अवसर पै सँकोच तजि परनत दृढ़ अनुराग सत।
जग दुर्लभ सज्जन-प्रेम अस बड़भागी कोऊ लहत॥

प्रसाद जी द्वारा किया हुआ अमूर्त चिन्ता का वर्णन भी इसी प्रकार का है। उन्होंने उसे 'अभाव की चपल बालिके' कह कर संबोधित किया है।

चित्रकार के वर्णन-सम्बन्धी चित्रों में यद्यपि स्पष्टता अधिक रहती है तथापि वह एक देश और काल विशेष की स्थिति को अंकित कर देता है। एक चित्र एक क्षण का ही हो सकता है। संसार में स्थिरता नहीं, प्रवाह है। इस कमी को चल-चित्रों ने पूरा करना चाहा है। चल-चित्रों में क्षण-क्षण के कई चित्र ले कर एक चित्र बनाया जाता है और उसमें वास्तविक वस्तुओं की गतिशीलता आ जाती है। यह होते हुए भी वह सीमित है। पलाशी के

युद्ध की किसी घटना का चित्र बना सकते हैं। वह चित्र हमारे सामने दृश्य को स्थिर करके रख देगा और उस दृश्य का ज्ञान हमको काव्य के वर्णन से अधिक होगा। किन्तु वह सब बाहरी होगा। कवि का वर्णन एक साथ ही भीतरी और बाहरी हो सकता है। संसार में कोई ऐसी वस्तु नहीं, जिसके अनन्त सम्बन्ध न हों। चित्रकला उन अनन्त सम्बन्धों को प्रकट करने में असमर्थ रहती है। चित्र में भावोत्पादन शक्ति रहती है, किन्तु वह उन भावों के वर्णन करने में असमर्थ रहता है। तारागणों का आप चित्र बना दीजिये। चित्र श्वेत बिन्दुओं के अतिरिक्त और कुछ नहीं रहेगा। तारागणों से हमारे जिन भावों की उत्पत्ति होगी उनके वर्णन में यह चित्र नितांत असमर्थ है। कवि के लिए कोई सीमा नहीं रहती। वह अपनी भावलहरी का धारा-प्रवाह वर्णन करता चला जाता है। कविवर सुमित्रानन्दन ने तारागणों का क्या ही उत्तम वर्णन किया है! चित्रकार इन भावों को नहीं ला सकता। देखिए—

ऐ अज्ञात देश के नाविक!
ऐ अनन्त के हृत्कंपन!
नव प्रभात के अस्फुट अंकुर!
निद्रा के रहस्य-कानन!
ऐ शाश्वत-स्मिति! ऐ ज्योतित स्मृति!
स्वप्नों के गतिहीन विमान!
गाओ हे, हाँ, व्योम-विटप से,
गाओ खग! निज नीरव गान!
ऐ असंख्य भाग्यों के शासक!
ऐ असीम छवि के सावन!
ऐ अरण्य निशि के आश्वासन!
विश्व-सुकवि के सजग नयन!
ऐ सुदूरता के सम्मोहन!
ऐ निर्जनता के आह्वान!

काल-कुहू; मेरा दुर्गम-मग !
दीपित कर दो, हे द्युतिमान !

नक्षत्रों के मनुष्य से जो भिन्न-भिन्न सम्बन्ध हैं, उनका यहाँ पर द्योतन कर दिया गया है । कुछ कवि ने अपनी कल्पना से भी रच लिये हैं । नक्षत्रों में जो कंपन दिखाई पड़ता है, उसको अनन्त का हृत्कंपन बतला कर सजीवता दे दी है । उनमें मुसकराहट भी है, और वह मुसकराहट ज्योतिर्मयी है । उनकी गति में नियम है, क्रम है, वही उनका नीरव-गान है । ज्योतिष शास्त्र उनको भाग्यों का शासक बताता ही है । रात्रि में वन के विपथ पुरुष के लिए वे सहचर-का-सा आश्वासन देते हैं । अनेक सम्बन्धों में कवि उनको देखता है और उनका कुशलता से वर्णन कर देता है ।

यही चित्रकार से अधिक कवि की विशेषता है । चित्रकार ने जो एक कलम चला दी, उसके ऊपर दूसरी कलम नहीं आ सकती । वह देश-कृत बन्धनों से बँध जाता है । एक देश में दो रेखाओं के लिए स्थान नहीं । कवि के लिए यह बात नहीं, वह परमात्मा की भाँति देश और काल के बन्धनों से परे है । वस्तु अनन्त है, चित्र सांत है; वस्तु घटती-बढ़ती है और चित्र स्थिर रहता है । चित्रकार की इसी कमी को देख कर कविवर बिहारीलाल ने क्या ही सुन्दर और अमर शब्दों में अपने भावों की अभिव्यक्ति की है—

लिखन बैठि जाकी सबिहि, गहि गहि गरब गरूर ।
भये न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ।

चतुर चितेरे बेचारे क्या करें यदि उनका चिर संचित 'गरब गरूर' चूर हो जाता है । यह बात तो चित्र-कला के क्षेत्र से ही बाहर है । कवि भी उसका वर्णन करता है, किंतु वह सिवाय इसके कुछ नहीं कह सकता कि—

अंग अंग छवि की लपट उपटत जाति अछेह ।
खरी पातरी हू मनो लगति भरी सी देह ॥

कवि सौंदर्य की अनंतता को बतला देता है । कवि क्षण-क्षण की नवीनता का द्योतन कर देता है, इसलिए वह चित्रकार से एक कदम आगे अवश्य बढ़ गया है, किन्तु वास्तविकता के वर्णन में वह भी बहुत दूर रह जाता है । नेत्रों

का अवश्य बड़ा महत्त्व है, किंतु सौंदर्य के सागर के अवगाहन करने के लिए नयन भी लघु मान-स्वरूप हैं। वे पार नहीं पा सकते। इसीलिए कवि लोग अपलक-नयन और अनिमेष दृष्टि बतला कर अपना कर्तव्य पालन करते हैं। यदि नेत्र थोड़ा बहुत पार पा भी जावें, तो भी गोस्वामीजी के चिरस्मरणीय शब्दों में यही कहना पड़ता है कि—

'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'।

---

३. समाज पर साहित्य का प्रभाव

मनुष्य मननशील है। मनुष्य शब्द ही इस बात की सब से बड़ी गवाही देता है, क्योंकि यह मन् धातु से, जिसका अर्थ चिन्तन अर्थात् विचार करना है, बना है। विचारशील होने के ही कारण मनुष्य उन्नतिशील है। शेर और हाथी जैसे सहस्रों वर्ष पूर्व रहते थे, वैसे ही अब भी रहते हैं। उनके रहन-सहन में कोई भी अन्तर नहीं पड़ा। यदि थोड़ा-बहुत पड़ा है तो वह मनुष्य के संपर्क से। उसमें उनका कोई श्रेय नहीं। किन्तु मनुष्य में ऐसा नहीं है। उसका शारीरिक विकास यद्यपि बन्द-सा है, तथापि उसका मानसिक और सामाजिक विकास पर्याप्त रूप से चल रहा है। मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में उन्नति कर रहा है। मनुष्य ने प्रकृति का अध्ययन कर उस पर विजय पा ली है। वह उसकी शक्तियों को अपने उपयोग में लाता है। पहले जो भौतिक सुख बादशाहों को नसीब नहीं थे आज सबको सुलभ हो रहे हैं। जो शक्तियाँ बड़ी तपस्या से प्राप्त होती थीं, वे आज पैसा खर्च करने पर ही मिल जाती हैं। पहले ज़माने में जो ज्ञान सौभाग्यशाली जन ही प्राप्त कर सकते थे, आज वह सर्वसाधारण को प्राप्त हो रहा है। इस सब का एकमात्र कारण यही है कि मनुष्य विचारशील है। उन्नति विचार की अनुगामिनी है।

ये विचार किस प्रकार फलवान होते हैं? विचार मानव-मस्तिष्क की अन्धकारमयी कन्दरा में नहीं रहना चाहते। वे सदा प्रकाश चाहते हैं। वे भाषा का परिधान पहन, अथवा यों कहिए की भाषा में मूर्तिमान हो, समाज में आते

हैं और सक्रिय हो समाज की गति-विधि निश्चित करते हैं। भाषा में अवतरित हो विचार अमरत्व प्राप्त कर लेते हैं। उत्तम भाषा में प्रकट किये हुए मानव समाज के उत्तमोत्तम विचार संगृहीत हो कर साहित्य का रूप धारण करते हैं। सहित अर्थात् संग्रह के भाव को ही साहित्य कहते हैं। साहित्य का घेरा बड़ा व्यापक है। धर्म, दर्शन और विज्ञान, काव्य (जिसमें गद्य, पद्य, नाटक, उपन्यास, आख्यायिका सब ही सम्मिलित हैं), इतिहास, राजनीति और अर्थशास्त्र आदि जितना सरस्वती देवी का भंडार है, जितना वाङ्मय है, सब साहित्य के भीतर आ जाता है। संकुचित अर्थ में साहित्य काव्य का पर्याय है।

साहित्य विचारों का समूह है और विचार ही समाज में काम करते हैं। साहित्य का रूप धारण किये हुए विचारों में एक प्रकार की संक्रामकता विशेष रहती है। जहाँ एक विचार प्रकट हुआ, वहीं वह सारे देश में अग्नि की भाँति फैल गया। विचारों की गति और संक्रामकता भाषा पर ही निर्भर है। बिना भाषा के विचार चाहे जितने सुन्दर और मूल्यवान हों, ऊसर में पड़े हुए बीज की भाँति अनुत्पादक होते हैं। भाषा द्वारा ही विचार एक मनुष्य से दूसरे तक पहुँच कर व्यापकता धारण कर लेते हैं। साहित्य के कलेवर में सुरक्षित विचार नये विचारों पर अपना प्रभाव डालते रहते हैं। इस प्रकार विचारों की धारा अविच्छिन्न रूप से बहती रहती है और उसी के साथ मनुष्य उन्नति के मार्ग में अग्रसर होता है। यदि साहित्य न होता तो हमारे विचार बुद्बुद के समान क्षणिक और अस्थायी हो जाते। साहित्य ही विचारों को अमर बना कर उनको गति वा शक्ति देता है। आजकल का संसार विचारों का ही संसार है। जो कोई परिवर्तन वा विप्लव होता है उसका मूल स्रोत किसी विचार-धारा में ही है। वट-बीज के समान विचारों की बड़ी संभावनाएँ हैं। वर्तमान सब राजनीतिक आन्दोलन विचारों के ही फल हैं। साहित्य द्वारा ही हमारा ज्ञान विस्तृत हो कर हमको वर्तमान से असंतुष्ट बनाता है। साहित्य हमारी हीन अवस्था की दूसरों की उन्नत अवस्था से तुलना कर हमारा नेत्रोन्मीलन कर, हममें शक्ति का संचार करता है। वर्तमान निष्क्रिय-प्रतिरोध बौद्धकालीन विचारों एवं टाल्स्टाय के विचारों का फल है। रूसी राजविप्लव वहाँ के साम्यवाद-सम्बन्धी विचारों का ही

परिणाम है। फ्रांस की राज्य-क्रांति वोलतेर और रूसो के विचारों का ही प्रतिबिंब है। नित्शे आदि दार्शनिकों के विचार, जिन्होंने जर्मन जाति में शक्ति की उपासना तथा अपनी सभ्यता के विस्तार के भाव उत्पन्न किये थे, गत महासमर के लिए उत्तरदायी हैं।

जिस प्रकार साहित्य मार-काट और क्रान्ति के लिए उत्तरदायी है उसी प्रकार साहित्य सुख, शान्ति और स्वातन्त्र्य के भावों का भी कारण है। महात्मा तुलसीदासजी के 'रामचरितमानस' ने कितने अन्धकारमय हृदयों को आलोकित नहीं किया, कितने घरों में सन्तोष और शान्ति का सन्देश नहीं पहुँचाया? 'जिन खोजा तिन पाइयाँ' वाले कबीर के उत्साह भरे शब्दों ने कितने हताश पुरुषों में प्राण का संचार नहीं किया? हिन्दू जाति की आध्यात्मिक संस्कृति धर्मभीरुता और अहिंसावाद में भारतीय साहित्य की ही झलक मिलती है। समर्थ रामदास आदि महाराष्ट्र सन्तों के उपदेश और भूषण आदि कवियों की उत्तेजनामयी रचनाएँ महाराष्ट्र के उत्थान में बहुत-कुछ सहायक हुईं। वीर-गाथाओं ने उस काल में वीर भावों का संचार किया। आज कल किसानों की दशा के सुधार की ज़िमींदारी उन्मूलन आदि की जो योजनाएँ चल रही हैं उनका बहुत-कुछ श्रेय मुंशी प्रेमचन्द जी की कहानियों और उपन्यासों को है।

साहित्य हमारे अव्यक्त भावों को व्यक्त कर हमको प्रभावित करता है। हमारे ही विचार साहित्य के रूप में मूर्तिमान हो हमारा नेतृत्व करते हैं। साहित्य ही विचारों की गुप्त शक्ति को केन्द्रस्थ कर उसे कार्यकारिणी बना देता है। साहित्य हमारे देश के भावों को जीवित रख कर हमारे जातीय व्यक्तित्व को स्थिर रखता है। वर्तमान भारतवर्ष में जो परिवर्तन हुआ है और जो धर्म में अश्रद्धा उत्पन्न हुई है वह अधिकांश में विदेशी साहित्य का ही फल है।

साहित्य द्वारा जो समाज में परिवर्तन होता है वह तलवार द्वारा किये हुए परिवर्तन से कहीं अधिक स्थायी होता है। आज हमारे सौन्दर्य-सम्बन्धी विचार, हमारी कला का आदर्श, हमारा शिष्टाचार सब विदेशी साहित्य से प्रभावित हो रहे हैं। रोम ने यूनान पर राजनीतिक विजय प्राप्त की थी, किन्तु यूनान ने अपने साहित्य के द्वारा रोम पर मानसिक विजय प्राप्त कर सारे यूरोप

पर अपने विचारों और संस्कृति की छाप डाल दी। प्राचीन यूनान का सामाजिक संस्थान वहाँ के तत्कालीन साहित्य के प्रभाव को ज्वलन्त रूप से प्रमाणित करता है। यूरोप की जितनी कला है वह प्रायः यूनानी आदर्शों पर ही चल रही है। इन सब बातों के अतिरिक्त हमारा साहित्य हमारे सामने हमारे जीवन को उपस्थित कर हमारे जीवन को सुधारता है। हम एक आदर्श पर चलना सीखते हैं। साहित्य हमारा मनोविनोद कर हमारे जीवन का भार भी हलका करता है। जहाँ साहित्य का अभाव है वहाँ जीवन इतना रम्य नहीं रहता।

साहित्य गुप्त रूप से सामाजिक संगठन और जातीय जीवन का भी वर्धक होता है। हम अपने विचारों को अपनी अमूल्य सम्पत्ति समझते हैं, उनका हम गौरव करते हैं। अपनी किसी सम्मिलित वस्तु पर गौरव करना जातीय जीवन और सामाजिक संगठन का प्राण है। अङ्गरेजों को शेक्सपीअर पर बड़ा भारी गर्व है। एक अङ्गरेज साहित्यिक का कथन है कि वे लोग शेक्स-पीअर पर अपना सारा साम्राज्य न्योछावर कर सकते हैं।

हमारा साहित्य हमको एक-संस्कृति और एक-जातीयता के सूत्र में बाँधता है। जैसा हमारा साहित्य होता है वैसी ही हमारी मनोवृत्तियाँ हो जाती हैं और हमारी मनोवृत्तियों के अनुकूल हमारा कार्य होने लगता है। इसीलिए कहा गया है कि—

निज भाषा उन्नति अहै, सब उन्नति को मूल।

---

४. साहित्य में अपने समय के जातीय भावों की छाप होती है

कवि या लेखक अपने समय का प्रतिनिधि होता है। उसको जैसा मानसिक खाद्य मिल जाता है वैसी ही उसकी कृति होती है। जिस प्रकार बेतार के तार का ग्राहक (Receiver) आकाश-मंडल में विचरती हुई विद्युत्-तरंगों को पकड़ कर उनको भाषित शब्द का आकार देता है, ठीक उसी प्रकार कवि

वा लेखक अपने समय के वायुमंडल में घूमते हुए विचारों को पकड़ कर मुखरित कर देता है। कवि वह बात कहता है जिसका सब लोग अनुभव करते हैं किन्तु जिसको सब लोग कह नहीं सकते। सहृदयता के कारण उसकी अनुभव-शक्ति औरों से बढ़ी-चढ़ी होती है। जहाँ उसको किसी बात की क्षीण से क्षीण रेखा दिखाई पड़ी, वहीं वह उसके आधार पर पूरा चित्र खींच लेता है। प्रायः उसका चित्र ठीक भी उतरता है।

कवि वा लेखकगण अपने समाज के मस्तिष्क और मुख दोनों होते हैं। कवि की पुकार समाज की पुकार होती है। कवि समाज के भावों को व्यक्त कर सजीव और शक्तिशाली बना देता है। कवि की बनाई हुई सामाजिक भावों की मूर्ति समाज की नेत्री बन जाती है। इस प्रकार कवि और लेखक-गण समाज के उन्नायक और इतिहास के विधायक अवश्य होते हैं, किन्तु उनकी भाषा में हमको समाज के भावों की झलक मिलती रहती है। कवि द्वारा हम समाज के हृदय तक पहुँच जाते हैं। केवल इतना ही नहीं, वरन हमको उन परिस्थितियों का भी पता लग जाता है जो समाज को प्रभावित कर वायुमंडल में एक नई लहर उत्पन्न कर देती हैं। समाज के प्रतिनिधि-स्वरूप कवियों और लेखकों के विचार ही संगृहीत हो साहित्य बनाते हैं।

प्रत्येक जाति के साहित्य का एक व्यक्तित्व है। यद्यपि मानव-हृदय एक सा ही है तथापि जाति के साहित्य की विशेषता होती है। केवल इतना ही नहीं वरन एक जाति के ही साहित्य में उसके विकास के अनुकूल समय-समय पर अन्तर पड़ता रहता है। जो त्याग और आत्मा का विस्तार हम उपनिषदों में पाते हैं वह हम अन्य जातियों के धार्मिक साहित्य में नहीं देखते। हमारी विचार-धारा तपोवनों की विचारधारा है। कवीन्द्र रवीन्द्र ने उच्च स्वर से गाया है—'प्रथम सामरव तव तपोवने।' भारत के स्वच्छ, उन्मुक्त, उज्ज्वल, ज्योत्स्नामय तपोवनों ने भारतीय हृदय में जो अनन्तता के भाव उत्पन्न किये थे, उनकी झलक हम को उपनिषद् साहित्य में ही मिलती है। परिस्थितियों के आवर्तन-परिवर्तन, राज्यों के उलट-पुलट और विचारों के संघर्ष के कारण वे भाव दब जाते हैं, किन्तु समय पा कर फिर उदय हो जाते हैं। शेक्सपीअर और कालिदास की तुलना

की जाती है। किन्तु इन महाकवियों की कृतियों में अपने देश की छाप लगी हुई हैं। कर्म और आवागमन के भाव हिन्दू जाति की विशेषताओं में से हैं। कालिदास में इन सिद्धान्तों की झलक समय-समय पर मिलती है; शेक्सपीअर में यह बात नहीं है। देखिए—

कल्याणबुद्धेरथवा तवायं न कामचारी मयि शंकनीयः।
ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः॥
+ + + +
साहं तपः सूर्यनिविष्टदृष्टिरूर्ध्वं प्रसूतेश्चरितुं यतिष्ये।
भूयो यथा मे जननान्तरेऽपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः॥

श्रीसीताजी निर्वासित होने पर भी श्रीलक्ष्मणजी से कहती हैं कि "रामचन्द्रजी के सम्बन्ध में मैं यह शंका भी नहीं कर सकती कि यह काम उन्होंने स्वेच्छाचार से किया, वरन् मेरे ही जन्मान्तर के किये पापों का फल है और मुझको वज्र के समान असह्य हो रहा है"। "जब मैं इस प्रसूतिकार्य से निवृत्त हो जाऊँगी तब सूर्य की ओर दृष्टि लगा कर मैं तप करूँगी और प्रार्थना करूँगी कि जन्मान्तर में भी वे ही पति मिलें और कभी वियोग न हो।" दोनों ही श्लोकों में हिन्दू धर्म में माने हुए सूर्य के तप और आवागमन के सिद्धान्तों की छाप है।

मुसलमानी साहित्य में नाटकों का अभाव उनके मूर्तिपूजाविरोधी विचारों का ही फल है। उनके विचारों में भाग्यवाद अवश्य है किन्तु कर्मवाद नहीं (हिन्दुओं में उनके कर्म ही भाग्य के विधायक माने जाते हैं, मुसलमानों में ईश्वर की मर्जी ही प्रधान मानी गई है)। सम्मिलित परिवार का जैसा चित्र हिन्दू साहित्य में मिलता है वैसा और कहीं नहीं। शेक्सपीअर लाख कोशिश करने पर भी रामचरितमानस की कल्पना नहीं कर सकते थे। इसी प्रकार तुलसीदासजी मिल्टन (Milton) के पैराडाईज़ लौस्ट (Paradise lost) को विचार में भी नहीं ला सकते थे, क्योंकि पैराडाईज़ लौस्ट में ईश्वर के विरुद्ध शैतान की बगावत का वर्णन है। पहले तो हिन्दू साहित्य में ईश्वर की कोई प्रतिद्वन्द्विनी शक्ति है ही नहीं, फिर तुलसीदास जैसे मर्यादावादी अधिकारों के

मानने वाले इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते थे। हिन्दुओं में देवता और दानवों का विरोध रहा है। ईश्वर के साथ भी हिरण्यकशिपु आदि का वैर रहा है, किन्तु न वह शैतान की तरह स्वर्ग में रहता था, और न उसका शैतान का सा व्यापक प्रभाव था। मिल्टन ने जिस समय यह ग्रन्थ लिखा, उस समय इंगलैंड में अधिकारों के खिलाफ आवाज़ उठ रही थी। हमारे यहाँ राजाओं के विरोध में राजा वेणु की कथा अवश्य है; किन्तु वह बड़ा अत्याचारी था। हिन्दू लोग स्वभाव से अधिकारों के मानने वाले होते हैं।

हिन्दू जाति में त्याग और अहिंसा के भावों का प्राधान्य रहा है, इसीलिए यहाँ के साहित्य में मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र, त्यागी बुद्धदेव, सत्यपरायण हरिश्चन्द्र, दानियों में शिरोमणि शिवि और दधीचि के वर्णनों का प्राधान्य रहता है। उर्दू कवियों के प्रेम-वर्णन में जितना हत्याकांड है (सीख और कवाब का वर्णन) उतना हिन्दी कवियों में नहीं। भारत में तो नाटकों में हत्या का दिखाना निषिद्ध माना गया है। भारतवर्ष में घी दूध का बहुत आदर रहा है। यहाँ के देहात्मवादी चार्वाक लोग भी 'ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' ही कहते हैं 'सुरां पिबेत्' नहीं कहते।

पूर्वी देशों में पश्चिम की अपेक्षा अलंकारप्रियता अधिक है। जिस तरह भारतीय नारियाँ आभूषणों को हमेशा पसंद करती आई हैं, वैसे ही कविगण भी कविता को अलंकारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। अतएव जितने भाषा के अलंकार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं। प्रत्येक जाति के भाव, चाहे वे भले हों चाहे बुरे, उसके साहित्य में झलक उठते हैं।

जिस प्रकार हम जातियों के साहित्य में भेद देखते हैं उसी प्रकार हम एक जाति के साहित्य में समय समय की परिस्थितियों के अनुकूल भेद पाते हैं। साहित्य का इतिहास जाति के इतिहास के साथ समानान्तर रेखाओं में चलता है। संत कबीरदास के समय में कविवर बिहारीलाल नहीं हो सकते थे और बिहारी के समय में कबीर का उदय नहीं हो सकता था। भूषण में जो मुसलमानों के प्रति घृणा के भाव मिलते हैं, सूर और तुलसी में नहीं हैं, क्योंकि उनके

समय में मुसलमानी शासकगण हिन्दुओं को अपनाना चाहते थे । उस समय हिन्दुओं में जाग्रति की प्रतिक्रिया का आरम्भ नहीं हुआ था । औरंगजेब के मुसलमानी कट्टरपन ने हिन्दुओं में एक प्रकार की जाग्रति उत्पन्न कर दी थी और महाराज शिवाजी उस जाग्रति के मूर्तिमान स्वरूप थे ।

वर्तमान साहित्य में जो एक अन्तर्वेदना और हृदय की कसक सुनाई पड़ती है, वह जातीय भावों का ही प्रतिबिंब है । जाति में दुःख की समवेदना व्यापक-सी बन गई है और उसी से दुःख का महत्त्व बढ़ गया है । दुःखी का आदर होने लगा है, दुःख पवित्र माना जाता है । दुःख की पवित्र झाँकी आजकल के कवियों में, विशेष कर प्रसादजी, महादेवी वर्मा, भगवतीचरण वर्मा और पन्तजी में, खूब मिलती है । देखिए पन्तजी अश्रुओं के सम्बन्ध में क्या कहते हैं:—

आह, यह मेरा गीला गान
वर्ण वर्ण में उर की कंपन,
शब्द शब्द है सुधि की दंशन,
चरण चरण है आह,
कथा है कण कण करुण अथाह,
बूँद में है बाड़व का दाह!
विरह है अथवा यह वरदान!
कल्पना में है कसकती वेदना,
अश्रु में जीता सिसकता गान है;
शून्य आहों में सुरीले छन्द हैं,
मधुर लय का क्या कहीं अवसान है।

यद्यपि इन कवियों में राष्ट्रीयता व्यक्त नहीं है तथापि यह परिस्थितियों के प्रभाव से खाली नहीं हैं । आजकल जितना साहित्य रचा जा रहा है, वह प्रायः राष्ट्रीय भावों से रंजित है । शृंगारी कवियों के अनुकरण करने वाले रत्नाकर जी में भी राष्ट्रीय भावों की झलक आ जाती है । मैथिलीशरण जी की रचनाएँ इन भावों से ओत-प्रोत हैं । पं० माखनलाल चतुर्वेदी और श्रीमती सुभद्रा-

वह भावों की समता के कारण सारी मानव-जाति को एक परिवार के रूप में देखने लगता है। अच्छे साहित्यिक के लिए कोई जातिभेद नहीं रहता। जो भाव वह कालिदास में देखता है, वही वह शेक्सपीयर में पाता है। वह टैंपेस्ट की एकान्तवासिनी नायिका मिरेंडा में तपोवन-विहारिणी शकुन्तला का रूप देखता है। यदि जातियों के भेद-भाव दूर होने की संभावना है तो साहित्य का उसमें बहुत बड़ा भाग होगा। कवि-सम्राट् रवीन्द्रनाथ टाकुर की विश्वभारती इसी लक्ष्य को सामने रख कर काम कर रही है।

काव्य का अनुशीलन मानव-हृदय को विस्तृत बना देता है। मनुष्य सारे संसार में और सब काल में मानव-हृदय की समस्याओं की एकता पाता है। काव्य के वर्णन देश-काल विशेष से घिरे हुए नहीं होते। शकुन्तला की विदा का दृश्य प्रत्येक गृहस्थ की कन्या के पतिगृह-गमन का दृश्य बन जाता है। मालती और माधव का प्रेम मालती और माधव का प्रेम नहीं रहता, वरन् उस स्थिति के प्रेमी और प्रेमिका मात्र का प्रेम बन जाता है। इसी को काव्य शास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में साधारणीकरण कहते हैं।

सहानुभूति के अतिरिक्त काव्य के अनुशीलन से व्यवहार-कुशलता भी बढ़ जाती है। काव्यों में मानवजाति का अनुभव घनीभूत होकर चिरस्थायी बन जाता है। हम दूसरों की असफलता और सफलता से लाभ उठा सकते हैं। काव्य मानव जाति की सामूहिक स्मृति है। जो स्थान व्यक्ति के जीवन में स्मृति का है वही स्थान समाज के जीवन में काव्य का है। प्राचीनों की सत्कृतियों का स्मरण दिला कर काव्य हमारे हृदय में उत्साह और कर्मण्यता का संचार कर देता है। काव्य हम में आत्मगौरव और स्वाभिमान की उत्पत्ति करता है। काव्य के द्वारा हमें भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न काल के व्यवहारों का ज्ञान होता है, उससे हमको परस्पर व्यवहार में सहायता मिलती है। जो अनुभव मनुष्य अपने व्यक्तिगत जीवन में नहीं प्राप्त कर सकता वह अनुभव उसको नाटक और उपन्यासों से मिल जाता है। वह मानवजाति के मनोविज्ञान को समझने लग जाता है और उसमें कुछ व्यवहार-कुशलता प्राप्त कर लेता है।

काव्य से हमारे भाव और मनोवेगों की शुद्धि, पुष्टि और परिमार्जन होता

है। यदि हमारी भावना-शक्ति को सामग्री न मिले तो उसका ह्रास हो जाता है। प्रत्येक इन्द्रिय और शक्ति को व्यायाम की आवश्यकता है। हमारी भावना शक्ति को काव्य में एक प्रकार का सुलभ व्यायाम मिल जाता है। बिना वास्तविक दुःखों के अनुभव किये दुःख से जो हमारे मन का पवित्री-करण होता है वह सुलभतया प्राप्त हो जाता है। हमारे व्यक्तिगत अनुभव में सब प्रकार के भावों की पुष्टि का अवसर नहीं होता, किन्तु काव्य में सब प्रकार के भावों की पुष्टि हो सकती है। इसके अतिरिक्त काव्य और रीति-ग्रन्थों के पढ़ने से भावों के बाह्य व्यंजकों का भी ज्ञान हो जाता है। हम जानते हैं कि गुस्से में नथुने फूल जाते हैं, मुँह लाल हो जाता है, हाथ काँपने लगते हैं भौंहें चढ़ जाती हैं 'माखे लखन भृकुटि भई टेढ़ी'। हम इन चिह्नों को देख लेने से मानव-हृदय के आन्तरिक भावों के समझने की पटुता प्राप्त कर लेते हैं और क्रोध के अवसर को बचा कर अपना काम निकाल सकते हैं। आकृति के परिवर्तनों द्वारा मानवीय भावों के जान लेने का विज्ञान हमारी समझ में आ जाता है और अपने भाइयों से व्यवहार करने में कुशलता प्राप्त कर लेते हैं। इसके अतिरिक्त हमको शब्दों का ठीक प्रयोग भी आ जाता है। हमको ज्ञात हो जाता है कि कैसे समय में कैसे शब्दों का व्यवहार करना चाहिए। कहाँ हास्य या व्यंग्य से काम लेना चाहिए और कहाँ गांभीर्य से।

समाज में बहुत से लड़ाई झगड़े अपने भावों को पूर्णतया व्यक्त न कर सकने के कारण अथवा दूसरों के भावों को न समझने के कारण होते हैं। काव्य के अनुशीलन से इन दोनों बातों में सुलभता प्राप्त हो जाती है। एक मित्र के भ्रम को दूर कर देना सहज कार्य नहीं। बात के हेर-फेर के कारण ही बहुत से समझौते रुके रहते हैं। काव्य का अनुशीलन करने वाला शब्दों की शक्ति को जानता है। वह यह भी जानता है कि कौन अर्थ किस शब्द से समझा जा सकता है। वह दूसरों की बात को भी भली प्रकार समझ सकता है, क्योंकि उसका मानव-हृदय से परिचय रहता है। वह अपने को दूसरे की स्थिति में रख सकता है। उसका दृष्टिकोण विस्तृत हो जाता है, क्योंकि वह जानता है कि एक वस्तु कई दृष्टियों से देखी जा सकती है।

कुमारी चौहान की कविता में राष्ट्रीय भेरी-नाद सुनाई पड़ता है। राष्ट्रीय आन्दोलन के साथ राष्ट्रीय भावों की बाढ़ आई थी। उपन्यासों और आख्यायिकाओं में भी उसकी छाप थी। रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'गोरा' नामक उपन्यास का नायक गौरमोहन भी स्वेच्छा से जेल जाने में अपना गौरव समझता है। मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास 'रंगभूमि' में आधुनिक राजनीतिक युद्ध का सजीव प्रदर्शन है और 'प्रेमाश्रम' के उपन्यास-पट पर सामने तो १६२१ के भारतीय समाज का स्पष्ट चित्र है और पीछे किसी भावी भारत की छाया है। आजकल के हरिजन-आन्दोलन की ध्वनि भी भारतीय साहित्य में गूँजने लगी है। युद्धकाल में जो साहित्य रचा गया उसमें, विशेषकर कहानियों में, देश-भक्ति और वीरता की छाप है। युद्ध की शान्तिमयी प्रतिक्रिया भी हम श्रीसियारामशरणजी के 'उन्मुक्त' और डाक्टर बलदेवप्रसाद मिश्र के 'साकेत-संत' में देखते हैं। युद्धकालीन कंट्रोलों आदि का उल्लेख कम से कम हास्यप्रधान साहित्य में, जैसे व्यास जी की कविताओं में, होने लगा है। आजकल के उपन्यासों में बदले हुए नैतिक मान-दण्डों की झलक है, और राहुलजी, अंचलजी, यशपालजी प्रभृति लेखकों के उपन्यासों में साम्यवादी दृष्टिकोण का प्रतिपादन हुआ है। सारांश यह है कि साहित्य की गति से हम देश की गति को जान सकते हैं। जातीय साहित्य किसी देश अथवा जाति के तात्कालिक भावों का दर्पण है, उस काल के जातीय भावों का प्रतिबिंब-स्वरूप है।

---

५. गद्य और पद्य का सापेक्षित महत्त्व

साहित्य के दो मुख्य आकार हैं। एक गद्यात्मक और दूसरा पद्यात्मक। जो बोल-चाल की भाषा में लिखा जावे, और जिसमें वाक्यों की कोई नापतोल तथा शब्दों और वाक्यों का कोई क्रम निश्चित न हो, वह गद्यात्मक कहलाता है और जहाँ वाक्यों की नापतोल हो और वर्ण किसी क्रम वा नियम के अनुकूल एक विशेष बहाव वा गति के साथ चलते हों, वहाँ साहित्य का आकार पद्यात्मक होता है। प्रायः सभी देशों में, विशेष कर भारतवर्ष में, कालक्रम से पद्य का

स्थान पहला है। पहलेपहल हृदय का हर्षोल्लास वा शोकोद्वेग एक संगीतमयी भाषा में प्रस्फुटित हो उठता है। भारतवर्ष में वेदों के अतिरिक्त जो काव्य का उदय हुआ है वह भी शोकोद्वेग के ही कारण हुआ है। क्रौंचों की जोड़ी में से एक का वध देख कर महर्षि वाल्मीकिजी के हृदयगत भाव निम्नलिखित श्लोक में उमड़ पड़े थे—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत्क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इसी का स्वर्गीय सत्यनारायणजी ने इस प्रकार पद्यानुवाद किया है—

रति-विलास की चाह सों, मदमाती सानन्द।
क्रौंचन की जोड़ी फिरत, विहरत जो स्वच्छन्द ॥
हनि तिन में सों एक को, कियो परम अपराध।
जुग जुग लों तोहि न मिलहि, कबहुँ बड़ाई व्याध ॥

मनुष्य के मानसिक विकास में भावों का उदय पहले होता है, विवेचना पीछे आती है। आजकल जीवन की प्रतिद्वन्द्विता के बढ़ जाने से भावों का प्राबल्य कम होता जाता है। पहले पेट भरने की सूझती है, पीछे और कुछ। प्रत्येक वस्तु का मूल्य आना पाई में आँका जाता है। भावों की तुष्टि के लिए और मान-मर्यादा की रक्षा के अर्थ अब लोग सहज में जीवन का बलिदान नहीं कर देते और न लोगों को हृदय की भावनाओं की ओर ध्यान देने को अधिक अवकाश ही है। इसीलिए अब पद्य के स्थान में गद्य अपना आधिपत्य जमाता जा रहा है।

पहले से परिस्थिति में एक बात का और भी अन्तर हो गया है। पहले ज़माने में लेखन-सामग्री की न्यूनता और प्रेस के अभाव के कारण साहित्य की रक्षा उसको मुखस्थ रखने में ही थी—भारतवर्ष में ज्ञान या तो सूत्रों में आबद्ध कर कंठस्थ किया जाता था या छन्दोबद्ध करके। ज्योतिष, वैद्यक, दर्शन, इतिहास, पुराण सभी ग्रन्थ पद्य में लिखे जाते थे, क्योंकि वर्णों की नियमित आवृत्ति और शब्दों का गतिमय प्रवाह उनको कंठस्थ रखने में विशेष सहायक होता था। पद्य में शब्दों की अविकल रूप से रक्षा हो सकती थी। पद्य में जो शब्द जहाँ रक्खा

गया है, वहीं रह सकता है और उसका पर्याय भी काम नहीं देता। पद्य में आबद्ध कंठस्थ ज्ञान प्राचीन-काल के लोगों को पठन-पाठन और वाद-विवाद में विशेष सहायक होता था और उसका भरोसा रहता था। पुस्तकस्थ विद्या का इतना महत्त्व नहीं था, क्योंकि कभी कभी कार्य पड़ने पर पुस्तक नहीं मिलती थी।

पुस्तकस्था तु या विद्या परहस्ते गतं धनम्।
कार्य-काले समुत्पन्ने न सा विद्या न तद्धनम्॥

अब यह परिस्थिति बदल गई है। अब कम से कम केवल आकार के लिए पद्य का लिखा जाना नितान्त आवश्यक नहीं रहा। यद्यपि अब गद्य का युग है तथापि साहित्य गद्य और पद्य दोनों ही में लिखा जाता है क्योंकि दोनों ही में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। दोनों ही का सापेक्षित महत्त्व है।

गद्य युक्तिवाद और दुकानदारी की भाषा है। यद्यपि गद्य में भी भाषा के सौष्ठव का ध्यान रखना पड़ता है तथापि भाषा विचार की आवश्यकताओं के अधीन रहती है, भाषा के लिए विचारों का संकोच नहीं किया जाता। गद्य में भाषा की नाप तोल नहीं रहती, विचारों की आवश्यकता के अनुकूल उसमें संकोच और विस्तार के लिए गुंजायश रहती है। आकार के लिए शब्द का रूप भी नहीं बदलना पड़ता और न अपने चुने हुए उपयुक्त शब्दों का परित्याग करना पड़ता है। भावों की अभिव्यक्ति के लिए हमको जैसे शब्दों की आवश्यकता होती है वैसे ही शब्द रख सकते हैं।

इन बातों के अतिरिक्त कुछ विषय ऐसे हैं जो गद्य के लिए विशेष रूप से उपयुक्त हैं। भाषा भावों का परिधान (पोशाक) स्वरूप मानी गई है। प्रत्येक अवसर पर एक ही पोशाक काम नहीं देती। फुटबाल की पोशाक भोजन के समय काम नहीं देती। मनुष्य के कार्य और पेशे के साथ भी पोशाक बदलती है। जज की पोशाक पहन कर लोहार लोहे को ठोक-पीट नहीं सकता और लोहार की पोशाक जज को शोभा नहीं देती। मल्लाह की पोशाक प्रोफेसर के उपयुक्त नहीं होती और न प्रोफेसर का लंबा गाउन मल्लाह के काम में आ सकता है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न कार्यों के लिए गद्य और पद्य की भाषा का प्रयोग किया जाता है। पद्य में शुष्क नीरस बातों का लिखा जाना शोभा नहीं देता। केवल

तुक मिलाना पद्य नहीं है। साधारण बात को पद्य में कहना हास्यास्पद हो जाता है। श्री अन्नपूर्णानन्द-रचित 'महाकवि चच्चा' में ऐसे पद्य-भक्तों की खूब हँसी उड़ाई गई है। बिल्ली पंडित जी के पालतू तोते को ले जाती है और पंडित जी अपने नौकर को पद्य में बुलाते हैं—

अरे पनरुआ दौड़ बिलरिया ले गई सुग्गा।
तू मन मारे खड़ा निहारे जैसे भुग्गा॥

राजनीतिक कार्यों में जहाँ उत्तेजना देनी हो वहाँ तो पद्य का प्रयोग उपयुक्त होता है, किन्तु जहाँ गणना-चक्रों के आधार पर किसी बात को प्रमाणित करना हो, या मान-चित्र दिखा कर किसी गाँव की सीमा निश्चित करनी हो, अथवा किसी को फाँसी की आज्ञा देनी हो, वहाँ पद्य का प्रयोग हास्यास्पद हो जावेगा। इसी लिए आजकल नाटकों में पद्य का प्रयोग कम होता है। अब पद्यमयी भाषा राजाओं और मन्त्रियों की स्वाभाविक भाषा नहीं समझी जाती। आजकल की व्यवस्थापिका सभाओं में गद्य ही बोला जावेगा, पद्य के उद्धरण चाहे दे दिये जायँ। कानून गद्य में ही बनाया जावेगा क्योंकि पद्य की अपेक्षा गद्य की भाषा निश्चित समझी जाती है। उसमें यह विश्वास रहता है कि जिन शब्दों का प्रयोग किया गया है, विचार के अनुरोध से किया गया है, छन्द की गति वा लय की आवश्यकता से नहीं। गद्य में व्याकरण के नियमों का पूरी तौर से पालन किया जाता है, पद्य में वैसा पालन नहीं हो सकता। पर इसका यह अर्थ नहीं कि पद्य में व्याकरण की हत्या की जाती है। व्याकरण-विरुद्ध होना च्युतिसंस्कृति दोष माना जाता है। खड़ी बोली की कविता में शब्दों की तोड़-मरोड़ भी नहीं की जाती।

वैज्ञानिक विषयों के लिए भी गद्य ही उपयुक्त भाषा है; क्योंकि विज्ञान में अलंकारों की आवश्यकता नहीं। वैज्ञानिक ध्रुव सत्य—घोर कठोर सत्य—चाहता है; जिसके लिए प्रिय और अप्रिय का प्रश्न नहीं। वह एक शब्द भी कम या ज़्यादा नहीं चाहता। विज्ञान की शोभा सरसता में नहीं है यथार्थता में है, और यथार्थता की रक्षा जैसी गद्य में हो सकती है वैसी पद्य में नहीं।

यद्यपि साधारण जीवन की आवश्यकताओं के लिए गद्य ही उपयुक्त

भाषा है तथापि मनुष्य का जीवन भोजन-सामग्री जुटाने में ही संकुचित नहीं। उसके जीवन में कला और सौंदर्य का भी स्थान है। गद्य का युग होते हुए भी भावों का नितान्त ह्रास नहीं हो गया है। हमारे जीवन में थोड़ी सरसता आवश्यक है। नीरस जीवन असह्य हो जाता है। सौन्दर्य और सरसता के लिए पद्य आवश्यक है। गीत वैज्ञानिक गद्य में नहीं रक्खा जा सकता। रात्रि की निस्तब्धता में नदी तट से गाया हुआ मधुर संगीत अब भी लोगों के हृदय को आकर्षित कर लेता है। विवाहादि के निमंत्रणों में पद्य अब भी गौरव की भाषा समझी जाती है। पद्य के बिना धर्म का बहुत-सा सामाजिक भाग अपूर्ण-सा रहता । पद्य के नपे-तुले वाक्य, वृत्तों का सरस बहाव, हमारे मन में एक अपूर्व साम्य और आनन्द की उत्पत्ति कर देता है, जो गद्य में कठिनाई के साथ आ सकता है। पद्य में भाव और भाषा की एकाकारिता हो जाती है। हमारे भाव जैसे उमड़ कर बाहर आना चाहते हैं, वैसे ही सरिता की भाँति हमारी भाषा भी बहने लगती है। गीत-लहरी में हृदय की गति का स्पन्दन प्रतिबिम्बित होने लगता है। कोमल भाव कोमल-कान्त-पदावली चाहते हैं। शब्दों की ध्वनि, बिना अर्थ-बोध के ही परिस्थिति के अनुकूल हमारे मन में भाव उत्पन्न कर देती है। मस्तिष्क का भार हलका हो जाता है। वीर रस के भावों की भाषा ओजपूर्ण होती है और शृंगार की माधुर्यमयी। इन्हीं रसों के अनुकूल कोमला और परुषा वृत्तियों के अल्प और अधिक प्रयास वाले वर्ण रहते हैं।

कविता के वृत्तों में एक अपूर्व साम्य रहता है, जो हमारे मन में तदनुकूल साम्य की जाग्रति कर देता है। वृत्त द्वारा अनेकता में एकता स्थापित हो जाती है, क्योंकि अक्षर-भेद होते हुए भी उनकी संख्या, उनकी मात्राएँ, उनके गुरु लघु होने का क्रम, विशेष कर अन्त्यानुप्रास में, एक सा रहता है (अतुकान्त कविता या मुक्त छंद की दूसरी बात है। किन्तु उसमें भी संगीत की ताल और लय रहती है।) हमारे मुख को उच्चारण में और कानों को श्रवण में एक विशेष सुख मिलता है। हमारा मन भी उस बहाव में पड़ जाता है और उस बहाव के अनुकूल शब्दों की एक सी आवृत्ति में एक अपूर्व आनन्द का अनुभव होने लगता है। थोड़ी देर के लिए जीवन का भार हलका हो

जाता है। कविता का बाह्य और आन्तरिक सौन्दर्य मिल कर हमारे मन में सौन्दर्य की एक भावना जागरित कर रस की उत्पत्ति कर देता है। वह एक लोकोत्तर आनन्द का विधायक बन हमारे जीवन के संकुचित बन्धनों को शिथिल कर देता है और हम काव्य के स्वर्ग में विहार करने लग जाते हैं। जो लोग अपने जीवन को सरस और जीवन योग्य बनाना चाहते हैं उनको कविता का भी अनुशीलन करना आवश्यक है।

सारांश यह है कि भौतिक आवश्यकताओं का प्रकाश तथा शुष्क वैज्ञानिक विषयों पर विचार गद्य में ही प्रकट किये जा सकते हैं, परन्तु मानसिक लोकोत्तर आनन्द और जीवन की सरसता पद्य से ही सुलभतया प्राप्त हो सकती है। गद्य यथार्थवाद के अधिक उपयुक्त है और पद्य आदर्शवाद के। गद्य विचारों की भाषा है तो पद्य भावों की और जिस प्रकार हमारे उन्नति-विधान में विचार और भावों का सहयोग रहता है उसी प्रकार हमारे साहित्य में गद्य और पद्य का स्थान है।

---

६. सत्यं शिवं सुन्दरम्

किसी वस्तु के प्रचार पा जाने पर लोग उसकी उत्पत्ति वा इतिहास के संबंध में प्रायः उदासीन हो जाते हैं। नवीनता ही कौतूहल उत्पन्न करती है। जिससे घनिष्टता हो जाती है, उसके कुल और जाति की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' आजकल कला और साहित्य के क्षेत्र में आदर्श-वाक्य-सा बन गया है। सब लोग इसी की दुहाई देते हैं और इसको वेद-वाक्य नहीं तो उपनिषद्-वाक्य अवश्य समझते हैं, क्योंकि इसका प्रचार अधिकतर ब्रह्म समाज से ही हुआ है। वास्तव में यह यूनानी दार्शनिक अफ्लातून (Plato) के 'The True, The Good, The Beautiful' का अनुवाद है। अनुवाद इतना सुन्दर और फबता हुआ है कि यह वाक्य हमारे यहाँ की देशी भाषाओं में घुल-मिल गया है। वास्तव में बात यह है कि विचार-क्षेत्र में, देशी-विदेशी का झगड़ा नहीं रहता। उसमें विश्वात्मकता रहती है।

भारतवर्ष के लिए यह विचार नितान्त नवीन भी नहीं है । सत्य और आनन्द का तो समन्वय सच्चिदानन्द में ही होता है । शिवं सुन्दरं का भाव हमको किरातार्जुनीय आदि काव्यों और नीति ग्रन्थों में मिलता है; 'हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः' । भगवान कृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में वाणी के रूप को बतलाते हुए सत्यं प्रियं और हितं तीन विशेषणों का प्रयोग किया है, 'अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत्' । यही हमारे यहाँ सत्यं शिवं और सुन्दरम् का रूप है । हितं शिवं का पर्याय है और प्रियं सुन्दरम् का । गोस्वामी तुलसीदासजी ने भी साहित्य में हित को प्राधान्य दिया है; देखिए—

'कीरति भणित भूति भलि सोई ।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई ॥

कुछ लोगों ने साहित्य की व्युत्पत्ति 'सहित के भाव' (हितेन सह सहितं, तस्य भावः साहित्यं) अर्थात् 'हित के साथ होने के भाव' से की है और काव्य में जो रस या आनन्द का प्राधान्य है वह सुन्दर का रूपान्तर है । सत्य और सौंदर्य का समन्वय करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र 'दादू' नामक बँगला ग्रन्थ की भूमिका में कहते हैं—"सत्य की पूजा सौंदर्य में है । विष्णु की पूजा नारद की वीणा में है ।" साहित्य और कला की अधिष्ठात्री देवी हंस-वाहिनी-शारदा का शृंगार बिना वीणा के पूरा नहीं होता, इसीलिए उसके स्तवन में उन्हें 'वीणापुस्तक-धारिणी' कहा है । नीर-क्षीर-विवेकी हंस सत्य का प्रतीक है । वीणा में सौन्दर्य-भावना की प्रतिष्ठा है । काव्य के उद्देश्यों में 'सद्यः परनिर्वृत्तये' (तुरन्त उत्कृष्ट आनन्द देना) के साथ 'शिवेतरक्षतये' (अमंगल का नाश) और 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' (प्रिया का सा मधुर उपदेश) में हित और सौंदर्य दोनों ही बातें आ जाती हैं । 'सत्यं शिवं सुन्दरं' की उत्पत्ति चाहे जिस देश और काल में हुई हो, उसमें हमें एक सत्य के दर्शन होते हैं ।

सत्यं शिवं सुन्दरं विज्ञान, धर्म और काव्य के परस्पर संबंध का सूत्र है । विज्ञान केवल सत्य की ओर जाता है । शिवं उसके लिए गौण है और सुन्दरं उसकी उपेक्षा की वस्तु है । विज्ञान में सत्य के आगे शिवं और सुन्दरं को दब जाना पड़ता है । वैज्ञानिक नग्न सत्य का, वह चाहे जितना भयावह

क्यों न हो, एकान्त उपासक है। वह 'बावन तोले पाव रत्ती' सत्य चाहता है। उसके लिए बीभत्सता कुछ अर्थ नहीं रखती। उसने केवल 'सत्यं ब्रूयात्' पढ़ा है; 'प्रियं ब्रूयात्' को वह नहीं जानता। आलंकारिकता यदि सत्य के स्वरूप को रेखा मात्र भी बिगाड़ दे तो उसके लिए वह दोषी हो जाती है। वह सत्य के रूप और प्राण दोनों की रक्षा करता है।

धार्मिक शिवं की ओर जाता है। शिवं में ही उसके लिए सत्य की प्रतिष्ठा है। वह लक्ष्मी का मांगलिक घटों से अभिषेक कराता है; क्योंकि जल जीवन है, कृषि का प्राण है, मानव-मांगल्य का संकेत है। जिस प्रकार सरस्वती में सत्यं और सुन्दरं का समन्वय है उसी प्रकार लक्ष्मी में शिवं और सुन्दरं का सम्मिश्रण है। शिव कल्याण या हित करने वाले के नाते ही महादेव कहलाते हैं। वेदों में 'शिवसङ्कल्पमस्तु' का पाठ पढ़ाया जाता है। धार्मिक कोरे सत्य का उपासक नहीं, उसके लिए सत्य मांगलिक रूप धारण करता है। धार्मिक इहलोक की ही रक्षा नहीं करता, वरन् परलोक की भी चिंता करता है। वह आत्मा को परम श्रेयस् की ओर ले जाता है।

साहित्यिक सत्यं शिवं सुन्दरं तीनों की उपासना करता हुआ सुन्दरं को प्राधान्य देता है। वह 'सत्यं ब्रूयात्, प्रियं ब्रूयात्, मा ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का पाठ पढ़ाता है। वह हित को मनोहर रूप देता है और सच्चिदानन्द के रूप में सत्, चित्, आनन्द तीनों का आदर करता हुआ रस वा आनन्द को अपना जीवन प्राण समझता है। उसके हृदय में रसात्मक वाक्य का ही मान है।

साहित्यिक के लिए सत्यं शिवं सुन्दरं में एक-एक विचार की यथाक्रम महत्ता बढ़ती गई है। अब हमको यह देखना है कि वह इन विचारों की किस रूप में पूजा करता है। वह सत्यं को वैज्ञानिक की भाँति अपना धर्म नहीं मानता। वह सत्यं के बाह्य रूप की परवाह नहीं करता, वरन् सत्य की आत्मा की रक्षा करता है। वह शाब्दिक सत्य की रक्षा के लिए उत्सुक नहीं रहता, घटना के सत्य को वह अपनाना अवश्य चाहता है; किन्तु उसे सुन्दरं के शासन में रखना उसको अभीष्ट है। गोस्वामी तुलसीदासजी लक्ष्मण को शक्ति लगने पर मर्यादा पुरुषोत्तम राम से विलाप में कहलाते हैं 'निज जननी के एक कुमारा', 'मिलहि

न जगत सहोदर भ्राता', 'पिता बचन मनतौं नहिं ओहू'। इनमें कोई भी वाक्य इतिहास की कसौटी पर कसने से ठीक नहीं उतरता, किन्तु काव्य में इनका महत्त्व वास्तविक सत्य से भी अधिक है। इनके द्वारा श्रीरामजी के हृदय का भाव स्वयं मुखरित हो उठता है। राम का शोकावेग तथा उनके भाई के प्रति भाव और लक्ष्मण के महत्त्व की अभिव्यंजना करने के लिए इससे अच्छा साधन न था।

इंगलैंड के अमर कवि शेक्सपीअर की 'डेज़डीमौना' मिथ्याभाषण में ही अपने हृदय के सत्य का उद्घाटन करती है। वह अपने भाई से यह कह कर कि मैंने स्वयं अपने को मार डाला है अपने दाम्पत्य प्रेम का परिचय देती है।

कभी-कभी काव्य के लिए सत्य मिथ्या का रूप धारण कर 'सुन्दरम्' का मान रखता है। जिस प्रकार गोस्वामी तुलसीदास अपनी अनन्यता में 'तुलसी मस्तक तब नवै धनुष बाण लेहु हाथ' कह कर कृष्ण को राम के रूप में देखना चाहते थे, उसी प्रकार कवि 'सत्य' को भी 'सुन्दरम्' के रूप में देखना अपना ध्येय मानता है। इसमें सत्य की अप्रतिष्ठा नहीं। वह सत्य की अवहेलना नहीं करता, वरन् उसको ग्राह्य रूप में देखना पसन्द करता है। ग्राह्य रूप देने की प्रक्रिया में सत्य की यदि कुछ काट-छाँट हो जाय तो वह अपने आदर्श की पूर्ति के अर्थ सत्य की उतनी हानि को शिरोधार्य समझेगा। कवि यद्यपि स्वतंत्र है, तथापि वह सत्य की नितान्त अवहेलना नहीं कर सकता। उसकी कल्पना से रचे हुए महल चाहे हवाई किले कहलावें किन्तु उनकी आधार-शिला दृढ वास्तविकता में ही रहती है। वह सत्यं को सुन्दरं का रूप देने में सीमा से बाहर नहीं जाता। मूल घटना का वह आदर करता है, किन्तु उसकी व्याख्या और कारणों में अन्तर करने की स्वतंत्रता रखता है। यह केवल इसलिए कि उसके द्वारा वह सैद्धान्तिक सत्य का उद्घाटन करना चाहता है। 'शकुन्तला' में अँगूठी और शाप की कथा कवि-कल्पना है। किन्तु उससे इस सत्य की रक्षा होती है कि दुष्यन्त का सा प्रेमी हृदय बिना किसी दैवी कारण के अपनी प्रियतमा की केवल लोकापवाद के राजनीतिक कारणों से अवहेलना नहीं कर सकता। कवि लोग मुँह में सोना डाल कर नहीं बैठते। वे विश्वामित्र

की सी नई सृष्टि रचने में भी संकोच नहीं करेंगे; किन्तु वे संगति और संभाव्य का अवश्य ध्यान रक्खेंगे। वे कल्पना के घोड़े को अज्ञात के क्षेत्र में भी दौड़ायेंगे पर वे उसका सदा संगति की लगाम से नियन्त्रण करते रहेंगे।

यद्यपि आजकल कलावाद अर्थात् कला कला के लिए ही है (Art for art's sake) की झोंक में कुछ कविगण सत्यं और शिवं की अवहेलना कर कहते हैं कि काव्य का नीति से कोई संबंध नहीं, तथापि यह बात जनता को मान्य नहीं हुई। जनता सुन्दरं की उपासक है, किन्तु सुन्दरं को सत्यं और शिवं के अलंकारों से अलंकृत देखना चाहती है। यह बात ठीक है कि सुन्दरं किसी दूसरे के शासन में नहीं रह सकता और उस पर उसके ही नियम लागू होंगे तथापि वह मनुष्यों की मनोवृत्तियों में विद्रोह नहीं उत्पन्न करेगा। साम्य ही सुन्दरं का मुख्य लक्षण है। नीति की रक्षा में सुन्दरं की भी रक्षा है। गङ्गाजल की भाँति काव्य में पवित्रता और प्यास बुझाने तथा नीरोगता प्रदान करने का गुण एक साथ होना चाहिए। सत्काव्य माता के दूध की भाँति तुष्टि और पुष्टि दोनों का विधायक और प्रेम का प्रतीक होता है।

काव्य के उद्देश्य में कहा गया है कि काव्य का उपदेश प्रिया के उपदेश का सा माधुर्य-मंडित होता है। यदि कविवर बिहारीलाल मिर्जा राजा जयशाह को लट्ठमार उपदेश देते तो शायद वे उपदेश देने में असफल तो रहते ही, दरबार से भी अनादर के साथ निकाले जाते। किन्तु उनके 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु, नहिं विकास इहि काल" वाले दोहे ने जादू का काम किया। साहित्य सुन्दरं को इसीलिए प्राधान्य देता है कि कला में विचार के साथ प्रेषणीयता (Communicability) का भी भाव लगा रहता है। कवि अपने भाव को संसार तक पहुँचाना चाहता है। उसके पास लोगों के हृदय-द्वार खोलने के लिए सौंदर्य की ही कुंजी है। वह सौंदर्य का आवेष्टन चढ़ा कर कटु से कटु सत्य को ग्राह्य बना देता है। रवि बाबू की 'चित्रांगदा' की भाँति कवि की वाणी सौंदर्य के प्रभाव से मानव रूपी अर्जुन के हृदय में प्रवेश कर उसको अपने गुणों से मुग्ध कर लेती है। इसलिए कवि सौंदर्य का उपासक है। सौंदर्य में साम्य और समन्वय की भावना निहित रहती है। सौंदर्य के

साम्य में सत्य और शिव दोनों का सन्निवेश है। सौंदर्य जितना ही सत्याश्रित और मङ्गलमय होता है उतना ही वह दिव्य कहलाता है। सत्य, शिव और सुन्दर के इसी समन्वय के कारण काव्य देवत्व से प्रतिष्ठित हो कर ब्रह्मानन्द सहोदर रस का स्रष्टा और प्रसारक होता है।

---

७. कला कला के लिए अथवा जीवन के लिए

यद्यपि हमारे यहाँ निष्कामता की महिमा गाई गई है और काव्य की सृष्टि भी 'स्वान्तः सुखाय' हुई है तथापि यह मानना पड़ेगा कि व्यवहार में कोई काम निष्प्रयोजन नहीं होता। 'प्रयोजनमनुद्दिश्य मूढोऽपि न प्रवर्तते'। हमारे यहाँ मम्मट आदि आचार्यों ने काव्य के हेतु बतलाये हैं और यूरोप के विद्वानों ने भी कला के प्रयोजन की विवेचना की है। कुछ लोग तो कला को नीति, उपयोगिता आदि प्रयोजनों के परे बतला कर कला कला के अर्थ (Art for art's sake) की दुहाई देते हैं और कुछ लोग उसे जीवन के अर्थ बतलाते हैं। कला के और कई प्रयोजन माने गये हैं। जैसे कला जीवन से पलायन के लिए, कला जीवन में प्रवेश के लिए, कला मन बहलाने के लिए, कला सृजन की आवश्यकता-पूर्ति के लिए, कला प्रसन्नता के लिए, आदि। किंतु वे सब इन दो प्रमुख वादों से सम्बन्ध रखते हैं और उनके अन्तर्गत किये जा सकते हैं।

कला कला के लिए इस वाद का जन्म फ्रांस में हुआ। वाल्टर पेटर, ओस्कर वाइल्ड आदि इसके प्रमुख समर्थक हैं। आजकल ब्रेडले साहब इसका पक्ष ले रहे हैं। इसके मानने वालों का कथन है कि कला का प्रयोजन उसकी उपयोगिता में नहीं है और उसका मूल्य आर्थिक या नैतिक मान से निश्चित करना उसके साथ अन्याय करना है। कला के परे और किसी बाह्य वस्तु को उसका प्रयोजन रूप से नियामक मानना उसके स्वायत्त शासन में अविश्वास प्रकट करना है और उसको स्वाधीनता के स्वर्ग से घसीट कर पराधीनता के अन्धकारतम गर्त में ढकेलना है। जब शव-परीक्षा करते हुए आन्तरिक

अवयवों की दुर्गन्ध-पूर्ण बीभत्सता के उद्घाटन के लिए यमराज सहोदर नहीं गृद्धराज सहोदर डाक्टरों को और कोयले के रूप में प्रस्तरीभूत कालिमा का भक्षण कर अजस्र धूम्र वमन करने वाली मिलों के कर्ण-कुहर-भेदी कर्कश-नाद के विस्तारक और प्रचारक वैज्ञानिक आविष्कारकों और मिल-मालिकों को सौन्दर्य-बोध और संवेदनशीलता प्राप्त करने के लिए कलाविदों की चटसाल में नहीं भेजा जाता तो बिचारे कलाकार पर धर्म और नीति का अंकुश क्यों ? 'निरंकुशा हि कवयः ।' कला की मनोमुग्धकारिणी सुन्दरता ही उसकी चरम उपयोगिता है ।

ऐसी ही विचारधारा का पोषण करते हुए आस्कर वाइल्ड ने (Oscar Wilde), जिन्होंने खुद अपनी कृतियों में सदाचार की अवहेलना की है, कहा है 'समालोचना में सबसे पहली बात यह है कि समालोचक को यह परख हो कि कला और आचार के क्षेत्र पृथक्-पृथक् हैं ।' जे. ई. स्पिनगार्न (J. E Spingarn) ने इसी बात को कुछ हास्योत्तेजक रूप दिया है । उनका कथन कुछ कुछ इस प्रकार का है कि शुद्ध काव्य के भीतर सदाचार या दुराचार ढूँढना ऐसा ही है जैसा कि रेखागणित में समत्रिकोण त्रिभुज को सदाचारपूर्ण कहना और समद्विबाहु त्रिभुज को दुराचारपूर्ण कहना । जिस प्रकार पुल बनाने वाले इंजीनियर से इस बात की अपेक्षा करना कि उसके द्वारा एसप्रांटों (यूरोप की प्रस्तावित एक सार्वजनिक भाषा) का प्रचार हो सकेगा या नहीं या किसी रसोइए से यह पूछना कि वह गोभी का शाक बनाने के साथ बीजगणित या त्रिकोणमिति के सवाल निकाल सकता है अथवा अर्थशास्त्र वा भौतिक शास्त्र के किसी नियम की व्यख्या करने में समर्थ है, असंगत होगा, उसी प्रकार कलाकार से यह अपेक्षा करना कि वह नीति और सदाचार का प्रचार करेगा असंगत और तर्कविरुद्ध होगा ।

जो लोग कलावाद के पक्ष में ऐसी युक्तियाँ पेश करते हैं वे भूल जाते हैं कि इंजीनियर और रसोइए के क्षेत्र सीमित हैं । कला का सम्बन्ध मनुष्य के पूर्ण जीवन से है । किसी मनुष्य, संस्था वा सिद्धान्त का प्रभाव जितना व्यापक होगा उतना ही उसको दूसरों के साथ साम्य और समन्वय की भावना रखनी पड़ेगी । 'सर्वे पदा हस्तिपदे निमग्नाः' हाथी के पैर में सब के पैर समा जाते हैं । कला को

केवल कला के लिए मानने वाले उसका क्षेत्र सीमित करके उसको अपने उच्च सिंहासन से घसीटने का प्रयत्न करते हैं और अपने को नादान दोस्त की संज्ञा में रखते हैं। कला का सम्बन्ध जब मनुष्य के पूर्ण जीवन से है तब वह नीति, सदाचार और उपयोगिता की अवहेलना नहीं करती।

हमारे हिन्दी लेखकों पर भी इस मत का प्रभाव पड़ा है। श्री इलाचंद्र जोशी इसके प्रमुख समर्थकों में से हैं। इन्होंने एक जगह कहा है कि विश्व की इस अनन्त सृष्टि की तरह कला भी आनन्द का ही प्रकाश है। उसके भीतर नीति अथवा शिक्षा का स्थान नहीं। उसके माया-चक्र से हमारे हृदय की तंत्री आनन्द की झंकार से बज उठती है, यही हमारे लिए परम लाभ है। उच्च अंग की कला के भीतर किसी तत्त्व की खोज करना सौन्दर्य देवी के मन्दिर को कलुषित करना है। डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी इसी सम्प्रदाय के हैं, किन्तु उनके विचार बड़े संयत हैं। वे कला को प्रयोजन से परे मानते हुए भी उसे मंगलमय देखना चाहते हैं। सौन्दर्य-मूर्ति ही मंगल की पूर्ण मूर्ति है और मंगल-मूर्ति ही सौन्दर्य का पूर्ण स्वरूप है।"

कलावाद के सम्बन्ध में मूल प्रश्न यह उपस्थित हो जाता है कि कलाकार को तीन लोक से न्यारी किसी काल्पनिक मथुरापुरी में बसना है या उसको इस संघर्षमय संसार में रह कर नागरिक के भी कर्तव्य पालन करना है। इस प्रश्न को ले कर प्रोफेसर ए. सी. ब्रेडले (A. C. Bradley) ने 'काव्य-काव्य के लिए' शीर्षक अपने एक लेख में यह माना है कि शुद्ध कला के दृष्टिकोण से कला के मूल्य को कला के ही माप दण्ड से, जो सौन्दर्य का है, नापना चाहिए। लेकिन नागरिक के दृष्टिकोण से आवश्यक नहीं कि कलाकार की सभी कृतियाँ प्रकाश में आयें। ब्रेडले साहब ने इस सम्बन्ध में यह बतलाया है कि रूजेटी (Rossetti) ने अपनी एक कविता को जिसे परम मर्यादावादी टेनीसन ने भी पसन्द किया था, लोक-मर्यादा के भंग होने के भय से प्रकाश में नहीं आने दिया। क्रोचे (Croce) का भी करीब-करीब ऐसा ही मत है। उसका कथन है कि कला, जिसका मूल अभिव्यक्ति में है, कलाकार के मन में ही रूप धारण कर लेती है। कलाकार के मन में उत्पन्न होने वाला रूप ही सच्ची

कला है । वह नीति, सदाचार और उपयोगिता के नियंत्रण से परे है किन्तु जब वह कलाकृति (Work of art) के रूप में कलाकार के लिए स्थूल रूप धारण करती है तब वह नीति के शासन में आ जाती है ।

भारतीय लोकमत कला और नीति के विच्छेद के विरुद्ध है । कालिदास का कुमारसम्भव शुद्ध कला की दृष्टि से बड़ी ऊँची कृति है किन्तु आचार की दृष्टि से शंकायोग्य है । इसीलिए लोगों का विश्वास है कि कालिदास को शिव-पार्वती का शृङ्गार वर्णन करने के कारण कुष्ठ हो गया था । भारतीय लोकमत ने इस दैवी निर्णय पर अपने अनुमोदन की मुहर लगाई है । यद्यपि भारतीय साहित्य शास्त्र में अश्लीलता और ग्रामीणता को जो दोष माना है उसका सम्बन्ध अधिकतर शब्दों से है तथापि इन दोषों के मानने से यह विदित होता है कि उन आचार्यों का ध्यान इस प्रश्न की ओर गया था और वे कला का नीति से विच्छेद करने के पक्ष में न थे । आजकल यह प्रश्न कुछ व्यावहारिक होता जा रहा है । कुछ लोग तो नीति और आचार की धुन में बिहारी सतसई जैसे उच्च काव्य ग्रन्थ को समुद्र में डुबा देना चाहते हैं और कुछ लोग ऐसे सदाशय लोगों की हँसी उड़ाते हुए उद्दाम शृङ्गार के वर्णन करने वाले ग्रन्थों की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं । यद्यपि नीति और सदाचार का दिखावा करना उतना ही बुरा है जितना कि अवहेलना करना, फिर भी यह कहना पड़ेगा कि नीति और मर्यादा की उपेक्षा नहीं की जा सकती और इस सम्बन्ध में भी बीच के मार्ग का अनुसरण करना उचित होगा । अभिव्यञ्जनावाद (Expressio-nism) के नाम पर, जो काव्य की वस्तु को गौण रख कर शैली ही को मुख्यता देता है, अथवा यथार्थवाद की झोंक में, जो बुरे और भले दोनों का मिश्रण करना अपना कर्तव्य समझता है, अनीति और वासनाओं के उत्तेजक साहित्य को आश्रय नहीं दिया जा सकता ।

काव्य के लिए वस्तु और आकार दोनों ही महत्त्व रखते हैं । वस्तु के बिना आकार खोखला है और सुन्दर आकार के बिना वस्तु श्रीहीन रह कर अपने उचित मूल्य से वञ्चित रहती है । मनुष्य के लिए जिस प्रकार अन्तर और बाह्य सौन्दर्य दोनों ही अपेक्षित हैं उसी प्रकार काव्य के लिए विषय और

शैली दोनों का ही सौन्दर्य आवश्यक है और सच्चा सौंदर्य वही है जिसका मंगल से समन्वय हो। यूरोप में भी रस्किन, टालस्टाय, आइ. ए. रिचर्ड्स आदि शैली के साथ वस्तु को महत्ता देते हुए कला और सदाचार का समन्वय चाहते हैं। वह अभिव्यञ्जना सच्ची अभिव्यञ्जना नहीं है जो वस्तु की अवहेलना करती हुई विषभरे कनक घट के समान केवल शैली को महत्त्व दे और सारहीन साहित्य की पोषक बने। बिना पौष्टिक भोजन के मेज के हिम-धवल आवरण, परिशुद्ध भोजन-पात्र और चमचमाते छुरी काँटे आदि खाने के उपकरण व्यर्थ हैं।

मेथ्यू आर्नल्ड ने काव्य को जीवन की आलोचना कहा है। यह आलोचना जीवन से बाहर की वस्तु नहीं। काव्य जीवन का आत्मचिन्तनमय मुखरित रूप है। उसमें पोषक सामग्री के आत्मसात् करने, बढ़ने तथा सञ्चालन की शक्तियाँ, जो जीवन के प्रधान लक्षणों में मानी जाती हैं, वर्तमान रहती हैं। जीवन की रक्षा और अभिवृद्धि उस आत्म-चिन्तन का व्यावहारिक रूप है। जीवन नहीं तो आलोचना किस की? और फिर उसकी आलोचना का भी कुछ लक्ष्य होना चाहिए। वह आलोचना भी उसकी शोभा-सम्पन्नता और सार्थकता बढ़ाने के लिए ही है। काव्य और साहित्य जीवन की गतिविधि का अध्ययन करा कर उसको मङ्गलमय बनाने में सहायक होता है। मम्मटाचार्य ने जो काव्य के हेतु बतलाये हैं वे पूर्णतया जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। उन्होंने काव्य का निर्माण यश के अर्थ (यशसे), धन के लिए (अर्थकृते), व्यवहार जानने के लिए (व्यवहारविदे), अमङ्गल के नाश के लिए (शिवेतरक्षतये), तुरन्त आनन्द देने के लिए (सद्यः परनिर्वृत्तये) और प्रेयसी का सा मधुर उपदेश देने के लिए (कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे) बतलाया है।

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मितयोपदेशयुजे ॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के आचार्यों ने व्यवहार-ज्ञान, अमंगल नाश (उस समय तो अमङ्गल का नाश प्रायः देवताओं के स्तोत्र बना कर होता था किन्तु आज-कल वही काम वीरों के स्तवन से हो सकता है)

और मधुर उपदेश को काव्य के क्षेत्र से बाहर नहीं माना। कुछ लोगों का कहना है कि हम उपदेश के लिए काव्य क्यों पढ़ें, उपदेश ही ग्रहण करना है तो धर्मशास्त्र और आचारशास्त्र का क्यों न अध्ययन करें? इसीलिए आचार्यों ने उसके साथ 'कान्ता-सम्मिततयोपदेशयुजे' का विशेषण लगा दिया है। काव्य का उपदेश कान्ता का सा मधुर और प्रेमपूर्ण होता है। बिहारी के एक दोहे ने जो काम कर दिखाया वह सैकड़ों सूखे उपदेश नहीं कर सकते थे। काव्य केवल काम का ही साधक नहीं वरन् धर्म अर्थ काम और मोक्ष चारों का विधायक है।

'धर्मार्थकाममोक्षाणां वैचक्षण्यं कलासु च
करोति प्रीतिं कीर्तिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्।' —भामह

हमारे देश में प्राचीन काल से ही काव्य का जीवन से सम्बन्ध रहा है। भारतीय परम्परा में तो काव्य का जन्म ही लोकहिताय हुआ है। महर्षि वाल्मीकि का करुणापूर्ण हृदय क्रौञ्चवध के दृश्य से द्रवित हो कर रामायण की सुरसरिता के रूप में बह निकला था। तभी तो ध्वन्यालोक में कहा है 'क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' क्रौञ्च के जोड़े के विच्छेद से उठा हुआ शोक श्लोक बन गया। भारतीय विचारधारा में काव्य सदा लोकहित से समन्वित रहता है। हमारे देश का काव्य साहित्य लोकपक्ष को ले कर अग्रसर हुआ है। रघुवंश आदि महाकाव्य सर्वभूतहित को ही उद्देश्य कर लिखे गये थे। हिन्दी का वीर-गाथा काव्य यद्यपि अधिकांश में आश्रयदाताओं का यशोगान है (उसमें आपस की मारकाट को आश्रय मिला है) फिर भी उसका जीवन से सम्पर्क होने के कारण वह लोकहित से सम्बद्ध है। उन काव्यों में नीति को भी प्रमुख स्थान मिला है। भक्ति-काल की सभी रचनाओं में इस पृथ्वी की पावनी गंध मिलती है। ज्ञानाश्रयी शाखा में हिन्दू-मुसलिम एकता और साधारण धर्मनीति का प्रबल पक्ष है। प्रेममार्गी शाखा भी अपने लोक-पक्ष से अछूती नहीं है। तुलसी में तो लोक-संग्रह का भाव कूट-कूट कर भरा है। उनकी नीति ने शक्ति-समन्वित शील और मानवता के भावों का विस्तार किया है। यद्यपि उन्होंने अपना राम-चरित-मानस 'स्वान्तः सुखाय' लिखा है तथापि वे उसी काव्य को

श्रेष्ठ मानते हैं जो सुरसरिता की भाँति सबके लिए हितकर हो—

कीरति भणित भूति भलि सोई।
सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

महात्मा सूरदास ने यद्यपि नीति की अवहेलना की है तथापि उन्होंने बाल्य और यौवन सम्बन्धी जीवन के मधुमय पक्षों की ओर ध्यान आकर्षित कर जीवन के प्रति आस्था बढ़ाई है। रीति-काव्य विशेष रूप से कलापक्ष की ओर ही अधिक झुका है किन्तु उसमें भी लाल, सूदन, भूषण आदि ने देश और जाति-हित से प्रेरित हो कर लिखा है।

वर्तमान काल का उदय ही लोक-पक्ष को ले कर हुआ। हरिश्चन्द्र युग में देशोद्धार की भैरवी का मन्द स्वर सुनाई पड़ा था। द्विवेदी युग में गुप्तजी और उपाध्यायजी ने राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति में भी देश-सेवा की भावना भर दी। गुप्तजी के साकेत के राम देवताओं के हित के लिए नहीं वरन् आर्यों के आदर्श को फैलाने के लिए अवतरित हुए। उन्होंने पृथ्वी को ही स्वर्ग बनाया। गुप्तजी श्रीरामजी द्वारा घन की अपेक्षा जन को महत्ता दिला कर प्रगति के अग्र-दूत बने हैं। मुंशी प्रेमचन्द ने तो भूखे किसानों की जी खोल कर वकालत की है। छायावाद में 'तज कोलाहल की अवनी' का पलायनवाद (Escapism) रहा है किन्तु उसके दुःखवाद में लोक-करुणा की क्षीण छाया अवश्य है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी छायावादी कवियों ने लोकहित के प्रवृत्ति-मार्ग को अपनाया है। 'कामायनी' मनु की जीवन से उदासीनता छुड़ाती है। पंतजी बंधन को ही मुक्ति मानते हैं। प्रगतिवाद तो लोक-हित का बीड़ा उठा कर ही आया है किंतु उसका दृष्टिकोण कुछ संकुचित और अधिक संघर्षमय है। फिर भी उसने हमारे कवियों में से पलायनवृत्ति को हटाने में बहुत कुछ सहायता दी है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि कला और काव्य का ध्येय आदि काल से मानव-हित ही रहा है। कवि लोग जीवन से चाहे जितना दूर भाग कर स्वप्न-लोक में विचरण करें किन्तु भौतिक आवश्यकताओं का तिरस्कार नहीं कर सकते। पलायनवाद भी यदि थके हुए सैनिक को किसी एकांत सौरभमय काव्यो-द्यान में क्षणिक विश्राम दे कर जीवन-संग्राम के लिए तैयार करावे तो वह लोक-

पक्ष का साधक ही होगा, बाधक नहीं।

सच्ची कला और कविता जीवन का तिरस्कार नहीं कर सकती। जीवन के बाहर उसको स्थान कहाँ? मनुष्य अपने जीते जी 'कोलाहल की अवनी' छोड़ कर उससे बाहर नहीं जा सकता। चिर शान्ति मृत्यु का ही पर्याय है। कलावाद और पलायनवाद में जो सत्य है वह यह कि मनुष्य के लिए क्षुधा और पिपासा की शान्ति सब कुछ नहीं है। 'Man does not live by bread alone' अर्थात् मनुष्य केवल रोटी ही से नहीं जीता है। उसके जीवन को सरस और जीवन योग्य बनाने के लिए सौंदर्य और रागात्मकता भी अपेक्षित हैं, किन्तु यह भी ध्रुव सत्य है कि मनुष्य रोटी के बिना भी नहीं जी सकता।

'कला कला के लिए है' यह वाद सौंदर्य को महत्ता देता है किंतु सौंदर्य की सार्थकता जीवन से है और जीवन की सार्थकता उसको सुसम्पन्न सतत प्रयत्नशील और चिरमङ्गलमय बनाने में है। जो कला आन्तरिक और बाह्य सौंदर्य का सम्पादन कर जीवन को सार्थकता प्रदान करने में सहायक होती है, वही जन समाज में मान पायगी।

कलावाद के पक्ष में इतना अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि कलाकार को किसी प्रोपेगैंडा का साधन बनने के लिए बाध्य करना कला की हत्या करना होगा। कलाकार अपनी स्फूर्ति और स्वेच्छा से ही जीवन का हित-साधन कर सकता है। वह यद्यपि अर्थ के प्रयोजन से परे नहीं हो सकता फिर भी अर्थ उसका मुख्य ध्येय नहीं होना चाहिए। आर्थिक लोभ के कारण कला को विकृत करना उसे आदर्श से गिरना होगा। सौंदर्य कलाकार का मुख्य ध्येय है किन्तु नीति, आचार और उपयोगिता को अपना कर उसको सुसम्पन्नता प्रदान करना भी उसके पुनीत कर्तव्यों में है। सौंदर्य को मङ्गलमय बनाना उसकी प्राणप्रतिष्ठा करना है। यह प्राण-प्रतिष्ठा दक्षिणा के लिए नहीं होनी चाहिए वरन् श्रद्धा-भक्ति से प्रेरित हो कर सच्चा दाक्षिण्य प्राप्त करने के हेतु। कलाकार को प्रयत्नशील होना वाञ्छनीय है। श्रेय और प्रेय का समन्वय ही सच्ची कला है।

---

८. 'एको रसः करुण एव'

रस नौ माने गये हैं किन्तु मनुष्य की आत्मा स्वभाव से एकीकरण की ओर अग्रसर होती है। अनेकता के मूल में जब तक वह एकता के दर्शन न कर ले तब तक उसको सन्तोष नहीं होता। इसी नैसर्गिक प्रवृत्ति से प्रेरित हो आचार्यों ने रसों में एकता स्थापित करने का उद्योग किया है। शास्त्रों में शृङ्गार को रसराज तो कहा ही है; हिन्दी के आचार्य कवि देव ने तो उसे सब रसों का मूल माना है—

निर्मल सुद्ध सिंगाररसु देव अकास अनन्त।
उड़ि उड़ि खग ज्यों और रस बिबस न पावत अंत॥

महामति धर्मदत्तजी ने अद्भुतरस को मूल रस के स्थान में प्रतिष्ठित किया है। उनका कथन है—

रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥

आचार्य शुक्लजी ने सूक्ति और अद्भुत रस का अन्तर बतला कर इस मत का खण्डन अवश्य किया है और वास्तव में सूक्तियाँ (जैसे—किसी रमणी को रोते हुए देख कर यदि कोई कवि कहे कि कमल नदी में उत्पन्न होता है किन्तु यहाँ कमलों से दो नदियाँ बहती हैं) अद्भुत रस की उदाहरण नहीं बन सकतीं, फिर भी यह कथन सत्य के अंश से खाली नहीं है; क्योंकि प्रत्येक रस में कुछ अलौकिकता और उदात्त भावना रहती है। इसी प्रकार शान्त के समर्थक मुनीन्द्र का कथन है 'सर्वेषु भावेषु शमः प्रधानः'। भवभूति ने करुण रस को ही शीर्षस्थान का अधिकारी समझा है और उन्होंने सब रसों को उसी प्रकार करुण रस का रूपान्तर बतलाया है जिस प्रकार आवर्त, बुद्बुद और तरङ्ग जल के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। उनके मूल श्लोक का कविवर सत्यनारायण जी कृत भाषा-अनुवाद इस प्रकार है—

एक करुण ही मुख्य रस, निमित भेद सों सोइ।
पृथक पृथक परिणाम में, भासत बहु बिधि होइ॥

बुद्बुद भँवर तरंग जिमि, होत प्रतीत अनेक।
पै यथार्थ में सबनि कौ, हेतु रूप जल एक॥

कविवर भवभूति ने अपनी मान्यता के अनुसार ही अपने उत्तररामचरित में करुण रस को (उसके व्यापक अर्थ में) मुख्यता दी और अन्य रसों का उसके सहारे अङ्ग रूप से वर्णन किया। करुण रस में विशेषता प्राप्त करने के ही कारण उसके सम्बन्ध में कहा गया है कि उनकी लेखनी के चमत्कार के कारण पत्थर रो उठता है और वज्र का हृदय पिघल जाता है; 'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'; और इसी हेतु उनकी कविता देवी भारती का शृङ्गार बनी।

प्रायः सभी देशों और कालों में करुणा का प्राधान्य रहा है। भारतवर्ष में तो काव्य का उद्गम ही करुणा के गम्भीर स्रोत से हुआ है। महर्षि वाल्मीकि का करुणा-कलित कोमल हृदय काम-विह्वल क्रौञ्च के जोड़े में से एक के नृशंस वध के कारण पिघल कर काव्य के रूप में बह उठा था—'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः'। शोकावेश-वश ऋषि के मुख से जो पहला श्लोक निकला था उसका भाषानुवाद इस प्रकार है:—

रति-विलास की चाह सों, मदमाती सानन्द।
क्रौंचन की जोड़ी फिरत बिहरत जो स्वच्छन्द॥
हनि तिन में सों एक को कियो परम अपराध।
जुग-जुग लौं तोहि न मिलहि, कबहुँ बड़ाई व्याध॥

जिस करुणा में वाल्मीकीय रामायण का उदय हुआ है उसका अन्तःस्रोत विजयोल्लास के भीतर भी बहता हुआ परिलक्षित होता है। राम-वनवास, सीता-हरण, लक्ष्मणजी का शक्ति से आहत होना, वैसे ही सीता-परित्याग आदि सभी मार्मिक प्रसङ्ग करुणा की स्निग्ध धारा से रसार्द्र हैं। महाभारत में यद्यपि रण-क्षेत्र का भैरव-गर्जन सुनाई पड़ता है तथापि उसमें विजित और विजेताओं की उभयपक्षी करुणा का साम्राज्य है। वीरवर अर्जुन के हृदय की मानवी कोमलता का स्रोत भगवान कृष्ण के कर्तव्योपदेश की सिकता के आवरण से सूखा नहीं। धर्मराज युधिष्ठिर और उनके भाई उस

रुधिरप्रदग्ध साम्राज्य का उपभोग न कर सके। महाभारत का अन्त पाण्डवों के शरीरपात में ही होता है।

यूनान के महाकाव्य इलियड और उडेसी में भी यही बात है। वहाँ के सोफोक्लीज़, युरिपिडस आदि प्रमुख कवियों की प्रतिभा दुःखांत नाटकों के लिखने में ही अधिक रमी। महाकवि कालिदास की शकुन्तला यद्यपि सुखान्त है तथापि उसमें शापवश पतिपरित्यक्ता नारी-हृदय की गर्वमयी वेदना से भरे एक दीर्घ निःश्वास का उष्ण स्पर्श मिलता है। भवभूति की कविता तो पत्थर को पिघलाने वाली करुणा के ही कारण संस्कृत साहित्य की विभूति बनी है। शेक्सपीअर के ओथेलो, हैमलेट आदि नाटकों में मानव-हृदय की विषादमयी छाया गहरी हो कर दिखाई पड़ती है। ग्येटे, डांटे आदि यूरोप के प्रमुख कवि अपनी आन्तरिक वेदना के कारण, जो उनके काव्य में प्रस्फुटित हुई है, विश्व-ख्याति के भाजन बने हैं।

हिन्दी साहित्य-गगन के रवि और शशि सूर और तुलसी की कविता करुणा से ओत-प्रोत है। सूर का गोपी-विरह वियोग शृङ्गार का अमूल्यतम रत्न है। 'सँदेसो देवकी सों कहियो', 'बिनु गोपाल बैरिन भई कुञ्जैं', 'नाथ अनाथिन की सुधि लीजै', 'निसि-दिन बरसत नैन हमारे' आदि पद किसी भी साहित्य को गौरव-प्रदान कर सकते हैं। तुलसी ने अपने काव्य में वाल्मीकि की करुणा को पूर्णतया अवतारित किया है। 'कोमल चित कृपालु रघुराई, कपि केहि हेतु धरी निठुराई' में सीता का हृदय बोलता हुआ सुनाई पड़ता है।

हिन्दी की आधुनिक काव्य-धारा में दुःखवाद का गहरा पुट है। प्रसाद जी के मस्तिष्क की घनीभूत पीड़ा आँसू के रूप में बरसी है। पंतजी मेघ मारुत के मायाजाल से घिरे हुए विश्व के निष्ठुर परिवर्तन से प्रभावित हो कर कुछ उन्मत्त हो जाते हैं और उनकी वैयक्तिक करुणा शोषित-पीड़ित मानवता के पक्ष-समर्थन में अपने को भूल जाती है। महादेवी वर्मा तो 'नीर भरी दुख की बदरी' बन कर दुख के आँसू बहाने में ही सुख का अनुभव किया करती हैं। साकेत, प्रिय-प्रवास और कामायनी, जो आधुनिक युग के महाकाव्य कहे जा सकते हैं, वियोग के आँसुओं से गीले हो रहे हैं।

दुःख का साम्राज्य जैसा साहित्य में है वैसा ही धर्म में भी है। हिन्दू धर्म यद्यपि आनन्द-प्रधान है तथापि उसकी संस्कृति के रक्षक और परिचायक रामायण और महाभारत आदि गौरव-ग्रन्थ करुणा में आप्लावित हैं। भगवान कृष्ण दुःखार्तों की पीड़ा का नाश करना स्वर्ग और अपवर्ग से भी अधिक वांछनीय समझते हैं। बौद्ध धर्म ने तो संसार के दुःखों को ही अपनी आधार-शिला बनाया है। ईसाई धर्म उसके आराध्य देव के शूली पर चढ़ाये जाने के कारण करुणाप्रधान है। मुसलमान धर्म को भी कर्बला की घटना विषाद-मय बना देती है। उसका प्रभाव हमारे राष्ट्रीय कवि श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त पर गहरा पड़ा है। उन के काबा और कर्बला नाम के काव्य में हम हज़रत हुसैन की श्लाघनीय कष्ट-सहिष्णुता का परिचय पाते हैं। जब वे अपने विद्रोहियों से अपने तृषार्त भतीजे के सम्बन्ध में निम्नलिखित वाक्य कहते हैं तब करुणा स्वयं मुखरित सी हो उठती है—

निज हिंसा को, लो, हुसैन का मांस खिलाओ,
मेरे रुधिर-पिपासु ! इसे तो नीर पिलाओ।

कारुण्य का यह साम्राज्य हम एक आकस्मिक घटना के रूप में नहीं ले सकते। इसका कोई आन्तरिक कारण भी खोजना होगा। संसार में सुख-दुख का द्वन्द्व तो चलता ही रहता है, किन्तु सुख की अपेक्षा दुःख का अधिक महत्त्व है। दुख के बिना सुख नीरस हो जाता है। दुख के कारण ही सुख की महत्ता है। अमिश्रित सुख हमारे मन में ऊबन उत्पन्न कर देता है। सुख से हम को संतोष और प्रसन्नता अवश्य होती है, किंतु साथ ही मद और विलासिता भी उत्पन्न होती है। दुख में हमारे हृदय के कोमल भाव जाग्रत हो उठते हैं। हम अपने को तो अपना समझते ही हैं किंतु किसी अंश में पराये के प्रति भी हम में आत्मीयता के भाव उत्पन्न हो जाते हैं। द्रौपदी ने भगवान कृष्ण से कहा था कि आपत्तियाँ बार-बार आयँ क्योंकि आपत्तियों में उनके दर्शन होते हैं। वास्तव में दुख हम को सात्विकता और सन्मार्ग की ओर अग्रसर करता है। दुख के द्वारा हमारे हृदय की कोमलता ही निखार में नहीं आती वरन् हम में धैर्य की भावना भी पुष्ट होती है। उससे हम अपने

हितू और मित्रों के अधिक निकट आ जाते हैं। 'संपति से विपदा भली जो थोड़े दिन होय'। दुख चाहे अपने को हो चाहे दूसरे को उसका आत्मा पर बड़ा सात्विक प्रभाव पड़ता है। यदि वह हम को होता है तब तो वह हमको अपनी न्यूनताओं की खोज में प्रवृत्त कर हममें पश्चात्ताप और सुधार की भावना जाग्रत करता है। इसके साथ उससे हम में धैर्य और कष्ट-सहिष्णुता की मात्रा बढ़ती है। दुख अगर दूसरे को हो तब हममें सहानुभूति की भावना उत्पन्न होती है।

दुख की सहानुभूति ही करुणा को मुख्यता प्रदान करती है। करुणा वास्तव में दूसरों के प्रति होती है। करुणा के कारण हम उस उच्च भाव भूमि में पहुँच जाते हैं जो कि रस-निष्पत्ति के लिए आवश्यक होती है। रसानुभूति के लिए मनुष्य को व्यक्ति के संकुचित कटघरे से बाहर निकल कर उस लोक-सामान्य भावभूमि में पहुँचना पड़ता है जहाँ वह अपने अनुभव को संसार के अनुभ से मिला देता है। भाव की अभिव्यक्ति के लिए अनुभूति से अधिक सहानुभूति की आवश्यकता है। इसी सहानुभूति को पारिमार्जित करने तथा परिपक्वता प्रदान करने के हेतु करुण रस को मुख्यता दी गई है। करुणा में हमारी आत्मा वास्तविक रूप से विस्तारोन्मुख होती है; जिसके प्रति हमारी करुणा जाग्रत होती है उसको हम अपना ही अंग मानने लगते हैं। आत्मा के इस विस्तार से हमको वास्तविक आनन्द मिलता है। यही आनन्द रस का मूल है। हमारे यहाँ काव्य की आत्मा रस को माना है जो स्वयं आनन्द-स्वरूप है। करुणा का दुख अपनी सात्विकता तथा आत्मा के विस्तार के कारण आनन्द का विधायक होता है। करुणा का हास्य के सिवाय प्रायः सभी रसों के साथ मेल हो जाता है, इससे उसकी व्यापकता भी बढ़ी चढ़ी है। करुणा माधुर्य को बढ़ाती ही नहीं वरन् वह स्वयं माधुर्यमयी है। Our sweetest songs are those that tell of the saddest thoughts। दुःख की महत्ता के कारण ही करुणा की महत्ता है।

करुण रस की महत्ता अवश्य बहुत बढ़ी-चढ़ी है किन्तु हम को उसे अपने जीवन का अन्तिम लक्ष्य न समझना चाहिए। जिस प्रकार अमिश्रित

सुख ऊब पैदा करता है उसी प्रकार अमिश्रित दुख असह्य भार बन जाता है। हमारे जीवन का पट सुख-दुख के ताने-बाने से बना हुआ है। उसमें दोनों का ही महत्त्व है। करुणा के पुट से सुख उभार में आता है किन्तु यदि निरा पुट ही पुट हो और रंग का अभाव हो तो उस पुट का भी कुछ मूल्य नहीं रहता। इसीलिए हमारे यहाँ नाटकों को दुःखान्त न बना कर करुणात्मक ही कहा है।

हमारे कवियों ने हम को दुःख के गम्भीर गर्त में नहीं छोड़ा है वरन् उसके मङ्गलमय पक्ष की ओर भी संकेत किया है। दुःख हमारे सुख विधान में सहायक होता है और हमारी मनोवृत्तियों को परिमार्जित कर कोमलता प्रदान करता है। करुणा हम को मनुष्यत्व से उठा कर देवत्व की ओर ले जाती है। किन्तु संसार में केवल करुणा ही करुणा नहीं है। जीवन में रुदन के साथ मुसकान भी है। जीवन में धूप और छाँह दोनों ही अपना-अपना स्थान रखती हैं।

---

९. सामाजिक उन्नति में दृश्य काव्य तथा सिनेमा का स्थान

'लोकोपदेशजननं नाट्यमेतद् भविष्यति' —नाट्य शास्त्र

काव्य के दो विभाग किये गये हैं--एक श्रव्य, दूसरा दृश्य। श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य काव्य की कुछ विशेषताएँ हैं। श्रव्य काव्य में शब्दों के माध्यम द्वारा समाज का चित्र उपस्थित किया जाता है। उसमें शब्द ही कल्पना को जाग्रत कर हमारे मानस पटल पर चित्र अंकित करते हैं। ये चित्र कभी धुँधले और कभी स्पष्ट और कभी-कभी अतिरंजित भी हो जाते हैं। इन चित्रों की अस्पष्टता पाठक व श्रोता के संस्कारों तथा सहानुभूति पर निर्भर रहती है। पाठक के थके हुए या व्यस्त होने के कारण कभी-कभी उसकी कल्पना के कुंठित हो जाने का भय रहता है। ऐसी अवस्था में काव्य अपने को आकर्षक नहीं बना सकता।

दृश्य काव्य में उपर्युक्त कठिनाइयाँ न्यूनातिन्यून रूप में रह जाती हैं। नाटक में, तथा आजकल के उसके प्रतिनिधि सिनेमा में, वास्तविकता ा सजीव

चित्र हमारे सामने आता है। हमारे सामने केवल शब्द ही नहीं आते वरन् उसके साथ उनके बोलने वाले की भावभंगी की व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ भी रहती हैं। नाटक में जीवन की प्रति-लिपि उतार ली जाती है। उसमें सिनेमा की अपेक्षा भी अधिक वास्तविकता रहती है। क्योंकि भाव-व्यंजना के माध्यम केवल शब्द और चित्र न रह कर जीते-जागते मनुष्य हो जाते हैं और कल्पना को अधिक परिश्रम नहीं करना पड़ता। हमारे मन का आकर्षण जितना वास्तविक घटना से होता है उतना ही नाटक या सिनेमा से। श्रव्य काव्य के लिए मन को एक साम्यावस्था में लाना पड़ता है। दृश्य काव्य स्वयं ही इस अवस्था को प्राप्त करा देता है। इसी कारण भरत मुनि ने नाटक-रूप पाँचवें वेद का निर्माण किया जिसमें कि शूद्रों तथा अशिक्षितों को भी अधिकार रहे और उनकी कल्पना को परिश्रम न करना पड़े तथा मनोरंजन के साथ शिक्षा भी हो जाय। मर्त्यलोक के दुःख ही को देख कर नाट्य-वेद की कल्पना की गई थी।

नाटक का प्रभाव हृदय पर स्थायी होता है। यदि हम किसी बच्चे के मोटर से दब कर मरने का वृत्तान्त पढ़ें तो हमारी सहानुभूति अवश्य जाग्रत होगी; किन्तु यदि इसी को हम रंगमंच पर घटित होते देखें तो उसका प्रभाव देर तक रहेगा। हम सत्य के लिए शहीदों के बलिदान की कथा पढ़ते हैं, किन्तु यदि हम प्रह्लाद को पहाड़ से गिरते हुए देखें, खुदा की बादशाहत को जमीन पर लाने वाले ईसा और 'अनलहक' कहने वाले मंसूर को सूली पर लटका देखें, हकीकतराय का वध होते अवलोकन करें, तो हम पर कुछ और ही प्रभाव पड़ेगा। नरोत्तमदास का सुदामा-चरित्र बड़ी सुन्दर कविता है; किन्तु हमारे सामने विप्र सुदामा अपने फटे हाल में उपस्थित हो जायँ और हम उस समय की राजनीति के सूत्रधार भगवान कृष्ण को उनके चरणों को प्रत्यक्ष रूप से धोते देखें तो उसका प्रभाव 'पानि परात को हाथ छुओ नहिं नैनन के जल सों पग धोये' से भी अधिक पड़ेगा। महाराणा प्रताप की कथा हम पढ़ते हैं, किन्तु यदि हम प्रताप को अपने सामने रंगमंच पर देखें तो धैर्य, सहन-शीलता और वीरता की त्रिवेणी हमारे सामने बहने लगेगी।

यदि हम अत्याचारियों का अत्याचार स्टेज पर घटित होते देख लें तो

उनके प्रति घृणा और पीड़ित के प्रति सहानुभूति जाग्रत हो उठेगी। यूनान और रोम में रंगमंच ही बहुत अंश में राजनीतिक मंच का काम देता था। हमारे यहाँ बड़े-बड़े उत्सवों पर दर्शकों के मनोविनोद और उनकी शिक्षा के लिए नाटक खेले जाते थे।

नाटक में वीर-चरित्रों के अभिनय से बालकों में वीरता के भावों का संचार होता है। युधिष्ठिर, राम और हरिश्चन्द्र जैसे सत्य-संध महात्माओं के अनुकरण से हमारे हृदय में सत्य की प्रतिष्ठा होती है। मोरध्वज, शिवि, दधीचि, बुद्ध और जीमूतवाहन आदि चरित्रों के दर्शन से हममें त्याग की भावना जाग्रत होती है।

ऐतिहासिक नाटकों तथा सिनेमा फिल्मों में भूतकाल हमारे लिए वर्तमान का रूप धारण कर लेता है और उसका चित्र हमारे मन पर अंकित हो जाता है। फिर हमको इतिहास की शुष्क भाषा की तोतारटंत की आवश्यकता नहीं रहती।

समाज-सुधार के सम्बन्ध में नाटकों ने बहुत काम किया है। बालविवाह तथा वृद्ध-विवाह के दुष्परिणाम, अछूतों की दयनीय दशा और दहेज प्रथा के कारण होने वाली दुर्घटनाओं को दिखा कर समाज के दृष्टिकोण को बदलने में नाटकों का बहुत कुछ भाग है। उपदेशक का उपदेश इस कान से आ कर उस कान से निकल जाता है। वह हृदय पर प्रभाव नहीं डाल सकता। जब हम सामाजिक कुरीतियों का दुष्परिणाम अपनी आँखों के सामने प्रत्यक्ष रूप में घटित होते देखते हैं तभी हमारा नेत्रोन्मीलन होता है और सामाजिक अत्याचार से पीड़ित लोगों के प्रति हमारी सहानुभूति उत्पन्न होती है। तभी उनके उद्धार के लिए हम बड़े मनोयोग के साथ यत्नवान हो जाते हैं।

श्रव्य-काव्य की शिक्षा साधारण शिक्षा की अपेक्षा मृदुलतर और अधिक प्रभावशाली होती है। राजा जयसिंह के दरबार में 'नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं विकास इहि काल' वाले दोहे ने जो काम कर दिखाया वह बड़े-बड़े प्रकांड धर्मोपदेशकों का उपदेश नहीं कर सकता था। दृश्य-काव्य द्वारा जो उपदेश होता है वह इससे भी कहीं अधिक प्रभावशाली होता है। उत्तर-राम-चरित में एक दूसरा रंगमंच उपस्थित कर सीता के निर्वासन के उपरान्त की कथा का उद्घाटन कर श्रीरामचन्द्र के हृदय में सीता के प्रति सहानुभूति की

भावना को और भी तीव्र किया गया था। नाटकों के भीतर नाटक दिखलाने की प्रथा प्रत्यक्ष के प्रभाव को प्रमाणित करने के लिए ही थी।

जब मनुष्य अपनी शोचनीय दशा का अनुभव कर लेता है तभी वह सुधार की ओर प्रवृत्त होता है। उसका ज्ञान कराने के लिए नाटक से उत्तम दूसरा कोई साधन नहीं। इसीलिए सभी सभ्य देशों में उसका मान है। इंगलैंड में सिनेमा का प्रचार हो जाने पर भी नाटक-गृहों में हफ्तों पहले स्थान सुरक्षित करना पड़ता है।

नाटकों से उपदेश के अतिरिक्त कला में भी उन्नति होती है। ऐसी कोई कला नहीं जिसका नाटक से कोई सम्बन्ध नहीं। नाटक में चित्र-कला, वास्तु कला, रंगों का मिश्रण, आदि सभी कलाएँ आ जाती हैं। तभी तो नाट्य-शास्त्र में कहा गया है—

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न स योगो न तत्कर्म नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते॥

नाटक द्वारा कलाओं की उन्नति हो कर जाति की समृद्धि होती है। यद्यपि सिनेमा भी नाटक का प्रतिरूप है (वास्तव में वर्तमान सिनेमा हमारे यहाँ के छाया-नाटकों के, जिनमें चमड़े की पुतलियों की छाया पट पर डाली जाती थीं, विकसित रूप हैं), तथापि सिनेमा आजकल के शीघ्रता-प्रिय संसार के लिए अधिक उपयुक्त हैं। उनमें भारी सीन-सीनरी के स्थानान्तरित करने का खटराग नहीं रहता, और उनके देखने में समय भी थोड़ा लगता है। इसी लिए वे शिक्षा के अच्छे साधन हैं। प्रत्येक गाँव में फिल्म दिखलाये जा सकते हैं। सिनेमा के द्वारा देश-विदेश के लोगों की रहन-सहन, उनकी क्रिया-पद्धति और उनके रीति-रिवाजों का परिचय कराया जा सकता है। बड़े वीरों के साहसिक कार्यों से जनता में साहस की भावना जगाई जा सकती है। सिनेमा के द्वारा खेती के नये-नये प्रयोग तथा शिल्प और व्यवसाय के नये चमत्कार और बहुत सी वस्तुओं की निर्माण-विधि भी सिखलाई जा सकती है। जहाँ तक यंत्र-सम्बन्धी कार्य है, वहाँ तक सिनेमा नाटक से विशेषता रखता है; किन्तु जहाँ तक कला का सम्बन्ध है, कोमल भावों की जाग्रति का प्रश्न है, वहाँ

नाटक की ही प्रधानता है। सिनेमा के अभिनय में नाटक की सी उत्तरोत्तर उन्नति की गुंजायश नहीं रहती। एक फिल्म जो बनी वह पत्थर की लकीर हो जाती है। उसमें वास्तविकता का चित्र पूरा नहीं उतरता। हम भूल नहीं सकते कि हम पट पर चित्र देख रहे हैं। सिनेमा का प्रचार होते हुए भी कोमल भावों की जाग्रति तथा समाज का पूर्ण सजीवता के साथ चित्र खींचने के लिए नाटक की चिरकाल तक आवश्यकता रहेगी। इसलिए कुछ लोग नाटक और सिनेमा के सहयोग की बात सोच रहे हैं। सीन सीनरी का काम सिनेमा से लिया जाय और अभिनय का कार्य जीवित पात्र करें। किन्तु इसमें कठिनाई तो इस बात की है कि सिनेमा के लिए अन्धकार अपेक्षित है और नाटक के लिए आलोक। नाटकों में बिजली की रंग-बिरंगी रोशनी से बड़े प्रभावोत्पादक दृश्य तो दिखाये ही जाते हैं। सम्भव है कि उन्नतिशील विज्ञान प्रकाश और अन्धकार के सामञ्जस्य की कठिनाई को भी हल कर दे।

---

१०. भारतीय नाटकों में शोकान्त नाटक का अभाव

प्रत्येक देश के साहित्य पर उसकी मानसिक संस्कृति का प्रभाव पड़ता है। साहित्य जातीय चरित्र की कुंजी है। जो साहित्य जिस देश में उत्पन्न होता है, उसमें उस देश के लोगों के जातीय विचारों की छाप रहती है। नाटक प्रायः सभी सभ्य देशों में लिखे गये, किन्तु सब में अपनी-अपनी जातीय विलक्षणता है। यूनानियों के नाटक में शोकांत नाटकों का महत्त्व है। भारतीय नाटकों में उसका नितान्त अभाव है; केवल 'उरुभंग' नाटक इसका अपवाद है।

यद्यपि यह बात ठीक है कि शोकान्त नाटक अपने गाम्भीर्यपूर्ण वातावरण द्वारा मन पर अच्छा प्रभाव डालते हैं और उनके द्वारा हमारी सहानुभूति जाग्रत होती है तथा मनुष्य जाति की सहनशीलता और उसके चरित्र-बल के लिए आदर-भाव उत्पन्न होता है तथापि यह प्रश्न रह जाता है कि यदि सज्जनों का अन्त दुःखमय हो, (दुर्जनों को दुःख में देख कर उन उत्तम भावों की जाग्रति नहीं होती) तो ईश्वरीय न्याय कहाँ रहता

है। दर्शकों की आत्म-शुद्धि के लिए महापुरुषों का बलिदान क्यों किया जाय और ईश्वरीय न्याय में क्यों कलंक लगाया जाय? एक उभयतःपाश (Dilemma) उपस्थित हो जाता है, इधर कुआँ तो उधर खाई। सुखान्त नाटकों में वह गांभीर्य नहीं रहता, वह चित्त की शुद्धि और आत्मा का विकास नहीं होता जो दुःखान्त नाटकों में होता है। दुःखान्त नाटकों में इन बातों की जाग्रति के लिए सज्जनों और महापुरुषों को दुःख का शिकार बनना पड़ता है। पाठकों और दर्शकों के हृदय पर दुःख का पुनीत प्रभाव तभी पड़ता है जब वे किसी महान आत्मा को संकट में देखते हैं। तभी उनकी सहानुभूति का स्रोत खुलता है।

मामूली चोर-डकैत यदि अदालत में आवे तो उससे किसी विशेष भाव की जाग्रति नहीं होती, किन्तु यदि हम किसी संभ्रांत व्यक्ति को अदालत में आते देखें तो एक साथ सहानुभूति का उद्रेक हो जाता है। दशरथ की मृत्यु पर हम आँसू बहाते हैं, रावण की मृत्यु पर नहीं। लक्ष्मण की मूर्च्छा हम में एक विशेष कोमलता के भाव जाग्रत करती है, मेघनाद की मृत्यु नहीं। यदि करती है तो सुलोचना के कारण। डेज़डीयोना की मृत्यु ही हममें सहानुभूति का उद्रेक करती है, इयागो की नहीं। उद्दंड आदमी को यदि पिटते देखें तो कोई मानसिक आघात नहीं होता, चित्त में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता। यदि होता है तो प्रसन्नता का; उस प्रसन्नता के लिए किसी को गर्व नहीं हो सकता। उसमें हलकापन है, गांभीर्य नहीं। इतना ही नहीं, वरन् वह परिवर्तन प्रतिकार की दुर्गन्ध से दूषित रहता है। बुरे आदमी के मरने से संतोष होता है, ईश्वरीय न्याय देख कर प्रसन्नता भी होती है, किन्तु उसमें जातीय प्रतिकार का भाव छिपा रहता है। 'अच्छा हुआ', 'खूब बदला मिला' 'अपने जाल में आप ही फँस गया,' उसमें ऐसे भावों की जाग्रति होती है। इनसे शिक्षा अवश्य मिलती है, किन्तु उसके साथ घृणा बढ़ती है और सहानुभूति कम होती है। जो शिक्षा दुर्जन के दंड से मिलती है वह सज्जन के सुख और वैभव से भी मिलती है। उसमें इस प्रकार से पुरस्कार का प्रोत्साहन रहता है। समस्या यह होती है कि या तो नाटक को दुःखान्त बना कर भावों की शुद्धि और सहानुभूति की जाग्रति

कर लीजिए या ईश्वरीय न्याय की रक्षा कीजिए ।

इस समस्या को हल करने के लिए भारतीय नाटकाचार्यों ने ईश्वरीय न्याय की रक्षा के निमित्त नाटक को सुखान्त बनाने का नियम बना दिया और भावों की शुद्धि और जाग्रति के लिए कहीं-कहीं उनको करुणात्मक बना दिया; जैसे उत्तररामचरित नाटक में । इसमें गांभीर्य और ईश्वरीय न्याय दोनों की रक्षा हो जाती है । हिन्दू लोग भाग्यवादी चाहे हों (उनका भाग्यवाद अन्ध भाग्यवाद नहीं, उसमें भी कर्म के आधार पर ईश्वर का न्याय लगा हुआ है) किन्तु दुःखवादी नहीं । उनके लिए संसार दुःखमय नहीं । संसार में चाहे दुःख हों, आपत्तियाँ आयें, संकट उपस्थित हों, किन्तु उन सब का अन्त अच्छा है । संसार सुखान्त नाटक है ।

नाटकों को सुखान्त रखने में जातीय भावों का पता चलता है । भारतीय सुखान्त नाटक भी इस बात के प्रमाण हैं कि भारतीय नाटक दूसरों के अनुकरण नहीं । उनमें हिन्दुओं का जो ईश्वरीय न्याय में आग्रह और विश्वास है वह प्रतिबिंबित है । हिन्दुओं में हिंसा और प्रतिकार के भावों का यद्यपि अभाव तो नहीं रहा, तथापि ये भाव उनके जातीय-स्वभाव नहीं कहे जा सकते, उनका जातीय स्वभाव अहिंसात्मक है । वे लोग मनुष्य को गाजर-मूली की भाँति नष्ट होते नहीं देख सकते । वे दर्शकों के चित्त को आघात नहीं पहुँचाना चाहते । इसलिए उन्होंने कविता में वास्तविक मरण का वर्णन करना श्लाध्य नहीं माना और नाटकों में रंगमंच पर मृत्यु दिखाना निषिद्ध समझा ।

नाटक का उदय भी मनुष्य जाति की प्रसन्नता के लिए हुआ है । वास्तविक संसार में दुःख काफी है, उसकी मात्रा को कम करने के लिए ही नाटकों का जन्म हुआ है । औषध कड़वी रहे, यहाँ तक तो कुछ हानि नहीं, किन्तु उसको विष न बनाना चाहिए । जिस दुःख की निवृत्ति अथवा कम करने के लिए नाटकों का जन्म हुआ, रचनाओं में उस दुःख की वृद्धि करना उचित नहीं । दुःख की जितनी मात्रा आवश्यक हो उसको रख कर अन्त में सुख उत्पन्न कर देना ही नाटक का मुख्य ध्येय रक्खा गया है ।

यह सब होते हुए भी भारतीय नाटकों में करुणा और शोक की मात्रा

की कमी नहीं। 'उत्तर-राम-चरित' तो साक्षात् करुणा की शब्दमूर्ति है। महाकवि भवभूति ने उत्तर-राम-चरित में करुण रस ही को प्रधानता दी है, और सब रसों को करुण रस का भेद माना है। जिस प्रकार बुद्बुदे, भँवर और तरंग सब भिन्न-भिन्न नाम रखते हुए भी जल के ही रूप हैं, उसी प्रकार भिन्न-भिन्न नाम रखते हुए भी सब रस करुण रस के ही रूप हैं—

एक करुण ही मुख्य रस, निमित भेद सों सोइ।
पृथक पृथक परिणाम में, भासत बहु बिधि होइ॥
बुदबुद भँवर तरंग जिमि, होत प्रतीत अनेक।
पै यथार्थ में सबनि को, होत रूप जल एक॥

हिन्दू कविता का आरंभ ही करुण रस से हुआ है। महर्षि वाल्मीकि को क्रौंच पक्षियों के जोड़े में से बहेलिया द्वारा एक की मृत्यु देख कर जो शोक हुआ वही हिन्दू-काव्य का उद्गम-स्थान बना।

शोकान्त नाटकों के अभाव से यह न समझना चाहिए कि हिन्दुओं के मानसिक संस्थान में शोकजन्य गांभीर्य के लिए स्थान ही नहीं है। यह बात संस्कृत नाटक उत्तर-राम-चरित के अनुवाद के और हिन्दी के सत्यहरिश्चन्द्र नाटक के दो एक अवतरणों से स्पष्ट हो जायगी। शंबूक-वध के लिए जन-स्थान में दुबारा आये हुए श्री रामचन्द्र की तीव्र मानसिक वेदना पढ़ने योग्य है—

कैधौं चिर-सन्तापज, अति तीव्र विष रस
फैलि सब तन माहिं रोम-रोम छायो है।
कैधौं धाय कितहूँ ते शल्य को सकल यह
बेग सों हृदय मधि सुदृढ़ समायो है॥
कैधौं कोऊ पूरित मरम घाय खाय चोट
तिरकि भयंकर विमल हरिआयो है।
होइ न बिरह सोक, घनीभूत कोउ दुख
करि जाने विकल मो चेतहू भुलायो है॥

महाराज रामचन्द्रजी को ऐसा दुःख! यह दुःख उनके सीता-निर्वासन के अपराध को धो कर दर्शकों के हृदय में सहानुभूति के भाव भर देता है।

'सत्य-हरिश्चन्द्र' नाटक करुणरस से आप्लावित हो रहा है। कहाँ महाराज हरिश्चन्द्र और कहाँ चाण्डाल-वृत्ति! कहाँ महारानी शैव्या और कहाँ दासी कर्म! कहाँ सूर्य-वंश का अंकुर रोहिताश्व और कहाँ उसके लिए कफन का अभाव! नाटक को पढ़ कर हृदय द्रवित हो जाता है। शैव्या का विलाप रोमांच उत्पन्न कर देता है—

"हाय! खेलते-खेलते आ कर मेरे गले से कौन लिपट जायगा और माँ-माँ कह कर तनिक-तनिक-सी बातों पर कौन हठ करेगा? हाय! मैं अब किसको अपने आँचल से मुँह की धूल पोंछ कर गले लगाऊँगी? और किसके अभिमान से विपत्ति में भी फूली-फूली फिरूँगी? हाय! जिन हाथों से ठोंक-ठोंक कर रोज़ सुलाती थी उन्हीं हाथों से आज चिता पर कैसे रक्खूँगी? जिसको मुँह में छाला पड़ने के भय से मैंने गरम दूध भी नहीं पिलाया उसे.........।'

देखिए, कैसे मर्मभेदी शब्द हैं! किन्तु यदि यहीं पर नाटक समाप्त हो जाता तो हरिश्चन्द्र की महत्ता तो प्रमाणित हो जाती किन्तु हृदय में एक कसक बनी रहती, सत्य के प्रति शायद श्रद्धाभाव में भी धक्का लगता। नाटक के सुखान्त होने से जी हलका हो जाता है, धर्म में श्रद्धा बढ़ती है, और सत्य के के लिए प्रोत्साहन मिलता है। कसम खाने के लिए भारतीय-साहित्य में शोकान्त नाटक का नितान्त अभाव भी नहीं है। भास कवि का 'उरुभंग' नाटक शोकान्त नाटक है। उसमें दुर्योधन की मृत्यु दिखाई गई है। दुष्ट की मृत्यु से ईश्वरीय न्याय की रक्षा तो हो जाती है। इसके अतिरिक्त भास ने बड़े कौशल से दुर्योधन से पश्चात्ताप करा कर एक प्रकार से शान्तिमय वातावरण उपस्थित कर दिया है और नाटक में शोक के भाव का शमन हो जाता है। आधुनिक हिन्दी नाटकों में यह नियम कुछ शिथिल हो गया है। मृत्यु का दृश्य दिखाना निन्दनीय नहीं समझा जाता। मिलिंदजी का 'प्रताप-प्रतिज्ञा' नाटक इसका उदाहरण है। प्रातःस्मरणीय महाराणा प्रताप की प्रतिज्ञा अपूर्ण रह गई है। उनकी मृत्यु के साथ ही नाटक की समाप्ति होती है। यह ऐतिहासिक सत्य है। कवि ने महाराणा के मुँह से अंतिम शब्द कहलाये हैं—

'मैं क्या चाहता हूँ, जानते हो सामन्त? मैं चाहता हूँ कि इस पीड़ित

भारत वसुन्धरा पर कभी कोई ऐसा माई का लाल पैदा हो, जिसके हृदय-रक्त की अंतिम बूँदें इसके स्वाधीनता-यज्ञ में पूर्णाहुति दें, इसे सदा के लिए स्वाधीन कर दें; जिसके इंगित पर, बरसों के बिछुड़े हुए कोटि-कोटि भारतीय एक सूत्र में बँध कर सर्वस्व बलिदान करने मातृ-मन्दिर की ओर दौड़ पड़ें। मेरी प्रतिज्ञा तो अधूरी रह गई सामन्त! हृदय में अतृप्ति की एक आग छिपाये जा रहा हूँ। उफ!"

इसमें समय की स्पष्ट छाप दिखाई देती है। स्वाधीनता-संग्राम में एक महापुरुष की मृत्यु दिखाई गई है। आत्म-बलिदान के भाव की खूब पुष्टि होती है, किन्तु इसमें भी न्याय के भाव में धक्का लगते हुए भी महाराणा के अन्तिम शब्द द्वारा एक शुभ-कामना की मङ्गलमयी झलक उत्पन्न हो जाती है। इसी प्रकार प्रसादजी कृत अजातशत्रु में भी एक कल्याणमयी भावना के साथ महाराज बिम्बसार का अन्त हो कर भारतीय विधान की रक्षा होती है। बिंबसार की मृत्यु अवश्य हो जाती है किन्तु वातावरण शांत और मङ्गलमय बन जाता है। अजातशत्रु का हृदय-परिवर्तन हो जाता है। उसके हृदय में पश्चात्ताप की भावना जाग्रत हो जाती है। उस स्थल पर भगवान् की शुभ उपस्थिति सारे वातावरण को मङ्गलमय बना देती है। बिंबसार की भौतिक मृत्यु के साथ उसकी नैतिक विजय होती है। अस्तु, भारतीय नाटककारों ने शोकांत नाटक का अभाव रख ईश्वरीय न्याय की रक्षा की है और नाटकों में करुणा का पुट दे कर भावों की शुद्धि कर उनमें कोमलता उत्पन्न की है।

---

११. एकांकी नाटक, उसका स्वरूप और महत्त्व

यद्यपि आजकाल का जीवन संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता-पूर्ण होने के कारण इतिवृत्तात्मक हो गया है, और वह अधिकांश में उपयोगितावाद के सिद्धान्तों से शासित रहता है तथापि उसका भार हलका करने के लिए कुछ मनोरञ्जन अवश्य वांछनीय समझा जाता है। समय के अभाव के कारण दिल-बहलाव के साथ सामाजिकता, शिक्षाप्रदता, विचारोत्तेजकता, प्रचारात्मकता,

और न जाने किन-किन बातों की माँग रहती है। आजकल के लोग थोड़े समय में अधिक से अधिक लाभ चाहते हैं।

वैसे तो हम लोगों को ताश, कैरम, शतरंज और क्रास वर्ड पज़ल में समय की सुध-बुध भूल जाते हुए देखते हैं, किन्तु यह अधिकांश लोगों की प्रवृत्ति नहीं। इन खेलों को प्रायः वे ही लोग पसन्द करते हैं जो जीवन की घुड़दौड़ से कुछ बच कर चलना चाहते हैं। इनमें तो योग की-सी एकान्त साधना है और सामाजिकता का अपेक्षाकृत अभाव रहता है। टेनिस, फुटबॉल, क्रिकेट, वॉलीबाल आदि में सामाजिकता अवश्य रहती है किन्तु ये दिवालोक में साध्य होते हैं। वे कमल की भाँति दिन में ही शोभा देते हैं। आजकल का मनुष्य रात्रि में अवकाश पाता है, सो भी बहुत कम। रात्रि में मनोरञ्जन और शिक्षा के बहुत से सम्मिलित साधन हैं। उनमें पूरे नाटक, सिनेमा, रेडियो, रेडियोनाटक और एकांकी नाटक मुख्य हैं। दिल बहलाने के लिए उपन्यास और नाटक भी पढ़े जाते हैं किन्तु उनमें उतनी सामाजिकता नहीं और वे कभी-कभी घर की मुर्गी का स्वाद सा देने लगते हैं।

उपर्युक्त साधनों में पहले हम पूरे नाटक और सिनेमा को लेते हैं। नाटक कला की वस्तु है किन्तु चंदन घिसने की भाँति इसमें दर्दसर भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। सीन-सीनरी को एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना बड़ा कष्ट-प्रद होता है और पात्रों के बाहुल्य को सँभालना भी मामूली समस्या नहीं।

पूरे नाटक में पात्रों की भावभंगी, वेशभूषा, चाल-ढाल और उछलकूद जीवन की सजीवता उत्पन्न कर देती है; उसमें अनुकृति नहीं, वरन् सृष्टि का भी आनन्द आता है और सामाजिकता भी पर्याप्त मात्रा में रहती है। किन्तु ऐसे नाटकों को खेलने के लिए न तो पर्याप्त साधन हैं और न उनके देखने के लिए अवकाश। सिनेमा में सीन-सीनरी की चामत्कारिक सुविधा है। नाटक में जो सीन स्वप्न में भी संभव नहीं हो सकते, सिनेमा में फोटोग्राफर और चित्रकार की कला से नितान्त सुलभ हो जाते हैं। किन्तु उसमें हम यह नहीं भूल सकते कि हम वास्तविकता से दो दर्जे हटे हुए हैं। और हम ठोस संसार को छोड़ कर पट के

छायालोक में विचर रहे हैं। सिनेमा में समय की बचत अवश्य रहती है किन्तु उसमें इतनी सामाजिकता नहीं है। उसकी सामाजिकता तो बस इंटर्वल में ही रहती है अथवा आरम्भ की प्रतीक्षा में। इसके अतरिक्त उसकी छायात्मकता और कृत्रिमता उसको आजकल के मनोरञ्जनों में शीर्षस्थान दिलाने में बाधक होती है। उसमें पात्रों और दर्शकों का प्रत्यक्ष सम्पर्क भी नहीं रहता जो अभिनय में एक विशेष गति उत्पन्न कर देता है। सिनेमा का जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी है रेडियो। आलस्य-भक्तों के लिए वह दैवी वरदान है। उसमें सामाजिकता की अपेक्षा पारिवारिकता अधिक है; किन्तु जब तक टेलीविज़न (Television) सुलभ न हो जाय उसमें केवल श्रवण-सुख ही रहेगा। दृश्य को भी श्रव्य बनाने में कुछ कृत्रिमता का भी सहारा लेना पड़ता है। रेडियो नाटक और फीचर्स सिनेमा की अपेक्षा अधिक व्यापक हो सकते हैं। उसकी आवाज़ घर-घर (जहाँ रेडियो हो) सुनी जा सकती है और उसके द्वारा समाज-सुधार भी किया जा सकता है। 'नव भारत' शीर्षक नाटक-शृङ्खला में विष्णु प्रभाकर के जो रूपक सुनाये जाते हैं वे बड़े ही शिक्षा-प्रद और मनोवैज्ञानिक हैं। किन्तु उसमें भी सिनेमा की भाँति अभिनेता और सामाजिकों के प्रतिस्पन्दन-पूर्ण सम्पर्क द्वारा कला की उन्नति की सम्भावना नहीं। इसमें तो अभिनेतागण अनुमेय मात्र रहते हैं। नेत्र और श्रवण, दोनों इन्द्रियों के सुख, दर्शक और अभिनेता के प्रतिदान-पूर्ण सहयोग द्वारा कला की उन्नति, अभिनय की अपेक्षाकृत सुलभता, कल्पना के विश्रामदायक आनन्द, सामाजिकता और समय की बचत के लिए एकांकी नाटक मनोरञ्जन के साधनों में सर्वश्रेष्ठ हैं। इनमें सिनेमा और रेडियो की अपेक्षा साहित्यिकता कुछ अधिक मात्रा में लाई जा सकती है।

साहित्यिक-दृष्टि से भी एकांकी नाटक का कुछ कम महत्त्व नहीं है। एकांकी नाटक कहानी की भाँति जीवन की एक झलक दिखाता है किन्तु कुछ अधिक सजीवता के साथ। कहानीकार की भाँति एकांकीकार भी अपने लक्ष्य पर भी निगाह रखता है। वह वीर अर्जुन की भाँति चिड़िया को नहीं देखता, वह केवल उसकी आँख को ही देखता है। आँख के आधार-स्वरूप चिड़िया के सर को चाहे वह देख ले किन्तु उसके आगे नहीं। इन समानताओं के होते हुए

भी एकांकी नाटक कहानी का संवादात्मक रूप नहीं है और न जैसा चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने उसका खाका उड़ाया है, वह प्रश्नोत्तरों द्वारा गलियों में विज्ञापन करने वाले चाचा-भतीजा की सी बात-चीत है। संवाद एकांकी नाटक का मुख्य अङ्ग है, किन्तु वह सब कुछ नहीं है। वह उसके अलावा कुछ और भी है। इसी कारण सभी उपन्यासों या कहानियों का नाटकी-करण सहज में नहीं हो जाता।

कहानी और एकांकी में केवल संवाद का ही अन्तर नहीं है, संगठन का भी भेद है। कहानियाँ भी घटनाओं और पात्रों की आश्रित होती हैं किन्तु उनकी रूप-रेखा की स्पष्टता जितनी नाटक में अपेक्षित है उतनी कहानी में नहीं। नाटक में कार्य की प्रधानता रहती है। उसमें पात्रों का व्यक्तित्व अधिक निखरा हुआ और घटनाओं की गति अधिक समयानुकूल चलती है। इसलिए उसमें अधिक वास्तविकता रहती है। कहानी में किसी घटना की सूचनामात्र उतनी नहीं अखरती जितनी कि नाटक में। नाटक वास्तविकता की सजीव अनुकृति है।

जिस प्रकार कहानी उपन्यास का छोटा रूप नहीं है उसी प्रकार एकाङ्की भी बड़े नाटक का लघु संस्करण नहीं है। एकाङ्की में आकार की सूक्ष्मता पर उतनी चोट नहीं है जितनी की लक्ष्य की एकता और संगठन की सुघरता पर। साम्य और संगठन की सुघरता का सम्पादन घटना-बाहुल्य में भी हो सकता है, किन्तु एकांकी नाटक में वह सुघरता जिस सरलता से लाई जा सकती है वह बड़े नाटक में नहीं। बहुत से साज-सामान से भी कमरा सजाया जा सकता है किन्तु थोड़े से सामान में जो सरलता का सौन्दर्य रहता है वह सामान के बाहुल्य में नहीं। उसमें प्रत्येक वस्तु अपने अस्तित्व की सार्थकता प्रकाशित करने लग जाती है। घटनाएँ स्वयं मुखरित हो उठती हैं।

एकाङ्की नाटक का कौशल घटनाओं की संख्या मात्र को कम कर देना नहीं वरन् उनके ऐसे चारु चयन में है कि वे सीधा लक्ष्य की ओर ले जायँ और अपनी व्याख्या के लिए उनको दूसरी घटनाओं का मुखापेक्षी न होना पड़े। एकाङ्कीकार जीवन की एक झलक ही देता है किन्तु वह झलक हाँडी के चावल की भाँति सारे जीवन की तो नहीं किन्तु उसकी विशिष्टता की अवश्य

परिचायक होती है। एकाङ्कीकार जीवन का जो पहलू प्रकाश में लाता है उसमें व्यक्ति के जीवन की शिक्षा-दीक्षा और व्यक्तित्व की रेखाएँ एक स्थान में केन्द्रीभूत-सी दिखाई देती हैं। बड़ा नाटककार उस चिकित्सक की भाँति है जो नित्य समय पर ऐसी औषध देता रहता है जिसका इकट्ठा प्रभाव पड़ता है किन्तु एकांकीकार उस कुशल वैद्य की भाँति है जिसकी स्वल्प मात्रा की पुड़िया बहुगुणशाली एवं सद्यः फलवती होती है। एकांकी में, जैसा कुछ लोग कहते हैं कि चरित्र-चित्रण की गुंजाइश ही नहीं ऐसी बात नहीं, किन्तु उसमें चरित्र क्रमशः गढ़े जाते हुए नहीं दिखाई देते वरन् उसमें गढ़े-गढ़ाये चरित्रों को ऐसे स्थान पर ला कर खड़ा कर दिया जाता है जहाँ पर कि उन पर अच्छे से अच्छा प्रकाश पड़ सके और वे पाठक या द्रष्टा के सामने अपनी स्पष्ट रूप-रेखा में चमक उठें।

एकांकी नाटक में चरित्र परिवर्तन भी दिखाया जाता है जैसा कि डाक्टर रामकुमार वर्मा के 'अट्ठारह जुलाई की शाम' या 'रेशमी टाई' में। पहले में पत्नी का परिवर्तन है और दूसर में पति का, किंतु वह ऐसी चोट से होता है जो होती तो है सुनार की तरह धीमी लेकिन काम लोहार की चोट से भी अधिक करती है। कभी-कभी एकांकी नाटककार की सर्चलाइट ऊपर की भद्दी तहों को भेदती हुई भीतर की किसी सुन्दर तह पर भी प्रकाश डालती है जैसा कि भुवनेश्वर जी के 'शैतान' में हुआ है। बुरे आदमियों में भी बुराई की राख के भीतर कहीं मानवता की चिनगारी मिल जाती है। एकांकी में केवल चरित्र का विश्लेषण ही नहीं होता वरन् उसके सहारे सुधार की भी व्यञ्जना कर दी जाती है; जैसे अश्कजी के 'लक्ष्मी का स्वागत' में दिखाया गया है कि सेवा के अभिलाषी माता-पिता एक बहू के बदले दूसरी बहू के स्वागत करने की लालसा में बीमार नाती की भी परवाह नहीं करते। एकांकी नाटक प्रायः वर्तमान समाज से सम्बन्ध रखते हैं और इसलिए उनकी समस्याएँ हमारे बहुत निकट की ही होती हैं। पं० गणेशप्रसाद द्विवेदी का 'सुहाग की बिन्दी' नाम का नाटक हमारे सामने वैवाहिक जीवन और प्रेम की समस्या उपस्थित करता है। सेठ गोविन्द-दास जी का 'स्पर्द्धा' नाम का नाटक हमारे सामने यह प्रश्न उपस्थित करता

है कि जो स्त्रियाँ पुरुषों के साथ बराबरी का दावा कर उनके क्षेत्रों में स्पर्द्धा करती हैं, वे कहाँ तक परित्राणशूरता (Chivalry) की अधिकारिणी हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि-साहित्य-क्षेत्र में एकांकी का अस्तित्व निरर्थक नहीं। इतना ही नहीं वरन् उसके छोटे आकार के कारण उसमें कवित्व और व्यञ्जना की अधिक गुंजाइश रहती है। वह कहानी की भाँति अपने छोटे मुँह से बड़ी बात कह जाता है। एकांकी नाटक में आकार की सूक्ष्मता के कारण संकलन त्रय (Three Unities) का भी अच्छा निर्वाह हो सकता है।

यह मानना पड़ेगा कि यद्यपि प्राचीन काल में हमारे यहाँ (भाण, व्यायोग, अंक, वीथी, गोष्ठी नाट्यरासक, आदि) कई प्रकार के एकांकी नाटक थे तथापि वर्तमान नाटकों की मूल प्रेरणा हमको पश्चिम से मिली है। वे अधिकांश में पश्चिमी एकांकी नाटकों के शिल्प-विधान (Technique) का अनुसरण करते हैं। इससे एकांकी नाटकों का महत्त्व घट नहीं जाता है। अन्धानुकरण नहीं होना चाहिए। यह बात नहीं कि पश्चिम की सभी बातें निन्दनीय हैं। एकांकी के मंच-संबंधी संकेतों के विषय में श्री जैनेन्द्र जी का मत है कि जब हिन्दी में रंगमंच ही नहीं तो संकेतों की क्या आवश्यकता ? पहले तो यह बात नहीं कि हिन्दी में रंगमंच का नितांत अभाव हो। एकांकी नाटकों का तो प्रायः कालेजों में सफलता-पूर्वक अभिनय हुआ है। उनके लिए सादे मंच से भी काम चल जाता है। नाटक लिखा तो मंच के लिए ही जाता है किन्तु यदि कमरे की चहारदीवारी के भीतर भी पढ़ा जाय तो कहानी की अपेक्षा हम एकांकी की कथावस्तु को उन संकेतों के सहारे अपनी कल्पना में अधिक जीते-जागते रूप में देख सकते हैं। संकेतों को पढ़ कर हमारी कल्पना उन रेखाओं को मूर्त और मांसल बना लेती है। ये संकेत यदि नाटक के अभिनय में सहायता देते रहें तो पात्रों के चरित्र-चित्रण और परिस्थिति के समझाने में भी पर्याप्त सहायक होते हैं क्योंकि बाह्य वातावरण चरित्र पर प्रकाश डालता है। कहानी में जो स्थान वातावरण के वर्णन का है वही एकांकी में इन संकेतों का है। एकांकी नाटक समय की आवश्यकताओं की देन है। उसका अलग विशेषत्व

और व्यक्तित्व है जो उसे वर्तमान युग की साहित्यिक कृतियों में स्वतन्त्र और विशिष्ट स्थान दिलाता है।

---

१२. उपन्यासों के अध्ययन से हानि-लाभ

मनुष्य स्वाभाव से ही कथा-कहानियों में रुचि रखता है। बाल्यकाल में हम राजा और रानियों की कथाएँ कितने चाव से सुनते थे! उस समय हमारा मन कल्पना लोक के निवासियों में ही रहता था। उन दिनों हमारे लिए कल्पना और वास्तविकता में कुछ अंतर न था। हमारे समाज का वृत्त भी खूब विस्तृत था। स्वर्गलोक की परियों से लेकर स्यार और लोमड़ी तक सब उसमें शामिल थे। वे भी हमारी तरह बोलते थे। उस समय हमारी कल्पना-कपोती के पर तर्क की कैंची से कटे न थे और वह खूब उड़ान लेती थी। हमारे लिए यह ध्रुव सत्य था कि एक राजा था (उसके नाम धाम और समय से कुछ प्रयोजन नहीं), उसके सात लड़कियाँ थीं, इत्यादि।

हमारी यही रुचि और प्रवृत्ति आजकल के कथा-साहित्य की जननी है। अन्तर केवल इतना है कि आजकल बंदर-बँदरिया, लोमड़ी, ऊँट और शृगाल से हट कर हमारी रुचि मनुष्य समाज में केन्द्रित हो गई है और उसको पूरा विस्तार दे दिया गया है। राजा-रानी की अपेक्षा 'होरी' किसान में मानवता के दर्शन कुछ अधिक मात्रा में होने लगे हैं। समाज की सभी श्रेणियों के लोग हमारे कथा-साहित्य के नायक और नायिकाएँ बनने का अबाधित अधिकार रखते हैं। इसके अतिरिक्त हम अपनी कथाओं को वास्तविकता का रूप देने के लिए अधिक प्रयत्नशील रहते हैं। कभी-कभी उसे इतना वास्तविक रूप दे देते हैं कि शहर, गाँव वा व्यक्ति-विशेष का नाम ही केवल कल्पित होता है। इस तरह मानव-जीवन का पूरा चित्र हम अपने कथा साहित्य में देखते हैं।

यद्यपि प्राचीन समय में उपन्यास एक प्रकार के गद्य का नाम था। तथापि आजकल हम इस शब्द का अँगरेज़ी के 'नॉवल' (Novel) शब्द के पर्याय रूप से व्यवहार करते हैं। इसमें प्रायः एक व्यक्ति को केन्द्रस्थ कर उससे

सम्बन्ध रखने वाले मानव-समाज का चित्रण रहता है। यह चित्रण स्थायी नहीं होता, वरन् प्रगति-शील होता है। इसमें विकास, उत्थान, पतन, आवर्तन, परिवर्तन, अन्तर्द्वन्द्व, रुदन, पीड़ा, करुणा-क्रन्दन, हास-विलास, अश्रु और उच्छ्वास, प्रतिद्वन्द्विता, सफलता, असफलता सभी बातें रहती हैं। नाटक की भाँति उपन्यास भी समाज का चित्र है; अन्तर केवल इतना ही है कि नाटक में लेखक का व्यक्तित्व अन्तर्निहित रहता है, इसमें नहीं। लोगों ने इसको जेबी थियेटर कहा है। यह तो स्पष्ट ही है कि उपन्यास मनुष्य की रुचि की वस्तु है। इसका अस्तित्व मनुष्य की अनुकरणात्मक स्वाभाविक प्रवृत्ति में है। इससे मनुष्य का मनोरंजन होता है। समय भारी नहीं मालूम होता और बेकारी नहीं अखरती।

काल-यापन और मनोरंजन बहुत साधारण लाभ हैं! इनके अतिरिक्त जो बड़ा लाभ है वह हमारी सहानुभूति के विस्तृत हो जाने का है। वास्तविक जीवन में सब प्रकार के लोगों के साथ हमारा संपर्क नहीं होने पाता। गाँव के लोग शहर के जीवन से अपरिचित रहते हैं और शहर वाले गाँव के लोगों से। विद्युत्-आलोक से जगमगाती हुई सब प्रकार की सुख-सामग्री से सुसज्जित गगन-चुम्बी अट्टालिकाओं के निवासी धन-कुबेरों का निबिड़ अन्धकारमय फूस की झोंपड़ी के निवासी एक गट्ठे पयाल और काठ की कठौती में सीमित संपत्ति वाले एकाहारी निरीह भिखारी के जीवन से क्या सम्बन्ध ? यदि सम्बन्ध भी होता है तो वह बहुत ऊपरी। बुभुक्षा रूपी दानव के साथ गरीब के बीबी-बच्चों के दैनिक संघर्ष का हाल धनकुबेर नहीं जानता। उपन्यासकार कवि की भाँति जहाँ रवि की भी गति नहीं होती वहाँ पहुँच कर अन्धकार-पूर्ण गुफाओं का हाल लिख देता है। वह भौतिक गुफाओं में ही प्रवेश नहीं करता वरन् हृदय-मन्दिर की गंभीर गुफाओं में भी प्रवेश कर हमको विभिन्न परिस्थितियों के लोगों के मनोविज्ञान से परिचित करा देता है। हमारा मन थोड़ी देर के लिए उनके मन के साथ एकस्वर हो जाता है। हम कथा के तटस्थ दर्शक ही नहीं रहते वरन् किसी एक पात्र के साथ अपना तादात्म्य कर कथा के प्रवाह में बहने लगते हैं। हमारी दया और सहानुभूति की कोमल भावनाएँ जागरित और

जीवित हो जाती हैं। हममें मानवता का संचार होने लगता है। यदि उपन्यास का पात्र हम को वास्तविक जीवन में मिलता है तो उसको हम अपने चिर-परिचित मित्र की भाँति पहचान लेते हैं और उसकी कठिनाइयों को समझ कर उसके साथ सहृदयता का व्यवहार करने लग जाते हैं। जो लोग मुंशी प्रेमचन्द के उपन्यास पढ़ चुके हैं वे किसान के साथ सहृदयता का व्यवहार अवश्य करेंगे। वे एक सहृदय ग्रामीण की भाँति उसकी कठिनाइयों से परिचित हो जाते हैं। गरीब आदमियों की करुण पुकार सुनाने में मुंशी प्रेमचन्द जैसे उपन्यासकारों ने राजनीतिज्ञों के सभा-मंचीय व्याख्यानों से अधिक उपकार किया है।

उपन्यासकार यद्यपि धर्मोपदेशक नहीं होता, तथापि उसका प्रभाव लोगों की नीति और आचार-पद्धति पर पड़े बिना नहीं रहता। उसका उपदेश जीवन की घटनाओं से प्रमाणित और पुष्ट हो कर कोरे सिद्धान्तवाद और शास्त्रीय-विवेचन से अधिक प्रभावशाली होता है। उपन्यासों में धूर्तों और पाखंडियों के विडंबनापूर्ण व्यवहारों का उद्घाटन पढ़ कर हम को ऐसे व्यवहारों के प्रति घृणा हो जाती है। हम स्वयं उनसे बचने का प्रयत्न करते हैं। पुलिस के तथा ज़मींदार आदि अन्य सत्ताधारियों के अत्याचार का वर्णन पढ़ कर हमको ऐसे व्यवहार से दूर रहने की प्रेरणा होती है।

उपन्यासों के अध्ययन से जो देश-विदेश का ज्ञान होता है उससे हमारी व्यवहार-कुशलता बढ़ती है। हम दूसरे लोगों की सफलताओं और असफलताओं से लाभ उठा सकते हैं। कभी-कभी हम उपन्यासों में कुछ सामाजिक समस्याओं के हल करने की सामग्री भी पाते हैं। समाज में हम एक दम नई परिस्थिति को उपस्थित कर उसका लाभालाभ नहीं देख सकते, किंतु उपन्यासकार सदा किसी न किसी रूप में सामाजिक प्रयोग करता रहता है; जैसे प्रेमचन्दजी के 'सेवासदन' में वेश्याओं के सुधार की, रवीन्द्र बाबू के 'गौरमोहन' में संस्कार की अपेक्षा जाति की प्रबलता की तथा रूसी उपन्यास 'अन्ना कार्नीना' में दाम्पत्य और वात्सल्य प्रेम की समास्याओं पर नई परिस्थितियाँ उपस्थित कर प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार उपन्यासकार समाज का पथ-प्रदर्शक भी बन

जाता है। हम उसके पथ-प्रदर्शन से लाभ उठा सकते हैं।

उपन्यास समाज की कुप्रथाओं को दूर करने में बहुत-कुछ सहायक हुए हैं। बंगाल के उपन्यासों में (जैसे शरद्‌बाबू के अरक्षणीया नाम के उपन्यास में) दहेज की प्रथा के विरुद्ध बहुत आन्दोलन रहा है। आज कल के हिन्दी उपन्यासों और कहानियों ने अछूतोद्धार में भी थोड़ा बहुत हाथ बँटाया है। आज-कल के बहुत से उपन्यासों में नारी स्वतंत्रता की समस्या चल रही है। उपन्यासों द्वारा प्रभावशाली आन्दोलन हो सकता है और हुआ भी है। उनसे जनता की रुचि बहुत-कुछ परिमार्जित हुई है।

उपन्यास यथार्थवादी (Realist) तथा आदर्शवादी (Idealist) दोनों प्रकार के होते हैं। यथार्थवादी उपन्यासों के विरुद्ध यह कहा जाता है कि वे समाज की कमज़ोरियों का नग्न-चित्र खींचते हैं; जैसा कि जयशंकर 'प्रसाद' के 'कंकाल' में है। उससे पाठक के मन पर बुरा प्रभाव पड़ता है। मानव जाति के प्रति घृणा होने लगती है। कभी-कभी पाठक स्वयं भी वासनाओं की लहर में आन्दोलित होने लगता है। हत्या और मृत्यु के उपन्यास पढ़ कर बदला लेने की प्रवृत्ति तथा घृणा का भाव बढ़ता है। जहाँ अच्छे उपन्यासों से सहानुभूति बढ़ती है वहाँ बुरे उपन्यासों से कठोर वृत्ति का पोषण होता है।

इस दोष के परिहार-स्वरूप कई विद्वानों ने कहा है कि मनुष्य में हिंसा और घृणा की प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक हैं। ऐसे उपन्यासों के पढ़ने से बिना वास्तविक हत्या हुए हिंसा-वृत्ति-संबंधी हृदय का उबाल निकल जाता है। वास्तविक हत्या से काल्पनिक हत्या निरापद है। यह बात कुछ अंशों में ठीक भी है, किन्तु ऐसे उपन्यासों को सावधानी के साथ पढ़ना चाहिए। हमको उनके बहाव में पड़ कर अस्तित्व को भूल जाने की अपेक्षा अपनी विवेक-बुद्धि से काम लेना अधिक श्रेयस्कर होगा। कहीं-कहीं वासनाओं के दुष्परिणाम दिखलाने के बहाने वासनाओं का उच्छृङ्खल वर्णन होने लगता है। लेखक-गण मनुष्यों की कुरुचि से लाभ उठाना चाहते हैं। ऐसे उपन्यासों का प्रचार अवश्य हानिकारक होता है।

यद्यपि कोई भी वासनाओं के जाल से मुक्त नहीं है, तथापि किताबों

की बिक्री के हेतु उन बातों का आकर्षक रूप से वर्णन करना नीति के विरुद्ध है। कुछ लोग सुधार का नाम ले कर वासनाओं के निराकरण के हेतु उसका ऐसा सजीव वर्णन करते हैं कि लोग सुधार की बात को भूल कर उन वासनाओं के वर्णन में अपना चित्त रमाने लग जाते हैं। आजकल के युग में शरद्बाबू, जैनेन्द्रकुमार (सुनीता में) तथा भगवतीचरण वर्मा (चित्रलेखा में) प्रभृति लेखक समाज के माने हुए पातिव्रत सम्बन्धी आदर्शों को ढीला करना नीति विरुद्ध नहीं समझते, वरन वे नीति और पाप-पुण्य की दूसरे ही रूप से व्याख्या करते हैं। शरद् बाबू की 'स्वामी' नाम की कहानी में पति की क्षमावृत्ति का बहुत अच्छा उदाहरण मिलता है, किन्तु उसमें पाप-पुण्य के बीच की रेखा गिराने की चेष्टा नहीं की गई है। यद्यपि इसमें इतना सत्य अवश्य है कि समाज के वर्तमान आदर्शों के कारण अबलाओं पर अधिक अत्याचार हुआ है, तथापि इस प्रवृत्ति को इतना न बढ़ाना चाहिए कि आपद्-धर्म कर्तव्य बन जाय। इस प्रवृत्ति से सामाजिक संगठन को बहुत हानि पहुँचेगी।

आजकल के विश्लेषणवादी उपन्यासकार मनोविज्ञान के नाम पर वासना का ही नहीं दमित वासनाओं का भी उन्मुक्त वर्णन करते हैं। यह प्रवृत्ति सुलझे हुए लोगों के लिए तो हानिकारक नहीं कही जा सकती, किन्तु अपरिपक्व बुद्धि वाले लोगों पर इनका बुरा प्रभाव पड़ सकता है।

उपन्यासों के अध्ययन से जहाँ समय कटता है और मनोरंजन होता है वहाँ ठोस अध्ययन की ओर रुचि कम होती है। लोग आसान की ओर ही अधिक झुकते हैं। हमारे अध्ययन में गंभीर और साधारण का एक सुखद संतुलन रहना चाहिए। मनोरंजन यदि हमारे मन को गंभीर अध्ययन के लिए तैयार करे तब तो उसकी सार्थकता है और यदि वह हमारे गंभीर अध्ययन का स्थान ले कर उसका बहिष्कार कर दे तो वह अवश्य हानिकारक होगा। हमारे अध्ययन में उपन्यासों का स्थान अवश्य होना चाहिए, किन्तु उसको ऐसा विस्तार न देना चाहिए कि और किसी बात के लिए स्थान ही न रहे। यदि ऐसा होगा तो हमारा मानसिक विकास संकुचित हो जायगा।

---

१३. सभ्यता के विकास के साथ कविता का ह्रास होता है

हम बहुत से शब्दों का प्रयोग उनके अर्थ पर पूर्ण विवेचन किये बिना ही एक अन्धरूढि से प्रेरित हो करने लगते हैं। सभ्यता शब्द भी ऐसा ही है। इसका अर्थ बड़ा भ्रामक है। इसका कोई निश्चित मापदण्ड नहीं है। यूरोप के देशों में सभ्यता का माप मनुष्य की भौतिक शक्ति और सम्पन्नता से किया जाता है। कई लोग तो इसकी व्यावहारिक नाप-जोख गन्धकाम्ल (Sulphuric acid) की खपत से और कई साबुन के उपयोग के आधार पर करते हैं। गगनचुम्बी अट्टालिकाएँ, विद्युत्-प्रकाश से जगमगाते हुए विशाल कक्ष, शारीरिक सौन्दर्य को अधिक उभार में लानेवाले कटे-छँटे वस्त्र, हिमहास सी अमल-धवल चादरों से आच्छादित रंग-बिरंगे सौरभमय सुमनों से सुसज्जित एवं चमकते-दमकते छुरी-काँटे और स्वच्छ प्लेटों से सुसम्पन्न खाने की मेजें, वायु-वेग-विनिन्दित वायुयान, विपुल जनसंहारक तोपें और विस्फोटक पदार्थ, काँटे को काँटे से नहीं वरन् सुई और तलवार से दूर करने वाली न्याय-व्यवस्था और एक दूसरे का गला काटने वाला प्रतिद्वन्द्विता-प्रधान व्यापार, ये ही यूरोपीय सभ्यता के आधार-स्तम्भ हैं।

सभ्यता का एक पूर्वी आदर्श भी है। जो प्रायः 'जीओ और जीने दो' की संतोष-प्रधान नीति पर अवलम्बित है और जिसमें भौतिक सुख और सम्पन्नता की अपेक्षा आदर-सत्कार और प्रेम-पूर्ण व्यवहार को अधिक महत्ता दी जाती है। उसके अनुकूल सभ्यता मानवता का पर्याय बन जाती है।

लार्ड मेकाले ने जब सभ्यता के साथ कविता के ह्रास की बात कही तब उसके ध्यान में पहले प्रकार की भौतिक सम्पन्नता-प्रधान सभ्यता का ही आदर्श होगा। सभ्यता के भौतिक अर्थ में ही इस लेख का शीर्षक अधिक सार्थक होता है।

विज्ञान भौतिक सभ्यता का प्रधान साधक और विधायक है। इसका भव्य-भवन बुद्धिवाद पर अवलम्बित है। विज्ञान में कल्पना और बुद्धि है, किन्तु उसमें भावों को स्थान नहीं है। उसके लिए घोर कठोर नियम ही सब कुछ हैं;

उनके लौह-चक्र से कोई नहीं बच सकता। विज्ञान ने हमको प्रकृति पर विजयी अवश्य बनाया है किन्तु साथ ही उसने हमारा वह सुखद सम्पर्क, जो हमारे हासोल्लास का कारण बनता था, बहुत अंश में कम कर दिया है। सूर्य के स्वास्थ्य और स्फूर्ति-वर्धक प्राकृतिक प्रकाश से वञ्चित रह कर हम दिन में भी बिजली की रोशनी जला कर दफ्तरों और कारखानों में काम करते रहते हैं। प्राकृतिक शीतल मन्द-सुगन्ध समीर का स्थान बिजली के पंखों की वायु ने ले लिया है। हमारे भोजन और हाथों के बीच में भी छुरी-काँटों का कृत्रिम व्यवधान आ गया है। बर्फ के बिना हमारी तृषा-शांति नहीं होती। विज्ञान ने नई-नई आवश्यकताओं को जन्म दे कर हमको उनका दास बना दिया है। उसकी विश्व-व्यापिनी माया ने हमको यन्त्रारूढ कर स्वयं यन्त्र बना दिया है।

नई सभ्यता में जीवन को सुखमय बनाने के साधन सुलभ हो जाने पर भी संसार-यात्रा के प्रारम्भिक उपकरण दुर्लभ हो गये हैं। विश्रान्तिहीन जीवन की घुड़-दौड़ में अपना स्थान सँभाले रखना कठिन प्रतीत होने लगा है। समय की चत करने वाले यन्त्रों के होते हुए भी लोगों के पास समय का अभाव है। काव्य को स्फूर्ति देने वाले प्रकृति-निरीक्षण के लिए न हमारे पास समय है और न अब प्रकृति के साथ वह सीधा सम्पर्क है। सम्पर्क हो भी कहाँ से? नई सभ्यता उपयोगितावाद की झोंक में प्रकृति के ऊपर दिन-दहाड़े आक्रमण कर रही है। मिलों के धुओं ने गगन की नीलिमा को आच्छादित कर रक्खा है। भोंपुओं की कर्णकुहर-भेदी कर्कश-ध्वनि में पक्षियों का कोमल कलरव विलीन हो गया है। नदियों का उन्मुक्त प्रवाह बन्धनग्रस्त कर दिया गया है। शैल-शृंगों पर मौन तपस्वी-से खड़े हुए विशालकाय देवदारु वृक्ष काटे जा कर रेल के स्लीपर बनते हैं। 'प्रथम प्रभात उदय तब गगने, प्रथम सामरव तब तपोवने' वाली कवीन्द्र रवीन्द्र की भारत-प्रशस्ति अब अतीत का ही स्वप्न बन गई है। जब प्रकृति के साथ सम्बन्ध ही मिटता जाता है तब कविता के लिए परमापेक्षित शेष सृष्टि के साथ रागात्मक सम्बन्ध की सम्भावना कहाँ?

जो बात जड प्रकृति के लिए है वही बात चेतन प्रकृति के लिए भी है। बढ़ती हुई प्रतिद्वन्द्विता और जीवन की पेचीदगी के कारण मित्र भी शत्रु

बनते जा रहे हैं। उदर की भीषण ज्वाला अब भावों के स्रोतों को सुखा रही है। पैसे के अभाव में आटे-दाल का भाव याद आने लगता है फिर अतिथि-सेवा और आदर सत्कार कहाँ ? बुद्धिवाद और प्रतिद्वन्द्विता के साथ व्यक्तिवाद और स्वार्थपरायणता बढ़ती जाती है, फिर कविता की उदात्त भावनाएँ कहाँ स्थान पा सकती हैं ? जहाँ सब चीज़ों का मूल्य आने पाई में आँका जाय वहाँ भावुकता की पूछ मुश्किल से ही हो सकती है। इसलिए इस लौहयुग की कठिन भूमि में रसमयी कविता की बेल का पनपना कठिन है।

मैकाले के उपर्युक्त वाक्य भौतिक सभ्यता के सम्बन्ध में कहे गये हैं। सभ्यता के आध्यात्मिक अर्थ में इन वाक्यों की सत्यता प्रमाणित करना दुष्कर होगा, किन्तु भौतिक सभ्यता के सम्बन्ध में भी इनको ध्रुव सत्य मानना कठिन है। पहले सभ्यता के विकास और कविता के ह्रास का कोई निश्चित अनुपात नहीं है। फिर नई सभ्यता की हवा से सब लोग एक से प्रभावित नहीं होते हैं। प्रकृति-भेद के कारण कुछ लोग उससे अछूते ही रहते हैं। तुलसी और केशव प्रायः समकालीन कहे जाते हैं किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों का उन दोनों पर एक सा प्रभाव नहीं पड़ा। आज-कल भी भारत में शुष्क और सरस दोनों ही प्रकार के लोग हैं। इंगलिस्तान के वर्तमान युग में यदि शेक्सपीयर नहीं पैदा हो सके तो बर्नार्डशा, गाल्सवर्दी और एच. जी. वेल्स तो हुए ही हैं। वर्तमान हिन्दी-जगत में यदि सूर और तुलसी नहीं हुए तो उनकी छाया ग्रहण करने वाले उपाध्याय और गुप्त तो हुए ही हैं। इस युग ने भी 'कामायनी' और 'साकेत' की सृष्टि की है। विश्व में अपनी कविता की धाक जमाने वाले कवीन्द्र रवीन्द्र आधुनिक काल की ही उपज हैं। मुक्तक और गीत के क्षेत्र में महादेवी, पंत और निराला अपने काव्य से हमारा अनुरंजन कर रहे हैं।

इन सब बातों के अतिरिक्त एक बात का हमको स्मरण रखना चाहिए कि मनुष्य जब तक मनुष्य है तब तक भावों का नितांत ह्रास नहीं हो सकता, उनके आलम्बन चाहे बदल जायँ। छायावादी युग में प्रकृति भावों का आलम्बन रही। अब प्रगतिवादी युग में मजदूर और किसान कविता के विषय बने हैं। जनता में प्रचार के लिए नई समस्याएँ अपनी भावात्मक अभि-

व्यक्ति चाहती हैं। केवल बुद्धिवाद के आधार पर जनता कार्योन्मुखी नहीं होती। यदि जाति-पाँति के बन्धन छूटते जाते हैं तो संस्थाओं, संघों, परिषदों और क्लबों का सम्बन्ध दृढतर होता जा रहा है। प्रकृति से हमारा संपर्क अवश्य कम हो गया है किन्तु जिन यांत्रिक जड चीज़ों से हमारा सम्बन्ध होता है उनके प्रति हमारा मोह बढ़ता जा रहा है। एक अंग्रेज़ कवि तो चद्दरों और कम्बलों से भी रागात्मक सम्बन्ध स्थापित कर रहा है—'The cool kindliness of sheets that soon smooths away trouble'। इस प्रकार हमको मानना पड़ेगा कि सभ्यता के विकास के साथ कविता का ह्रास होता है, इस वाक्य की सत्यता प्र_ति रूप से ही प्रमाणित की जा सकती है किंतु इसको एक ध्रुव सत्य मानना भूल होगी। जब तक मनुष्य मनुष्य रहेगा तब तक उसके हृदय में किसी न किसी प्रकार की कविता के लिए स्थान रहेगा।

---

१४. हिन्दी कविता में प्रकृति-चित्रण

यद्यपि साहित्य में मानव की अपेक्षा प्रकृति का स्थान गौण है तथापि उसका महत्त्व नगण्य नहीं है। मनुष्य प्रकृति की गोद में पला है, वह उसके सुख-दुःख की चिरसंगिनी रही है और इस नाते उसके प्रति हमारा सहज आकर्षण रहता है। यद्यपि उसमें मनुष्य का-सा भावों का प्रतिस्पन्दन नहीं दिखाई देता, तो भी वह हर्ष-विषादमय प्रभाव से हमारे सुख-दुःख को गहरा या हलका बनाने की सामर्थ्य रखती है। प्रकृति मनुष्य के क्रीडा-कलाप की चित्रमयी रंग-स्थली है। इसके बिना मानव-जीवन का नाटक अधूरा रह जाता है।

प्राकृतिक दृश्य अपने शक्ति-सम्पन्न प्रभाव से हमारे सुख-दुःख, हर्ष-विषाद को दुगुना-चौगुना कर देते हैं। कविवर नन्ददासजी ने अपनी रास-पंचाध्यायी में उड़राज चन्द्रमा को रसराज का सहायक बतलाया है। बिना यमुना-पुलिन, चन्द्र-ज्योत्स्ना, मलय-समीर और गीत-वाद्य के वृन्दारण्य-विहारी भगवान कृष्ण के दिव्यरास की शोभा फीकी पड़ जाती है। बीहड़ वन, अँधेरी

रात और बादल की गरज हमारे भय को तीव्रता प्रदान कर देती है। विरहिणी ब्रजांगनाओं को कृष्ण के वियोग में सावन की रातें वामन के डगों की भाँति लंबी बन जाती हैं। रात्रि में विरह-व्यथित हृदय के लिए तारागण अपने झिलमिल प्रकाश से मौन सहानुभूति प्रकाशित करते हैं। चित्र की पृष्ठभूमि की भाँति प्रकृति जब हमारे भावों को तीव्रता प्रदान करने में सहायक होती है तब उस सम्बन्ध के वर्णनों को हम उद्दीपन रूप के वर्णन कहते हैं। उस समय प्रकृति हमारे राग का मूल विषय नहीं होती वरन् उस राग को गहरा करने का साधन मात्र रह जाती है।

प्रकृति की गोद में पला हुआ मनुष्य अपने अंगों की सौन्दर्य-सुषमा की तुलना के लिए प्रकृति के व्यापक क्षेत्र से उपमान ग्रहण करता है। सारे विश्व में प्रकृति और मनुष्य के अतिरिक्त है ही क्या? फिर वह उपमानों की खोज कहाँ करे? उपमान तो अपने से भिन्न ही होगा। इस खोज में वह प्रकृति के साथ एक नया तादात्म्य स्थापित कर लेता है।

प्रकृति और मनुष्य का सम्बन्ध इतने में ही सीमित नहीं है। प्रकृति अपने नाना व्यापारों द्वारा मनुष्य को कुछ उपदेश दे कर उसके गुरु का भी काम करती है। विश्व-पुरुष प्रकृति के मौन सन्देश को अपनी भाषा में अनुवादित कर उससे प्रेरणा ग्रहण करता है। कवि अपनी कल्पना में इससे भी एक पग आगे जाता है। वह प्रकृति में मानवी भावों का आरोप कर उससे पूर्ण तादात्म्य प्राप्त कर लेता है। प्रकृति-प्रेयसी को वह अपना ही रूप प्रदान कर अपने रंग में रँग लेता है। छायावाद ने इसी दृष्टिकोण को अपनाया है। हमारे कविगण छायावाद से आगे बढ़ कर रहस्यवाद की ओर भी जाते हैं। रहस्यवादी कवि प्रकृति में मानवी रूप ही नहीं देखता वरन् उसमें और अपने में एक ही आत्मा का आभास पाता है। एकात्मवाद की आधार-शिला पर ही प्रकृति और मनुष्य का तादात्म्य सम्भव होता है। प्रकृति में परमात्मा के दर्शन होने लगते हैं। इस प्रकार साहित्य में प्रकृति-चित्रण के जितने रूप हैं उनमें हम प्रकृति के विषयगत अध्ययन से आरम्भ कर उसको नाना रूपों से आध्यात्मिकता प्रदान करते रहते हैं।

हिन्दी-साहित्य में प्रकृति के आलम्बन-रूप से वर्णन बहुत कम हुए हैं। वास्तव में संस्कृत में भी जो वर्णन आलम्बन-रूप से हुए हैं उनमें भी मानवी सम्पर्क है ही। मनुष्य अपने बाहर नहीं जा सकता। साहित्य में पूर्ण विषयगतता नहीं आ सकती; इसलिए आचार्य रामचन्द्र शुक्लजी ने भी प्रकृति का जहाँ कवि के निजी उत्साह के साथ संश्लिष्ट वर्णन देखा है वहाँ उसको आलम्बन-रूप से मान लिया है। आचार्य शुक्लजी ने स्वयं प्रकृति का जो वर्णन किया है उसमें आलम्बनत्व अधिक दिखाई देता है :—

भूरी हरी भरी घास, आस-पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों का, चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर, विरल, सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार॥

पंतजी ने भी शुक्लजी का-सा ही नहीं वरन् उससे कुछ अधिक कलामय रूप से अपनी 'ग्राम-श्री' कविता में पीली सरसों का वर्णन किया है :—

उड़ती भीनी तैलावत गंध, फूली सरसों पीली।
लो हरित धरा से झाँक रही, नीलम की कलि, तीसी नीली॥

सेनापति आदि कवियों ने यद्यपि प्रकृति-चित्रण उद्दीपन-रूप में ही किया है तथापि उनके वर्णन इतने सजीव और वास्तविकता लिये हुए हैं कि कहीं-कहीं उनमें आलम्बनत्व की झलक आ जाती है:—

वृष कौ तरनि तेज सहसौ किरन करि,
ज्वालन के जाल विकराल बरसत हैं।
तचति धरनि, जग जरत झरनि, सीरी,
छाँहि कौं पकरि पंथी पंछी बिरमत हैं।
सेनापति नैक दुपहरी के ढरत, होत
धमका विषम, ज्यौं न पात खरकत हैं।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौ पकरि कौनो
घरी एक बैठि कहूँ घामे बितवत हैं॥

प्रसाद ने भवभूति की भाँति प्रकृति के सौम्य और विकराल दोनों रूपों

का वर्णन किया है। प्रकृति के रम्य रूप हृदय में उत्साह उत्पन्न करते हैं और कराल रूप भय और आतंक। प्रकृति के सौम्य रूपों का वर्णन तो प्रायः सभी प्रकृति-प्रेमी कवियों ने किया है किन्तु विकराल रूप के चित्रण में विरले ही कौशल प्राप्त कर सके हैं। संस्कृत साहित्य में इस कार्य में भवभूति अधिक सफल हुए हैं। हिन्दी के कवियों में प्रसादजी की 'कामायनी' में ऐसे बहुत से चित्रण मिलते हैं।

उधर गरजतीं सिंधु लहरियाँ, कुटिल काल के जालों-सी,
चली आ रहीं फेन उगलती, फन फैलाये व्यालों-सी।
धँसती धरा, धधकती ज्वाला, ज्वालामुखियों के निश्वास,
और संकुचित क्रमशः उसके, अवयव का होता था ह्रास।

हिन्दी के कवियों ने प्रकृति का उद्दीपन-रूप से वर्णन चिरकाल से किया है। रस-रास में चाँदनी और मलय-समीर का तथा विरह में ऋतुओं तथा बारहमासा का वर्णन इसी प्रवृत्ति का फल है। उद्दीपन-रूप में प्रकृति की सुरम्य छटाएँ सुख की अनुभूति को तीव्र कर देती हैं और वियोग में वे ही दृश्य पूर्वानुभूत सुखों की याद दिला कर विरह वेदना को और भी विषमता प्रदान कर देते हैं। प्रसादजी ने मनु और कामायनी के मिलने के समय का भावानुरूप प्राकृतिक रूप से अंकित किया है:—

सृष्टि हँसने लगी, आँखों में खिला अनुराग
राग रञ्जित चन्द्रिका थी, उड़ा सुमन पराग।
और हँसता था अतिथि मनु का पकड़ कर हाथ
चले दोनों, स्वप्न पथ में स्नेह सम्बल साथ।

वियोग के दृश्यों से तो भक्तिकाल और रीतिकाल का काव्य भरा ही पड़ा है। प्रकृति पूर्वानुभूत सुखों की साक्षी बन कर हमारी स्मृति को सजीवता प्रदान करती है। स्मृति विरह पर एक प्रकार से सान चढ़ा देती है। विरह की दशा में सुखद वस्तुएँ भी दुःखद लगने लगती हैं:—

"बिनु गुपाल बैरिन भई कुंजैं।
तब ये लता लगति अति शीतल,
अब भईं विषम ज्वाल की पुंजैं।"

सूर की गोपियाँ वर्षा-ऋतु के उद्दीपनों पर इतना विश्वास करती हैं कि कृष्ण के न लौट आने के कारण उन्हें यह संदेह होने लगता है कि उस देश में वर्षा नहीं होती, न मेंढक तथा बक-पाँति आदि वर्षा के चिह्न ही वहाँ दिखाई देते हैं। इस पद में गोपियों की विरह भरी खीझ प्रकट होती है :—

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि
किधौं वहि इन्द्र हठिहि हर बरज्यौ, दादुर खाये शेषनि।
किधौं वहि देश बकन मग छाँड़यो, घर बूड़ति न प्रवेसनि।
किधौं वह देस मोर, चातक, पिक, बधिकन बधे विशेषनि।

वर्षा के घनश्याम को देख कर सादृश्य के कारण गोपियों को अपने घनश्याम का स्मरण हो आता है, यह स्मृति उनके विरह को और भी उद्दीप्त कर देती है, उत्प्रेक्षा के सहारे बादलों में कृष्ण के सब अंग उतर आते हैं:—

आज घनश्याम की अनुहारि।
उन आए साँवरे, सखि री! लेहि रूप निहारि।
इन्द्र-धनुष मनो पीत बसन छबि, दामिनि दसन विचारि।
जनु बगपाँत मालमोतिन की चितवत चित्त लेत हैं हारि।

इस प्रकार स्मृति को जाग्रत करना भी उद्दीपन का एक रूप है।

उपमानों के रूप में प्रकृति का प्रयोग तो साधारण भाषा में भी करना पड़ता है। चरण-कमल, हिम-धवल, भँवर-काले, कोकिल-कंठ आदि शब्द इसके प्रमाण हैं। कवि का प्रकृति से जितना गाढ़ा प्रेम होता है उतने ही सुन्दर वह उपमान खोज कर निकाल लेता है। कवि के उपमान जातीय संस्कृति तथा उसके निजी उत्साह के परिचायक होते हैं। कुछ कवि बँधे-बँधाये उपमानों का प्रयोग करते हैं, कुछ नवीन उपमानों से काम लेते हैं और कुछ पुरानों में ही नवीनता उत्पन्न कर देते हैं। बँधे-बँधाये उपमानों में मुख के लिए चन्द्रमा; नेत्रों के लिए मृग-शावक के से नेत्र, मीन या खंजन; नासिका के लिए तोता; ओष्ठों के लिए मूँगा, बिम्बाफल (कुन्दरू), बन्धूक या दुपहरिया का फूल; दाँतों के लिए अनार के दाने, कुन्दकली या मोती; बालों के लिए भौंरे, साँप या अन्धकार; सारे शरीर के लिए बिजली इत्यादि उपमान आते हैं। सूर ने तो

रूपकातिशयोक्ति के सहारे उपमानों का एक बाग सा खड़ा कर दिया है:—

अद्भुत एक अनूपम बाग।
युगल कमल पर गजवर क्रीड़त,
तापर सिंह करत अनुराग।

सूरदासजी कृष्णजी के अधरों की लाली के सम्बन्ध में उत्प्रेक्षा करते हैं—"मनो प्रात की घटा साँवरी; तापर अरुन प्रकाश।" इस प्रकार अलंकारों में भी प्रकृति और मानव का तादात्म्य हो जाता है। श्री मैथिलीशरणजी गुप्त रत्नाभरणों की शोभा के वर्णन में जुगनुओं का दृश्य उपस्थित करते हैं:—

रत्नाभरण भरे अंगों में ऐसे सुन्दर लगते थे।
ज्यों प्रफुल्ल बल्ली पर सौ-सौ जुगनू जगमग करते थे।

ऐसे वर्णनों में प्रकृति का स्थान गौण होते हुए भी मुख्यता प्राप्त कर लेता है। मालूम पड़ता है कि कवि अपने जीवन में जुगुनुओं के चामत्कारिक समूह से अवश्य प्रभावित हुआ होगा।

प्रकृति से उपदेश-ग्रहण की परम्परा बहुत प्राचीन है। गोस्वामी तुलसी-दासजी ने श्रीमद्भागवत के आधार पर वर्षा और शरद् के वर्णन में बहुत से नैतिक तथ्यों को प्रकाशित किया है:—

दामिनि दमक रही घन माँही, खल की प्रीति यथा थिर नाहीं।
बुन्द अघात सहैं गिरि कैसे, खल के बचन संत सह जैसे।

इन वर्णनों में मूर्त पदार्थों की अमूर्त विषयों से उपमा देने की आजकल की प्रवृत्ति है। प्रायः सभी अन्योक्तियाँ इसी प्रवृत्ति का फल हैं। हमारे यहाँ दीनदयालगिरि ने बहुत सी अन्योक्तियाँ लिखी हैं।

कवि तो स्वयं प्रकृति के रंग में कम रँगा जाता है किन्तु वह प्रकृति को भी अपने रंग में सराबोर रँग देता है। वह अपनी प्रसन्नता के लिए प्रकृति में मानवी भाव का आरोप कर लेता है। इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति का सम्बन्ध और भी घनिष्ठ हो जाता है। मनुष्य जब प्रकृति से सौन्दर्य के मान-दण्ड लेता है तब यदि बदले में उसे वह अपने भावों से सम्पन्न बना दे तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। यह आदान-प्रदान ही तो संसार में एक-सूत्रता

का तारतम्य स्थापित करता है। प्रकृति में मानवी भावों के आरोप की प्रवृत्ति कुछ नई नहीं है। जायसी ने प्रकृति को मनुष्य के साथ रुलाया है—

सरवर हिया फटत नित जाई। टूक-टूक होइकै बिहराई!

सूर में भी प्रकृति के मानवीकरण की प्रवृत्ति देखी जाती है। सूर की गोपियाँ मधुवन से पूछती हैं :—

मधुबन तुम कत रहत हरे।
बिरह वियोग श्यामसुन्दर के ठाढ़े क्यों न जरे!

वे मधुवन को भी अपना सा समझती हैं और कृष्ण के वियोग में उसे भी जला हुआ देखना चाहती हैं—'कामार्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु'—किन्तु सूर ने प्रकृति के उसी अंश को लिया है जिससे कृष्ण का संबंध था, जायसी की भाँति सूरज और पृथ्वी सबको नहीं रुलाया है। सूर ने यमुना का मानवीकरण किया है किन्तु उत्प्रेक्षा का प्रयोग कर अतिशयता के दोष से बच गये हैं।

हमारे आजकल के छायावादी कवियों ने प्रकृति को मानवी रंग में रँगने की विशेषता प्राप्त की है। यद्यपि यह प्रवृत्ति पुरानी है तथापि हमको शुष्क द्विवेदी-युग में भी श्रीधर पाठक की कविताओं में प्रकृति के मानवी रूप के दर्शन होते हैं। उनकी 'काश्मीर-सुषमा' इसका एक उदाहरण है। आजकल तो इस प्रवृत्ति की बाढ़ सी आ गई है। कहीं सन्ध्या को सुन्दरी का रूपक दिया जाता है जो आकाश से धीरे-धीरे चुप-चाप परी की भाँति उतरती है, कहीं जुही की कली शिथिल पत्रांक में सोती हुई नायिका के रूप में देखी जाती है और मलयानिल उसके साथ अठखेलियाँ करता है। किरण उषा सुन्दरी के कर का संकेत बन कर पृथ्वी पर आती है, तो झरना कान में कुछ गहरी बात कहता सुनाई पड़ता है। प्रकृति का वर्णन करते हुए महादेवीजी ने वसन्तरजनी को वधू बना कर उसको प्राकृतिक अलंकारों से सजाया है:—

तारकमय नव वेणी-बन्धन,
शीशफूल कर शशि का नूतन
रश्मि वलय सितघन अवगुण्ठन
मुक्ताहल अविराम बिछा दे;

चितवन से अपनी।
पुलकती आ वसंत रजनी।।'

श्री सुमित्रानन्दन पंत ने शारद-हासिन चन्द्र-ज्योत्स्ना को सोती हुई नायिका का रूप दिया है :—

नीले नभ के शतदल पर वह बैठी शारद-हासिन।
मृदु करतल पर शशि-मुख धर नीरव, अनिमिष, एकाकिन।

प्रकृति के मानवीकरण का आधार एकात्मवाद ही है। प्राकृतिक रहस्यवाद की आधार-शिला पर ही छायावाद ठहर सकता है। छायावादी कवियों के लिए प्रकृति में परमात्मा के दर्शन करना स्वाभाविक ही है। प्रकृति परम तत्त्व की अभिव्यक्ति बन जाती है। यह प्रवृत्ति जिज्ञासा से आरम्भ हो कर रूप-सौन्दर्य के रहस्यवाद तक पहुँच जाती है। प्रसादजी सारी प्रकृति में एक व्यापक जिज्ञासा देखते हैं :—

महानील इस परम व्योम में अन्तरिक्ष में ज्योतिमान।
ग्रह-नक्षत्र और विद्युत्कण किसका करते से संधान।

प्रकृति उनके लिए जड़ नहीं है वरन् चेतना का शरीर है। इस प्रकार मनुष्य और प्रकृति एकात्म तत्त्व में मिल कर एकाकार बन जाते हैं। यही अध्यात्मवाद प्राकृतिक रहस्यवाद के मूल में है। भौतिक को आध्यात्मिकता प्रदान करना ही कला की चरम परिणति है।

प्रकृति-चित्रण के इन वास्तविक रूपों के अतिरिक्त कुछ वर्णन ऐसे भी हुए हैं जिनमें निजी निरीक्षण का तो नितान्त अभाव रहता है; केवल नाम परिगणन कर कवि अपने ऊपर से प्रकृति-चित्रण का भार उतार लेता है। केशवदासजी ने विश्वामित्र के यज्ञ की रक्षा के लिए राम-लक्ष्मण को आश्रम के समीप वन की सैर कराई है। वहाँ वे यह भूल गये हैं कि 'एला, लवंग पुंगीफल और राजहंस' का विहार के जंगलों में होना असम्भव है। कवि सम्राट् हरिऔधजी ने उद्धव के ब्रज जाते समय सारे वृक्षों के नाम गिना दिये हैं, किन्तु ब्रज की प्रधान वस्तु करील को भुला दिया है। केशवदासजी ने पंच-वटी के वर्णन में 'अर्क' शब्द के साथ वहाँ अर्कौओं द्वारा प्रलयकाल के सूर्य

का प्रकाश करा दिया है। सेनापति ने भी दो-एक स्थानों पर श्लेष का चमत्कार दिखाने के लिए ऋतु-वर्णन किया है। इस प्रकार के वर्णन प्रकृति के वर्णन नहीं कहे जा सकते वरन् श्लेष के ही वर्णन कहे जायँगे। जब तक प्रकृति में मन रमे नहीं, उसके प्रति हृदय में उल्लास न हो, तब तक प्रकृति का वर्णन सहज नहीं है, वरन् कृत्रिम है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वर्तमान युग प्रकृति चित्रण के सम्बन्ध में अन्य युगों की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। प्रकृति को जितना आश्रय इस युग में मिला उतना और किसी युग में नहीं, प्रकृति-चित्रण में जितना हृदय का उल्लास आधुनिक कवियों में है उतना पिछले युग के कवियों में नहीं। वीर-गाथाकाल में कवियों की दृष्टि मानव विशेषतः राजपूताने के पारस्परिक संघर्ष की ओर अधिक रही। इस काल में यदि प्रकृति का चित्रण हुआ तो अलंकार-विधान और कुछ शृंगार के आश्रित उद्दीपन रूप से। भक्ति काल में प्रकृति का वर्णन राम और कृष्ण की विहार-स्थली के रूप में हुआ। अवतारी पुरुषों के सम्बन्ध से चित्रकूट और वृन्दावन की लता-कुंजों को भी पावनता मिल गई। शृङ्गारिक उद्दीपनों और अप्रस्तुत योजना में भी उसका अंकन हुआ, किन्तु उसको स्वतंत्र स्थान न मिल सका। रीति-काल में उसने बारहमासा और ऋतु-वर्णन का रूप धारण किया। उस काल में प्रकृति के प्रति उतना भी उत्साह न रहा जितना कि भक्तिकाल में था।

हरिश्चन्द्र युग में कुछ तो भक्तिभावना की पुनरावृत्ति के कारण और कुछ-कुछ बढ़ती हुई राष्ट्रीयता पर रोक थाम होने के कारण प्रकृति की ओर कुछ अधिक ध्यान गया लेकिन उसके प्रति उल्लास न उत्पन्न हो सका। द्विवेदीजी का दृष्टिकोण घोर कर्तव्यपरायणता का था। वे प्रकृति के सम्बन्ध तक में आलंकारिक रूप से भी शृंगारिक शब्दावली से बचना चाहते थे, इस लिए उस समय के वर्णनों में वह सरलता न आ सकी जो छायावादी युग में आई। श्रीधर पाठक और गुप्तजी फिर भी कुछ सरलता ला सके हैं। छायावादी युग में प्रकृति के चित्रण में शृंगार की दबी हुई भावनाओं को विकास मिला। कवियों की प्रकृति सहचरी ने उनके निराशा भरे हृदयों में एक नवीन उत्साह

का संचार किया और उनके जी की ऊब को मिटाया। यद्यपि प्रगतिवाद के प्रभाव से प्रकृति-चित्रण का कुछ ह्रास हो रहा है तथापि मानव और प्रकृति का चिर-सहचार इतना दृढ और प्रबल है कि बढ़ती हुई यांत्रिक सभ्यता भी उसके ऊपर विस्मृति का आवरण नहीं डाल सकती।

---

१५. साहित्य और जातीयता

साहित्य यद्यपि रचा व्यक्तियों द्वारा जाता है तथापि साहित्यिक व्यक्ति अपनी जाति का प्रतिनिधि होता है। साहित्यिक ही अकेला क्या, होते तो हैं सभी क्षेत्र के व्यक्ति हाँडी के एक चावल की भाँति अपनी जाति की परिपक्वता की मात्रा के परिचायक, किन्तु साहित्यिक में जातीय मनोवृत्ति की छाप इसलिए और भी उभर आती है कि वह स्वान्तःसुखाय तो लिखता ही है, उसे अपने श्रोता और पाठकों का भी ध्यान रखना पड़ता है। कवि या लेखक यथासम्भव लोकरुचि से बाहर नहीं जा सकता।

साहित्यिक लोकरुचि का प्रतिनिधि होता हुआ भी उसको गति-विधि देने में योग देता है। यदि ऐसा न हो तो समाज में उन्नति का द्वार बन्द हो जाय। स्वयं समाज भी स्थिर नहीं रहता। उसमें भी नवीन परिस्थितियों की प्रतिक्रियाओं द्वारा नवीन विचार उठते रहते हैं। कवि या लेखक रेडियो के से आकाशी (Aerial) की भाँति उन सूक्ष्मातिसूक्ष्म तरङ्गों को अपनी बढ़ी हुई संवेदन-शीलता के कारण ग्रहण कर उनको अपनी कला की अभिव्यंजना-शक्ति द्वारा समाज में प्रसारित कर देता है। इस कार्य में कवि नितान्त निष्क्रिय ग्राहक नहीं होता। वह अपनी ओर से भी बहुत कुछ देता है। वह अरुणशिखा (मुर्गे) की भाँति, होने वाले प्रभात की, अपनी बाँग द्वारा सूचना ही नहीं देता वरन् सूर्य के रथ को भी नई गति देता है। कबीर ने शूद्रों का पक्ष ले कर हिन्दू मुसलमान दोनों को निर्भीकता-पूर्वक डाँट-फटकार बतलाई। जायसी आदि प्रेम मार्गी सूफी कवियों ने अपने समाज की मान्यताओं को स्थित रखते हुए हिन्दुओं के प्रति उदारता और सौहार्द्र का परिचय दिया। कृष्ण-भक्त कवियों

ने कृष्ण-प्रेम में पारिवारिक बन्धनों को कुछ ढीला किया और स्त्री-स्वातन्त्र्य का सूत्रपात किया। उन्होंने शूद्रों की स्थिति को कुछ सुधारा और जीवन के माधुर्यपक्ष का उद्घाटन कर उसके प्रति आस्था उत्पन्न की। तुलसी ने गोरख, कबीर आदि के प्रभाव को कम कर के सामाजिक व्यवस्था की प्रतिष्ठा की और वैष्णव और शैव सम्प्रदायों में समन्वय-भावना को बढ़ाया। भक्त कवियों ने राज्याश्रय का तिरस्कार कर अपना जातीय व्यक्तित्व ही स्थापित नहीं किया वरन् स्वातन्त्र्य-भावना की भी वृद्धि की। भूषण ने शृंगारिक काल में वीर रस को जाग्रत किया। सफल कलाकार प्रायः निजी रुचि और लोक-रुचि का समन्वय कर लोक रुचि को दो-चार कदम आगे बढ़ाता रहता है। वह जातीय रूढ़ियों के गढ़ में से कुछ वातायन खोज निकालता है, उन्हीं में हो कर वह उस गढ़ के भीतर प्रवेश पा जाता है और जनता के लिए मुख्य द्वार नहीं तो छोटे-मोटे द्वार खोल देता है। फिर कवि या सुधारक का बताया हुआ मार्ग ही पगडंडी का रूप धारण कर लेता है और क्रमशः वह राजमार्ग में परिणत हो जाता है।

इस प्रकार साहित्य में समाज और व्यक्ति का लेन-देन चलता रहता है, फिर भी कवि अपने जातीय भावों की छाप को मिटा नहीं सकता। व्यक्तियों की भाँति जाति का भी व्यक्तित्व होता है और उसकी विशेष मनोवृत्ति होती है। यद्यपि कुछ बातों में मानव-हृदय एक-सा है तथापि देश-काल के अनुकूल प्रवृत्तियों और उनकी गति और बल की मात्रा में भेद रहता है। वही जातीय मनोवृत्ति बन जाती है। यह जातीय मनोवृत्ति भी एकरस नहीं रहती। इसका भी जल कभी स्वच्छ, कभी गँदला, कभी फूल पत्तियों और जलजीवों से संकुल और कभी उनसे रहित हो जाता है। जगत और संसार का अर्थ ही परिवर्तन-शीलता है। इस परिवर्तन-शीलता में सब कुछ नहीं बदलता है। यद्यपि गंगोत्री, हरद्वार, गढ़मुक्तेश्वर, सोरों, फर्रुखाबाद, कानपुर, प्रयाग, काशी और कलकत्ते की गंगाजी की धारा और जल की निर्मलता एक-सी नहीं फिर भी वह गंगाजल ही रहता है, इसी प्रकार जातीय मनोवृत्ति बदलती हुई भी अपना व्यक्तित्व कायम रखती है। साहित्य में उसी मनोवृत्ति की छाप रहती है। जातीय साहित्य का अभिप्राय यही होता है कि उसमें हमको जातीय मनोवृत्ति

का परिचय मिलता है।

जातीय मनोवृत्ति की छाया सब प्रकार के साहित्य में एक ही मात्रा की घनता में नहीं रहती; कहीं ज्यादा कहीं कम। महाकाव्यों में अधिक रहती है। प्रगीत काव्य में व्यक्तित्व का प्राधान्य रहता है, यद्यपि व्यक्ति में भी जाति की झलक रहती है। जिस प्रकार चीता अपनी पीठ पर की चित्तियों को बदल नहीं सकता उसी प्रकार व्यक्ति भी अपनी जातीय छाप मिटा नहीं सकता। विश्व की सम्पन्नता के लिए उस छाप को मिटाने की आवश्यकता भी नहीं है। इस प्रकार कवि या लेखक पर बहुत से प्रभाव होते हैं। वह बहुत-सी संपत्तियों का उत्तराधिकारी होता है।

कवि मनुष्य है। उसमें मनुष्यजाति की दुर्बलताएँ और कोमलताएँ होती हैं, जिनमें वह सारे मानव-समाज का साझीदार है। उसकी मनोवृत्ति का बहुत-कुछ अंश जातीय होता है, उस अंश में वह जाति का प्रतिनिधि होता है और उसमें समय के अनुकूल बदली हुई जातीय मनोवृत्ति का बदला हुआ रूप भी रहता है। इसके अतिरिक्त उसके निजी कवित्व की भी छाया रहती है। कवि का निजी कवित्व समाज की मानी हुई गति-विधि को निर्धारित करने में योग देता है। कविता में सब प्रभाव होते हुए भी यह उसके कवित्व पर निर्भर रहता है कि किन बातों को महत्त्व दे। कुछ में मानवमात्र की भावनाओं की झलक रहती है, कुछ में जातीय भावनाओं की छाप रहती है और कुछ शाश्वत बातों की ओर ध्यान न दे कर तत्कालीन समस्याओं को जाति की मनोवृत्ति के अनुकूल अधिक महत्त्व देते हैं और कुछ उस काल में आने वाले विदेशी रंग से रँग जाते हैं। कुछ ऐसे भी होते हैं जो 'सायर सिंह सपूत' की भाँति अपना नया मार्ग खोज निकालते हैं। इन सब रूपों में जातीय मनोवृत्ति का अन्तःस्रोत बहता ही रहता है।

भारत के स्वच्छ उन्मुक्त उज्ज्वल ज्योत्स्नामय तपोवनों में पोषित त्याग और आत्मा के विस्तार सम्बन्धी सिद्धान्तों की जो झलक भारतीय साहित्य में मिलेगी वह अन्यत्र नहीं। विदेशी साहित्य में संघर्ष और भौतिक समृद्धि की भावना अधिक है। हमारे साहित्य में उस समृद्धि को प्राप्त कर उसके त्यागने की भावना भी प्रबल है। अंग्रेज़ी साहित्य में ही Paradise Lost जैसी पुस्तक

सम्भव थी। हमारे यहाँ ईश्वर की प्रतिद्वन्द्विनी कोई प्रधान शक्ति नहीं है। हम लोगों में विद्रोह की भावना प्रबल है भी नहीं। मूर्ति-पूजा के विरोध के कारण मुसलमानों में नाटक का विकास न हो सका। हिन्दुओं में ईश्वरीय न्याय की भावना अधिक प्रबल है इसलिए हमारे प्राचीन साहित्य में दुःखान्त नाटकों का अभाव रहा।

हम और देशों की जातीय मनोवृत्ति को न ले कर भारतीय मनोवृत्ति की विशेषताओं पर ही ध्यान देंगे। भारतीय मनोवृत्ति की मूल धाराएँ संक्षेप में निम्न प्रकार हैं। उनकी झलक हमारे साहित्य में स्थान-स्थान पर मिलती है।

(१) **आध्यात्मिकता**—आत्मा की अमरता में विश्वास, आवागमन की भावना, भाग्यवाद से प्रभावित पुरुषार्थवाद, भौतिकता की अपेक्षा आध्यात्मिकता को महत्त्व देना आदि बातें इसके अंग हैं।

(२) **समन्वयबुद्धि**—धर्म, अर्थ, काम को अविरोध भाव से महत्त्व देना; ज्ञान भक्ति की एकता; ज्ञान, इच्छा और क्रिया का मेल, आदि इसके ही रूप हैं।

(३) **अहिंसा**—यद्यपि युद्धादि वर्णनों में हिंसा का प्रचुर वर्णन है तथापि महत्त्व अहिंसा, क्षमा, दया आदि सात्त्विक गुणों को ही दिया गया है।

(४) **आनन्दवाद**—दुःख को बौद्ध धर्म में अधिक महत्त्व मिला है किन्तु दुःख से निवृत्ति और स्थायी आनन्द की प्राप्ति यहाँ का मूल ध्येय रहा है। वर्तमान युग में कुछ परिस्थितियों के कारण और कुछ पाश्चात्य प्रभाव और बौद्ध धर्म के पुनरुत्थान से हमारे साहित्य में दुःखवाद का प्राधान्य हो गया है। वर्तमान कविता में दुःखवाद को अधिक आश्रय दिया अवश्य जा रहा है, किंतु उसमें भी आनन्द की झलक देखी जाती है।

(५) **प्रकृति-प्रेम**—भारतीय आध्यात्मिकता प्रकृति की विरोधिनी नहीं है वरन् भारतीय विचार-धारा में प्रकृति आध्यात्मिकता की पोषिका के रूप में स्वीकृत हुई है। हमारे यहाँ दोनों का सुन्दर सामंजस्य रहा है।

हमारी जातीय मनोवृत्ति का परिचय हमको वाल्मीकीय रामायण, रघुवंश महाकाव्य, शकुन्तला, उत्तररामचरित नाटक आदि प्रायः सभी प्राचीन साहित्य में प्रचुर रूप से मिलता है और वर्तमान काल का भी साहित्य उनसे बहुत अंश

में प्रभावित है। वाल्मीकीय रामायण के आदि में जो आदर्श पुरुष के लक्षण हैं, वे भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल हैं। रघुवंश में जो सूर्यवंशी राजाओं के गुणों का उल्लेख हुआ है, उनमें भारतीय आदर्शों की पूरी झलक पाई जाती है—

त्यागाय सम्भृतार्थानां सत्याय मितभाषिणाम्।
यशसे विजिगीषूणां प्रजायै गृहमेधिनाम्॥
शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥
रघूणामन्वयं वक्ष्ये तनुवाग्विभवोऽपि सन्।

अर्थात् दूसरों को दान देने के लिए ही जो सम्पन्न बनते थे और सत्य के लिए ही जो थोड़ा बोलते थे (मिथ्याभिमान के कारण नहीं), यश के हित ही विजय करते थे (धन और राज्य छीनने के लिए नहीं), सन्तानोत्पत्ति कर पितृ-ऋण चुकाने के लिए ही (कामोपभोग के लिए नहीं) जो गृहस्थ बनते थे, जो शैशव काल में विद्याध्ययन करते थे और यौवन में विषयों की इच्छा करते थे, वृद्धावस्था में मुनियों की वृत्ति धारण कर लेते थे और जो योग द्वारा स्वेच्छा से शरीर छोड़ते थे (आज-कल की भाँति 'रोगेणान्ते तनुत्यजाम्' नहीं थे) ऐसे रघुवंशियों के कुल का मैं (कालिदास) वर्णन करता हूँ, यद्यपि मेरे पास उनके योग्य वाणी का वैभव नहीं है। इस अवतरण में भारत की जातीय मनोवृत्ति का बड़ा सुन्दर चित्र है।

नश्वर शरीर के तिरस्कार की भावना रघुवंश आदि काव्यों में प्रचुरता से मिलती है। गुरु की प्रसन्नता के लिए नन्दिनी गौ की शेर से रक्षा के हेतु महाराज दिलीप कहते हैं कि यदि तुममें कुछ अहिंसा की मनोवृत्ति है तो मेरे यश-शरीर पर दया करो, नाश होने वाले पंचभूतों के बने हुए पिण्ड में मुझ जैसे लोगों की आस्था नहीं होती।

किमप्यहिंस्यस्तव चेन्मतोऽहं यशःशरीरे भव मे दयालुः।
एकान्तविध्वंसिषु मद्विधानां पिण्डेष्वनास्था खलु भौतिकेषु॥

कबीर, दादू, सूर, तुलसी तो सन्त और भक्त ही थे, उनमें वैराग्य हो तो कोई आश्चर्य नहीं, परम शृङ्गारी कवि बिहारी में भी संसार के प्रति मोह नहीं

था, वे भी उसमें एक परमात्मा के रूप को प्रतिबिम्बित देखते हैं।

आवागमन की भावना हमको रघुवंश, कादम्बरी, नैषध आदि अनेकों साहित्य ग्रन्थों में ओत-प्रोत मिलती है। शकुन्तला-दुष्यन्त जैसे पारस्परिक आकर्षण का आधार भी जन्मान्तर सम्बन्ध ही माना गया है। पतिव्रत की भावना (उसके लिए आज-कल के लोग चाहे जो कुछ कहें) हमारे साहित्य में प्रचुरता से पाई जाती है। सीताजी निर्वासित होने पर भी रामचन्द्र को दोषी नहीं ठहरातीं; वे अपने भाग्य को ही उसके लिए उतरदायी ठहराती हैं—

'ममैव जन्मान्तरपातकानां विपाकविस्फूर्जथुरप्रसह्यः'।

और यही संङ्कल्प करती है कि प्रसूति-कार्य से निवृत्त हो कर वे सूर्य की ओर दृष्टि लगा कर उनसे यही प्रार्थना करेंगी कि जन्मान्तर में भी राम ही पति रूप से प्राप्त हों और तब उनके साथ सम्बन्ध-विच्छेद न हो।

'भूयो यथा मे जननान्तऽरेपि त्वमेव भर्ता न च विप्रयोगः'।

पूर्वी देशों में अलङ्कार-प्रियता कुछ अधिक है; जिस प्रकार भारतीय नारियाँ आभूषणों को हमेशा पसन्द करती आई हैं वैसे ही कविगण भी कविता को अलङ्कारों से सजाने का प्रयत्न करते रहे हैं। इसीलिए जितने भाषा के अलङ्कार पूर्वी साहित्य में मिलते हैं उतने पश्चिमी साहित्य में नहीं।

समन्वय बुद्धि का परिचय हमको प्राचीन साहित्य में ही नहीं वरन् नवीन साहित्य में भी प्रचुरता के साथ मिलता है। 'साकेत' के राम पृथ्वी को स्वर्ग बनाने आये थे; वे तोड़ने नहीं, जोड़ने आये थे। प्रसाद जी की 'कामायनी' का, समरसता और समन्वयवाद में ही अन्त होता है। श्रद्धा मनु को पर्वतराज कैलाश पर ले जा कर वहाँ ज्ञान, इच्छा और क्रिया को पहले पृथक् रूप से दिखाती है, फिर उसकी मुसकराहट से वे तीनों चक्र मिल कर एक हो जाते हैं। उसी में प्रसादजी ने शिव के दर्शन किये हैं।

ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।
महा ज्योति रेखा सी बन कर श्रद्धा की स्मृति दौड़ी उनमें;
वे सम्बद्ध हुए फिर सहसा जाग उठी थी ज्वाला जिनमें।

स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे;
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।

समन्वयवाद आनन्दवाद दोनों एक ही आध्यात्मिकता के प्रतिफलन हैं। आत्मा सदा विस्तारोन्मुखी होती है। वह सदा अनेकता में एकता और एकता में अनेकता चाहती है। यही समन्वयवाद है। और यही आनन्दवाद का मूल है। 'भूमा वै सुखम्' पूर्णता में सुख है। काव्य की आत्मा रस भी हम को उसी भूमा या पूर्णता की ओर ही ले जाता है। जो आत्मा विस्तार चाहती है वह हिंसा को भी आश्रय नहीं दे सकती। अहिंसावाद को हमारे साहित्य में बड़े महत्त्व का स्थान प्राप्त है। इसी कारण रङ्गमञ्च पर हमारे यहाँ मृत्यु का दृश्य वर्जित किया गया है। नागपञ्चमी को सर्पों को भी दूध पिलाया जाता है। ये सब बातें अहिंसात्मक मनोवृत्ति की परिचायक हैं। महात्मा गांधी ने अहिंसावाद को और भी पुष्टि दी। उसकी छाया हमारे नवीन काव्यों में जैसे 'साकेत-संत' और 'वैदेही वनवास' में भरपूर दिखाई पड़ती है।

भारतवर्ष पर प्रकृति की विशेष कृपा रही है। यहाँ पर ऋतुएँ समय-समय पर आती हैं और अपने अनुकूल फल-फूल का सृजन करती हैं। धूप और वर्षा के समान अधिकार के कारण यह भूमि शस्यश्यामला हो जाती है। यहाँ की नदियाँ इस देश की पावनता को और भी बढ़ाती हैं। वे सदा कवियों के उल्लास का विषय रही हैं। सूर्योदय और सूर्यास्त अपनी स्वर्णमय आभा से आकाश को रंजित कर देते हैं। 'प्रथम प्रभात उदय तव गगने प्रथम साम-रव तव तपोवने।' यहाँ के पशु-पक्षी, लता-गुल्म और वृक्ष तपोवनों के जीवन का एक अंग बन गये थे। तभी तो शकुन्तला के पतिगृह जाते समय महर्षि कण्व वृक्षों से भी उसके जाने की आज्ञा चाहते हैं।

पीछे पीवति नीर जो पहले तुमको प्याय।
फूल 'पात तोरति नहीं गहने हू के चाय॥
जब तुम फूलन के दिवस आवत हैं सुखदान।
फूली अङ्ग समाति नहिं उत्सव करत महान॥

सो यह जाति शकुन्तला आज पिया के गेह।
आज्ञा देहु पयान की तुम सब सहित सनेह॥

यद्यपि पीछे के कवियों का प्रकृति-वर्णन परम्परा-पालन मात्र रह गया था फिर भी हमारे यहाँ बिना प्रकृति-वर्णन के कविकर्म पूरा नहीं होता है।

---

१६. वर्तमान हिन्दी कविता की प्रगति

हिंदी कविता का वर्तमान युग भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से आरंभ होता है। इस काव्य-गगन के नवेन्दु में विकास की आस भरी हुई थी। यद्यपि बाबू हरिश्चन्द्र ने ब्रजभाषा में ही कविता की थी तथापि उन्होंने उसमें सार-युक्त और शक्तिपूर्ण प्रयोग कर एक प्रकार की नवीनता उत्पन्न कर दी थी। उनके सत्प्रयत्न से ब्रजभाषा का संकुचित वातावरण मुक्तोन्मुख हो गया था। उन्होंने अलंकारों और नायिका-भेद के संकुचित वृत्त से निकलने के लिए देश-भक्ति और समाज-सुधार के द्वार खोल दिये थे। अँगरेजी राज्य के विस्तार के साथ जीवन की प्रतिद्वन्द्विता बढ़ी और युक्तिवाद का जमाना आया। दो सभ्यताओं के परस्पर संपर्क के कारण विचारों को भी उत्तेजना मिली। स्वामी दयानन्द और राजा राममोहन राय के विचारों ने देश में रूढ़िवाद के गढ़ ढाने का कार्य आरंभ कर दिया था। जो लोग प्रवाह में नहीं पड़ना चाहते थे, उन्होंने भी अपनी प्राचीन प्रथाओं की रक्षा के लिए युक्तिवाद का सहारा लिया। विचार-स्वातन्त्र्य और युक्तिवाद की भेरी बजने लगी।

इसका भाषा पर भी प्रभाव पड़ा। साहित्य में गद्य की वृद्धि होने लगी। ब्रजभाषा गद्य के लिए अनुपयुक्त थी। खड़ी बोली उठ खड़ी हुई। ब्रजभाषा शृंगार के बाहुल्य के कारण 'रतिश्रान्ता ब्रजवनिता' की भाँति सोती रही। खड़ी बोली साहित्य की भाषा हो गई। फिर लाघव और सुगमता का प्रश्न आया। गद्य और पद्य की एक सी भाषा होने की माँग हुई। इस माँग में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी अग्रसर हुए।

खड़ी बोली के प्रथम आचार्य होने का श्रेय द्विवेदी जी और श्रीधर

पाठक को है। द्विवेदी जी ने कविता में भी व्याकरण के नियमों का पूर्णतया पालन किये जाने पर जोर दे कर निरंकुश कवियों को भी अंकुश के शासन में लाने का प्रयत्न किया। इसके साथ-साथ उन्होंने कविता के क्षेत्र में राष्ट्रीय भावों का समावेश करने का प्रोत्साहन दे कर उसमें इतिवृत्तता का प्राधान्य कर दिया। भावुकता कुछ कम हो गई। शृंगार से ऊबे हुए युग में भावुकता की कमी होना आश्चर्यजनक न था। कई कारणों से खड़ी बोली कविता के प्रारंभिक रूप में कुछ कर्कशता भी थी। स्वयं द्विवेदीजी पर कुछ मराठी का प्रभाव था और यह प्रभाव उनकी प्रारंभिक कविता में झलकता है। पीछे से वे स्वयं सँभल गये और दूसरों को भी उन्होंने सँभाल लिया।

वर्तमान कविता की प्रगति का अध्ययन दो दृष्टियों से किया जा सकता है। एक भाषा और शैली की दृष्टि से दूसरा विचार की दृष्टि से।

खड़ी बोली पर उर्दू, हिन्दी और संस्कृत सभी का प्रभाव रहा है। इसलिए उसमें सभी शैलियाँ अपनाई गई हैं। खड़ी बोली और उर्दू का पारिवारिक सम्बन्ध है। उर्दू खड़ी बोली के आधार पर बनी है। उर्दू की बहरों में वह ठीक बैठ सकती थी। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने बहरों की प्रणाली में कविता की भी है। देखिए—

बात कैसे बता सकें तेरी,
है मुँह में लगे हुए ताले।
बावले बन गए न बोल सके,
बाल की खाल काढ़ने वाले।

इस शैली में व्यापकता अवश्य आ जाती है, इसको हिन्दू मुसलमान दोनों ही समझ सकते हैं; किन्तु हिन्दी के व्यक्तित्व के जाते रहने का भय रहता है। आकार का बहुत प्रभाव पड़ता है। उर्दू के आकार में हिन्दी उर्दू हो जाती है। इस प्रभाव से बचने के लिए संस्कृत छन्दों का प्रयोग किया जाता है। द्विवेदी जी ने इस प्रवृत्ति में अधिक प्रोत्साहन दिया। कुछ स्वामी दयानन्द के प्रभाव से और कुछ जातीयता के प्रचार से संस्कृत का अधिक प्रचार हो चला था, क्योंकि संस्कृत में जातीय संस्कृति शर्करावेष्टित मुरब्बे की भाँति

सुरक्षित थी। संस्कृत के वर्णवृत्तों का व्यवहार होने लगा । इसमें तुक से तो स्वतंत्रता मिल गई किन्तु वर्णों की नाप-तोल का बंधन मात्रिक छंदों से भी बढ़ गया। कविवर सुमित्रानन्दन पंत के शब्दों में यह कहना ठीक होगा कि वर्णवृत्त ऐसे समास, सन्धि और विभक्तिप्रधान शब्दों के लिए ही उपयुक्त हैं जो कि एक दूसरे के साथ कंधे से कंधा मिला कर ठसे हुए चलते हैं । इन छंदों का फल यह होता है कि क्रिया केवल हिन्दी की रह जाती है और लंबे-लंबे समास-युक्त शब्द संस्कृत के हो जाते हैं । पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय में यह प्रवृत्ति पूरी तौर से दृष्टिगोचर होती है। उनका प्रिय-प्रवास कहीं-कहीं बिलकुल संस्कृत का ग्रन्थ हो गया है। देखिए—

रूपोद्यान-प्रफुल्ल-प्राय कलिका राकेन्दु-बिम्बानना।
तन्वंगी कलहासिनी सुरसिका क्रीडाकला-पुत्तली।
शोभावारिधि की अमूल्य मणि सी लावण्य-लीलामयी।
श्री राधा मृदु-भाषिणी मृगदृगी माधुर्य-सन्मूर्ति थी॥

इस शैली में इतना गुण अवश्य है कि ऐसी रचनाएँ महाराष्ट्र, बंगाल, गुजरात आदि संस्कृत-प्रधान भाषा-भाषियों की समझ में सुगमता से आ सकती हैं। पर हिन्दी छन्दों में शब्दों को क्रीड़ा और नर्तन के लिए बहुत गुंजाइश रहती है। उन छन्दों में उनकी चपलता और सुन्दरता कायम रह सकती है। आज-कल वीर छन्द का बहुत आदर है। खड़ी बोली की कविता रोला, सवैया, हरिगीतिका आदि सभी छन्दों में हुई है । कुछ कविता ख्याल और लावनी के ढंग पर भी हुई है । श्रीधर पाठक, गोपालशरण सिंह, मैथिलीशरण गुप्त, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पांडेय आदि कवियों ने मात्रिक और वर्णवृत्त दोनों प्रकार के छन्दों में कविता की, और कहीं-कहीं अतुकांत कविता कर कविता को स्वतंत्रता की ओर बढ़ाया। हिन्दी छन्दों में कवित्त में अधिक स्वतंत्रता है, क्योंकि उसमें मात्राओं की गिनती नहीं होती अक्षरों की गिनती होती है। निराला जी और पन्त जी ने अक्षरों की गणना का भी नियम न रख मुक्त छन्द की सृष्टि की। उसमें मुक्त सरिता की सी लय-ताल-मय गति रहती है, प्रवाह ही उसका नियम है। ऐसे ही छन्द को रबड़ छन्द कहते हैं।

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग भरी स्नेह स्वप्न मग्न
अमल कोमलतन तरुणी जुही की कली,
दृग बन्द किये शिथिल पत्रांक में।

खड़ी बोली में माधुर्य लाने के लिए संस्कृत और ब्रजभाषा के शब्दों का व्यवहार किया जाता है। खड़ी बोली जो उदयकाल में थी अब नहीं है। अब उसमें संस्कृत के शब्दों का पुट अधिक रहता है। कहीं-कहीं भाषा बिलकुल बोल चाल की भी रहती है। संस्कृत के जो श्रुतिकटु शब्द होते हैं उनकी कमी की जा रही है, श्रुतिमधुर शब्दों का प्रयोग हो रहा है। खड़ी बोली की कविता अधिक संगीतमय होती जा रही है।

विचार के क्षेत्र में खड़ी बोली की कविता सर्वतोमुखी हो कर अपना अधिकार जमाती जा रही है। वर्तमान युग की तीन मुख्य विशेषताएँ हैं; देश-भक्ति, मानवगौरव तथा आन्तरिकता, और यही वर्तमान कविता को प्रभावित कर रही हैं। देश-भक्ति की जिस धारा का उद्गम भारतेन्दु जी से हुआ था उसने सारे देश को प्लावित कर दिया है। इसकी छाप सभी प्रकार के साहित्य पर पड़ी है। देशभक्ति के प्रभाव से प्राकृतिक वर्णनों को भी उत्तेजना मिली है। पं० श्रीधर पाठक की 'काश्मीर-सुषमा' में देश के शोभामय गौरव की झलक मिलती है। वर्तमान कविता में प्रकृति का वर्णन उद्दीपन रूप की अपेक्षा आलंबन रूप से अधिक होता है। अब प्रकृति का वर्णन प्रकृति के लिए ही होने लगा है और प्रकृति तथा मानव-समाज का बहुत कुछ आदान-प्रदान दिखाई देता है। नक्षत्र अनन्त के हृत्कंपन और फूल प्रकृति के हास बन गये हैं। प्रकृति में ईश्वरीय सत्ता का प्रमाण देखा जाने लगा है। मैथिलीशरण गुप्त, सनेही, माखनलाल चतुर्वेदी, बालकृष्ण शर्मा आदि कवियों ने प्राचीन गौरव-गरिमा, जातीय एकता, भारतमाता के शक्ति-शाली विशालतामय सौन्दर्य और संगठन आदि भावों का प्रचार कर देश में उठते हुए राष्ट्रीय भावों की पुष्टि की है। वर्तमान कविता में दुःखवाद का एक अन्तःस्रोत बह रहा है; यद्यपि उसमें राष्ट्रीयता प्रत्यक्ष नहीं है तथापि उसमें देश के क्रन्दन की प्रतिध्वनि

है। आधुनिक कविता में प्रकृति भी दुःख से व्यथित दिखाई पड़ती है—

गगन के उर में भी है घाव,
देखती ताराएँ भी राह,
बँधा विद्युत छवि में जलवाह,
चन्द्र के चितवन में भी चाह,
दिखाते जड़ भी तो अपनाव,
अनिल भी भरती ठंडी आह।

वर्तमान युग में भगवान् रामचन्द्र और कृष्णचन्द्र की भक्ति की पवित्र झाँकी भी दिखाई पड़ती है, किन्तु उसमें राष्ट्रीय भावों की झलक आ गई है। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय ने श्रीकृष्ण जी के प्रवास से दुःखी गोपिकाओं का करुण क्रन्दन सुनाया है, किन्तु 'प्रियप्रवास' के कृष्ण विलासी नहीं हैं; वे दीनों के रक्षक और सहायक के रूप में बतलाये गये हैं। इसी प्रकार श्रीरामचन्द्रजी पारिवारिक जीवन के आदर्श और संगठन की मूर्ति हैं। बाबू मैथिलीशरण जी ने 'साकेत' में रामोपासना की धारा को आगे बढ़ाया है। हनुमानजी से लक्ष्मणजी को शक्ति लगने का हाल सुन भरत जी ने तुरंत सेना तैयार करा कर भ्रातृ-स्नेह का परिचय दिया। सेना की तैयारी का वर्णन बड़ा उत्साहपूर्ण है। जिस प्रकार महारास के लिए गोपिकाएँ घर से निकल भागी थीं उसी प्रकार अयोध्यावासी रात ही में घर से निकल आये। गुरुवर वशिष्ठ जी ने दिव्य-दृष्टि से सब हाल दिखा कर सेना भेजना अनावश्यक कह दिया। यद्यपि इस युग में मुक्तक प्रगीत काव्य का प्राधान्य है तथापि कुछ उत्तमोत्तम महाकाव्य भी लिखे गये हैं। साकेत और प्रिय-प्रवास का ऊपर उल्लेख हो चुका है। कामायनी इस युग का गौरव-ग्रन्थ है। उसमें ज्ञान, इच्छा और क्रिया के समन्वय का संदेश है। साकेत-संत और वैदेही-वनवास गांधी जी की शांति-नीति से प्रभावित हैं। आजकल के महाकाव्यों में गम्भीर विचार-विमर्श के साथ प्रगीत तत्त्व भी पर्याप्त मात्रा में रहता है। 'साकेत', 'कामायनी' 'वैदेही-वनवास' सब में सुन्दर-सुन्दर गीत आये हैं।

ब्रजभाषा भी नितांत सोती नहीं रही। श्री सत्यनारायण, श्री रत्नाकर

और श्री वियोगी हरि ने ब्रजभाषा की बड़ी मनोरम कविता की है। रत्नाकर जी ने 'उद्धवशतक' में तो अधिकतर ब्रजभाषा की प्राचीन प्रथा को ही कायम रक्खा है, किंतु 'गंगावतरण' में कुछ नवीनता आ गई है। उन्होंने 'गङ्गावतरण' के अंत में भारतवर्ष की मंगल-कामना के लिए देवताओं से प्रार्थना की है। श्रीसत्यनारायण जी ने ब्रजभाषा में राष्ट्रीय भाव लाने का सराहनीय उद्योग किया है—

टिमटिमाति जातीय ज्योति जो दीप शिखा-सी।
लगत बाहरी ब्यारि बुझन चाहत अबला-सी॥
शेष न रह्यो सनेह कौ, काहू हिय में लेस।
कासों कहिए गेह को, देसहिं में परदेस॥
भयो अब जानिए॥

श्री वियोगी हरि ने भक्ति का पाठ पढ़ाते हुए भी वर्तमान आवश्यकताओं के अनुकूल वीर रस सम्बन्धी ७०० दोहे लिख कर 'वीर सतसई' का निर्माण किया। इस तरह ब्रज भाषा भी राष्ट्रीय प्रभाव से मुक्त नहीं रही।

वर्तमान युग की शेष दो विशेषताएँ अर्थात् मानव-गौरव और आंतरिकता यद्यपि सभी कविताओं में न्यूनाधिक रूप से वर्तमान हैं तथापि वह छायावाद में विशेष रूप से दिखलाई पड़ती हैं। शैली के सम्बन्ध में हम देख चुके हैं कि निराला जी के हाथ में छंद ने पूर्ण स्वच्छन्दता प्राप्त कर ली है। उस शैली में विशेष कर रहस्यवाद की कविता हुई है और अन्य विषयों की भी जो कविता हुई है उसमें एक प्रकार की आंतरिकता, स्वच्छंदता और अनन्तता, जो आध्यात्मिकता से प्रभावित है, दिखाई पड़ती है। छायावादियों के जो प्राकृतिक वर्णन होते हैं उनमें प्रकृति मानवीय भावों से ओत-प्रोत दिखाई देती है। उनमें कटी छँटी सीमा नहीं दिखाई पड़ती, छन्द की स्वतन्त्रता रहती है। रहस्यवाद और छायावाद एक ही आध्यात्मिक प्रवृत्ति के फल हैं। वास्तव में छायावाद पर कई प्रवृत्तियों का प्रभाव लक्षित होता है। वैष्णवों के गेय गीत जिनका सूर और तुलसी के बाद अन्त-सा हो गया था, अंगरेज़ी कवियों के भावात्मक पद्य (Lyrics), उर्दू कवियों का विरह-वर्णन, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की आध्यात्मिक

कविताओं का आदर, यूरोप का भौतिक ऐश्वर्य से ऊब कर आध्यात्मिकता की ओर झुकना और द्विवेदी युग की घोर क्रियात्मकता, इतिवृत्तता (Matter of factness) और शुष्कता की प्रतिक्रिया में प्रेम और कोमल भावों की जाग्रति—इन सब के प्रभाव से रहस्यवाद का उदय हुआ।

रहस्यवाद में गूँगे के गुड़ की भाँति आत्मा और ईश्वर के सम्बन्धों का संकेतात्मक वर्णन रहता है। इसमें वियोग का दुःख और मिलन का सुख दोनों ही दिखाये जाते हैं। इसीलिए इसमें आलोक और छाया दोनों रहती हैं और नीहार की सी अस्पष्टता आ जाती है। श्री जयशङ्कर प्रसाद, श्री निरालाजी, और श्री पन्तजी इस सम्प्रदाय के प्रतिनिधि कवि समझे जाते हैं। श्रीमती महादेवी वर्मा ने अपनी 'नीहार' 'रश्मि', 'सांध्यगीत' और 'दीपशिखा' में बड़ी सुन्दर आध्यात्मिक कविता की है।

वर्तमान कविता की आन्तरिकता ने आत्माभिव्यक्ति का रूप धारण कर लिया है। कविता में एक निजीपन आ गया है। यह बात वर्तमान कविता को रीतिकाल की कविता से पृथक् कर देती है। रीति-काल की कविता खाना-पूरी मात्र है। आजकल की कविता में व्यक्तित्व का प्राधान्य है, इसी कारण उसका झुकाव प्रबन्ध की अपेक्षा मुक्तक की ओर अधिक है।

वर्तमान कविता पर मार्क्सवाद और गांधीवाद दोनों का ही प्रभाव है किन्तु गांधीवाद का प्रभाव कुछ अधिक है। कामायनी में सरल जीवन की पुकार और यान्त्रिक सभ्यता का विरोध है। साकेत में निष्क्रिय प्रतिरोध की छाया है और अधिकारों की माँग है। साकेत-संत और वैदेही-वनवास आदि नवीन महाकाव्यों में गांधीजी का शांति का संदेश है।

इसी आन्तरिकता के फलस्वरूप आज-कल अमूर्त भावों का भी सुन्दर चित्रण होने लगा है। कामायनी में चिन्ता को 'अभाव की चपल बालिके' 'तरल गरल की लघु लहरी' कह कर उसका कैसा सुन्दर चित्रण किया है।

आधुनिक कवियों ने मानव-गौरव भी खूब गाया है। अब कविता के विषय राजा और रानी नहीं रहे; अब तो दीन-दुखिया, दलित, पतित, कुरूप, श्रमजीवी और पेट और पीठ की एकता रखने वाले अकाल-पीड़ित लोगों में एक

५.. सौंदर्य देखा जाता है। मनुष्य को मनुष्य होने के नाते गौरव दिया जाता है। आजकल की कविता में निवृत्ति की अपेक्षा संसार-सेवा के प्रवृत्ति-मार्ग पर अधिक बल दिया जाता है। बन्धन को ही मुक्ति के रूप में स्वीकार किया जाता है—

'तेरी मधुर मुक्ति ही बन्धन'। —पंत

वर्तमान कविता में कहीं-कहीं रूढिबद्ध नैतिक भावनाओं से भी विरोध प्रकट किया है। यह स्वतन्त्रता का आधिक्य है। आधुनिक युग की नवीनतम कविता समाज के दलितों-पीड़ितों का पक्ष ले कर प्रगतिवाद की ओर जा रही है। इसमें कटु यथार्थवाद का प्रभाव अधिक है। प्रगतिवाद ने यथार्थवाद के सहारे जीवन की वास्तविकताओं की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है किन्तु उसका क्षेत्र किसान मजदूरों में ही सीमित है। वह हमको वर्ग-संघर्ष की ओर ले जाता है। किन्तु अब उसके प्रति भी प्रतिक्रिया होती जा रही है। पंतजी जैसे मनीषी कवि आध्यात्मिकता और प्राचीन संस्कृति की ओर झुकते जा रहे हैं। वे पाश्चात्य जीवन-सौष्ठव के साथ पूर्वी जीवन-दर्शन चाहते हैं। स्वतन्त्रता के साथ अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्रों में भारत के शान्ति-दूत की गौरवपूर्ण स्थिति की झलक वर्तमान कविता में आती जा रही है।

वर्तमान कविता में छन्द की स्वतन्त्रता के साथ कविता के विषयों का भी विस्तार हुआ है। वर्णनों में नवीनता आ गई है। इसमें भविष्य के लिए शुभ लक्षण दिखाई देते हैं।

---

१७. वर्तमान हिन्दी कविता में अलंकारों का स्थान

यद्यपि कुछ आचार्यों ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना है, तथापि बहुमत से काव्य की आत्मा 'रस' अर्थात् आस्वादनजन्य आनन्द माना गया है। अलंकारों को 'उत्कर्षहेतवः' अर्थात् अच्छाई को बढ़ाने वाला कहा है। किन्तु काव्य के अलंकार सोने-चाँदी के अलंकारों की भाँति बिलकुल ऊपरी नहीं हैं जो पीछे से जोड़े जा सकें। उनका रस से घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु रस

बिना अलंकारों के सम्भव है पर अलंकार बिना रस के निमूर्ल्य हो जाते हैं। वे अच्छाई को बढ़ा सकते हैं, किन्तु जहाँ अच्छाई न हो वहाँ वे उसे उत्पन्न नहीं कर सकते। अच्छाई को भी तभी तक बढ़ा सकते हैं जब तक कि वे उचित सीमा का उल्लंघन न करें। सीमोल्लंघन करते ही वे भार-स्वरूप हो जाते हैं। कविता में पहले जान चाहिए तब अलंकार उसकी शोभा बढ़ा सकते हैं। बिना जान की कविता में अलंकार शव का शृंगार-स्वरूप बन जाते हैं। जहाँ स्वाभाविक सौन्दर्य है वहाँ अलंकार स्वयं आ जाते हैं, क्योंकि जिस हृदय के उल्लास से रस की सृष्टि होती है वही उल्लास अपने साथ अलंकारों को भी उत्पन्न करता है, किन्तु जहाँ उल्लास का अभाव हो और अलंकार केवल पांडित्य प्रदर्शन के लिए लाये जायँ वहाँ वे अस्वाभाविक हो जाते हैं।

यद्यपि अलंकार-प्रियता मनुष्य में स्वाभाविक है; तथापि जब वे साधन से साध्य बन जाते हैं तब वे काव्य की गति में बाधक होते हैं। जिस प्रकार अब समाज में रमणियों की शोभा उनकी स्वच्छता और सरलता में समझी जाती है—'सरलपन ही उसका मन'—और थोड़े पर हलके और सुन्दर आभूषण काम में लाये जाते हैं, उसी प्रकार कविता की भी शोभा उसकी स्वाभाविकता में समझी जाती है, और अलंकार भी थोड़े परन्तु हृदयग्राही ही उसकी शोभा को बढ़ाते हैं। कविता में अलंकार का नितान्त बहिष्कार तो नहीं हो सकता, क्योंकि अलंकार हमारी क्या सभी भाषाओं के अंग हो गये हैं। हम 'कविता-कामिनी,' 'गृहलक्ष्मी,' 'नरशार्दूल,' 'दम भरना,' 'हाथ मारना,' 'खींचतान' आदि अनेकों आलंकारिक शब्दों का पद-पद पर प्रयोग करते हैं; स्वयं 'पद-पद' भी एक अलंकार है।

अलकार शब्द वा अर्थ के चामत्कारिक प्रयोग माने गये हैं। अर्थ को व्यक्त करना भाषा का सबसे बड़ा चमत्कार है। इसलिए जो अलंकार अर्थ को व्यक्त करने में सहायक होते हैं, जो हमारी कल्पना के सामने मूर्तिमान चित्र अंकित करने की क्षमता रखते हैं, जो अलंकार किसी अज्ञात भाव को ज्ञान और परिचय के क्षेत्र में लाने में योग दे सकते हैं, अथवा जो स्वयं बहाव में आ जाते हैं वा जो कविता की गति को सुन्दर बनाते हैं, उन्हीं का आदर

है। अलंकार साधन मात्र हैं, साध्य नहीं। अब शब्दों के चमत्कार की अपेक्षा भावों के प्रभाव को अधिक महत्त्व दिया जाता है। लोगों को शब्द जाल में फाँसने का उद्योग नहीं होता। अब यमक और श्लेष का आदर नहीं रहा। आजकल 'नगन जड़ाती[1] ते वै नगन जड़ाती[2] हैं', 'तीन बेर[3] खाती ते वै तीन बेर[4] खाती हैं' की उतनी महिमा नहीं रही और न 'वह सुधाधर[5] तू हूँ सुधाधर[6] मानिए द्विजराज[7] तेरे द्विजराज[8] राजैं' में सौंदर्य की अभिव्यक्ति देखी जाती है। अनुप्रासों का मान ज़रूर है, क्योंकि उनका सम्बन्ध कविता की गति से है। अनुप्रासमय वाक्य सुनने में कानों को सुखद और उच्चारण में सुलभ प्रतीत होते हैं। एक से शब्दों की आवृत्ति के कारण श्रवण-तन्तुओं और मुख की पेशियों में परिवर्तन करने का परिश्रम नहीं करना पड़ता। 'सजा सुमनों के सौरभ हार', 'नवल प्रवाल', 'म्लानमना', 'वारि-विहार', 'तरल-तरंगों,' 'गरज गगन के गान', 'धूम-धुँआरे' 'काजर-कारे', 'कुसमित कानन' आदि सुन्दर अनुप्रास मिलते हैं। वर्तमान कविता में शब्दालंकारों की वृथा भरमार नहीं है, किन्तु उनका नितान्त अभाव भी नहीं है। यत्र-तत्र शाब्दिक चमत्कार देखने में आ जाते हैं।

'युग उड़ जावे उड़ते उड़ते'।
\+ \+ \+ \+
'इन्दु पर उस इन्दुमुख पर, साथ ही
थे पड़े मेरे नयन, जो उदय से,

---

१. नगन = नग का बहुवचन, रत्न; जड़ाती = गहनों में जड़वातीं। २. नगन = नग्न, वस्त्रों के अभाव से; जड़ाती = जाड़े में मरतीं। ३. तीन बेर = तीन बार; सुबह, दोपहर, शाम। ४. तीन = गिनती के तीन; बेर (उस नाम का फल)। ५. सुधाधर = सुधा + धर, सुधा का रखने वाला, चन्द्र। ६. सुधाधर = सुधा + अधर, सुधा है अधरों में जिसके। ७. द्विजराज = चन्द्रमा। ८. द्विजराज = दाँत। दाँत और चन्द्रमा दोनों ही दो बार उत्पन्न होने के कारण द्विजराज कहलाते हैं।

लाज से रक्तिम हुए थे—पूर्व को,
पूर्व था, पर वह द्वितीय अपूर्व था !'

अर्थालंकारों में साम्यमूलक अलंकारों का विशेष मान है क्योंकि वे भावों के चित्र खींचने में सहायक होते हैं। इसीलिए उपमाओं और मालोपमाओं की भरमार है। यह भरमार बुरी मालूम नहीं होती क्योंकि आजकल उपमाओं में नवीनता रहती है। उपमाएँ भी अब बाहरी नहीं वरन् भीतरी होती जाती हैं; प्राकृतिक चीज़ों के उपमान मानवीय भाव बनाये जाते हैं। छाया के लिए पन्त जी कहते हैं—

पीले पत्तों की शय्या पर
तुम विरक्ति सी, मूर्छा सी,
विजन विपिन में कौन पड़ी हो,
विरह-मलिन दुख-विधुरा सी।

ज़रा निराला जी द्वारा किया हुआ विधवा का वर्णन देखिए, कैसी पवित्रता की मूर्ति खड़ी कर दी है !

वह इष्ट-देव के मंदिर की पूजा सी;
वह दीप शिखा-सी शान्त, भाव में लीन
वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन।

यद्यपि प्रातःस्मरणीय गोस्वामीजी ने भी वर्षा-वर्णन में आध्यात्मिक उपमाएँ दी हैं; तथापि आजकल इनका प्रचार अधिक है। आजकल मूर्त वस्तुओं के लिए अमूर्त उपमान खोजे जाते हैं; किरण के लिए प्रसाद जी कहते हैं 'प्रार्थना सी झुकी'। ऐसे उपमानों में सादृश्य और साधर्म्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य अधिक रहता है—'अलकें बिखरीं ज्यों तर्कजाल', 'वनबाला के गीतों-सा निर्जन में फैला है मधुमास'। रूपक भी बड़े सुन्दर रचे जाते हैं, किन्तु इनमें भी नवीनता रहती है।

पड़ी अँधेरे के घेरे में कब से
खड़ी संकुचित है कमिलिनी तुम्हारी

मन के दिनमणि, प्रेम प्रकाश !
उदित हो आओ हाथ बढ़ाओ,
उसे खिलाओ खोलो प्रियतम द्वार
पहन लो उसका उपहार। —'निराला'

ऐसे वर्णनों में दुहरा रूपक रहता है ! प्रेमिका और प्रेमी का प्रेम जीव और ईश्वर के संबंध का रूपक हो जाता है।

उत्प्रेक्षाएँ भी आती हैं; किन्तु वे प्रतीयमान अधिक होती हैं। उनमें 'जिमि' आदि वाचक चिह्न कम रहते हैं।

कहीं-कहीं साधारण उपमाओं के अतिरिक्त उपमाएँ 'ललित' के रूप में भी मिल जाती हैं। इन में उपमेय को उपमान से ईर्ष्या अथवा उसका लज्जित होना बतलाया जाता है।

'यत्र तत्र विशाल कीर्ति स्तम्भ हैं,
दूर करते दानवों का दंभ हैं।'

उपमेय की विशेषता दिखाने वाले व्यतिरेक का उदाहरण 'साकेत' से ही लीजिए—

स्वर्ग की तुलना उचित ही है यहाँ
किन्तु सुर-सरिता कहाँ सरयू कहाँ ?
वह मरों को मात्र पार उतारती।
यह यहीं से जीवितों को तारती !

उपमेय को उपमान के रूप में बताने वाले प्रतीप का भी उदाहरण लीजिए—

संध्या फूली परम प्रिय की कान्ति सी है दिखाती।
पाया जाता वर वदन सा ओप आदित्य में है। —प्रियप्रवास

× × ×

उसी तपस्वी से लंबे थे देवदारु दो चार खड़े। —कामायनी

संदेह के भी उदाहरण बहुत मिलते हैं किन्तु उनमें भी नवीन कविता की अन्तर्मुखी वृत्ति का परिचय मिलता है। मानसिक अवस्थाओं के सम्बन्ध में

सन्देह आता है—

'विरह है या अखंड संयोग
शाप है या वरदान ?'

सम अलंकार में परस्परानुकूलता बताई जाती है, इसी कारण वह चित्त को अधिक प्रसन्नता देता है। इसके 'हौं प्रसिद्ध पातकी तू पाप पुंज-हारी' आदि प्राचीन उदाहरण बड़े सुन्दर हैं। इस अलंकार का नया रूप भी देखिए—

'तुम तुंग हिमालय शृङ्ग
और मैं चंचल गति सुर सरिता
तुम दिनकर के खर किरण जाल
मैं सरसिज की मुसकान...।'

इसमें तुम (ईश्वर) और मैं (जीव) का परस्पर स्वाभाविक सम्बन्ध बतलाया गया है। अन्योन्य में भी ऐसी ही परस्परानुकूलता रहती है।

उस बिन मेरा दुख सूना
मुझ बिन वह सुषमा फीकी —महादेवी

इसमें विनोक्ति भी है।

प्रहर्षण अलंकार में तो चित्त को प्रसन्नता होती ही है, विषादन भी हमारे भावों को तीव्रता देने के कारण आदरणीय समझा जाता है। देखिए मैथिलीशरणजी पंचवटी में लक्ष्मणजी से क्या कहलाते हैं—

रखते हैं हम सयत्न पुर में
जिन्हें पींजरों में कर बन्द
वे पशु पक्षी भाभी से हैं
हिले यहाँ स्वयमपि सानन्द।

यहाँ प्रहषण अलंकार है।

प्रधान अलंकार प्रायः सभी मिलते हैं। दो एक चमत्कार-पूर्ण 'अधिक' और 'विरोधाभास' के नमूने और देख लीजिए। अधिक अलंकार के वर्णनों में छोटे आधार में बड़ी चीज़ दिखाई जाती है।

'कथा है कण कण करुण अथाह
बूँद में है बाड़व का दाह।
लघु प्राणों के कोने में
खोई असीम पीड़ा देखो।'
\+ + +
'मछली में सागर तिरता है
सीपी में रत्नाकर है।
आँखों के आँगन में बस्ती
कोनों में सूने निर्झर।'

विरोधाभास के भी दो एक उदाहरण लीजिए—

'अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास।'

नये युग के साथ वर्तमान कविता में कुछ नये अलंकार भी आ गये हैं। जहाँ हम अँगरेज़ी के मुहावरों को हिन्दी में देखते हैं, वहाँ अँगरेज़ी के अलंकारों का भी अनुकरण पाते हैं। इन नवीन अलंकारों में विशेषण-विपर्यय (Transferred Epithet) और पुरुषत्वारोपण (Personification) अलंकार विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। जहाँ विशेषणों को उनके प्राकृतिक विशेष्यों से हटा कर उनसे सम्बन्ध रखने वाले दूसरे विशेष्यों में लगा कर चमत्कार उत्पन्न किया जाता है वहाँ विशेषण विपर्यय अलंकार होता है। जैसे 'निद्राहीन रात्रि'; मनुष्य निद्राहीन होता है, रात्रि नहीं। इसी तरह 'गीले गान'; नेत्र अश्रुओं के कारण गीले होते हैं, गान गीले नहीं होते; लेकिन गान में करुणा की व्यंजना करने के लिए 'गीले गान' कहते हैं। 'तुतले भय' 'अजान नयन' इसी के उदाहरण हैं। और लीजिए—

'कल्पने ! आओ सजनी उस प्रेम की
सजल सुधि में मग्न हो जावें पुनः।'

अँगरेज़ी भाषा के बहुत से अलंकार हमारे यहाँ की लक्षणा वृत्ति पर निर्भर हैं। 'सजल सुधि' आदि आलंकारिक शब्दों की लक्षणा के आधार पर

ही व्याख्या होगी। पुरुषत्वारोपण पहले भी हुआ करता था किन्तु इस नाम का विशेष अलंकार न था; अब उसका प्राचुर्य हो गया है। पहले भी प्राकृतिक पदार्थों में मानवीय भावों की व्यंजना रहती थी, अब वह व्यंजना ज़रा स्पष्ट हो गई है।

वर्तमान कविता में अलंकारों का तिरस्कार नहीं है, वरन् उनको हलका और स्वाभाविक बनाने का प्रयत्न किया गया है। अब न शब्द-जाल रचे जाते हैं और और न पूस माह में विरहिणी-तन-तापोत्थित लपटों द्वारा गुलाब-जल की शीशी को बीच में सुखा देने वाली अत्युक्तियाँ दिखाई पड़ती हैं; किन्तु इसी के साथ-साथ वर्तमान कविता ने प्राचीन कविता के सभी गुणों को किसी न किसी रूप में अपनाया है और उनमें सुखद नवीनता भी उत्पन्न की है।

---

१८. हिन्दी में हास्य-रस

किसी जाति के साहित्य में हम हास्य की मात्रा को देख कर उसकी सजीवता का अनुमान कर सकते हैं। यद्यपि 'हास्य क्या है' इस प्रश्न का उत्तर देना मनोविज्ञान के क्षेत्र में प्रवेश करना होगा, तथापि यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि हास्य में दो बातें मुख्य रहती हैं—एक किसी न किसी प्रकार की विपरीतता और दूसरी अप्रत्याशितता। वह अप्रत्याशितता ऐसा रूप लेती है जिससे चित्त का भार हलका हो जाता है। विपरीतता कहीं विरोध (Contrast) का रूप धारण कर लेती है और कहीं अनावश्यक अतिशयता का। हास्य के कई रूप हैं। उनमें दो मुख्य हैं (१) शुद्ध हास्य (Humour), जिसका उदय हृदय की फालतू उमंग और प्रसन्नता में होता है; (२) व्यंग्य (Satire), जो प्रायः किसी उद्देश्य से होता है, और वह अधिक व्यंजित रहता है। हिन्दी में दोनों के ही अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

प्राचीन हिन्दी-साहित्य में वीर और शृंगार के सहायक के रूप में तो हास्य-रस बहुत मिलता ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त स्वतंत्ररूप से भी थोड़ा बहुत पाया जाता है। हिन्दी-साहित्य में हास्यरस का सब से पहला स्वरूप अमीर

खुसरो (सं० १३१२-१३८१) की मुकरियों में मिलता है। मुकरियों में प्रसंग ऐसा बाँधा जाता है कि स्वभावतः यह आशा होने लगती है कि अन्त में 'पति' शब्द आवेगा, क्योंकि सारे लक्षण पति में घटते हैं, किन्तु पीछे से एक साथ किसी दूसरी वस्तु का नाम ले दिया जाता है और उसमें भी सारे लक्षण घट जाते हैं, जैसे—

जब मेरे मन्दिर में आवे, सोते मुझको आन जगावे।
पढ़त फिरत वह विरह के अच्छर, ऐ सखि, साजन ! ना, सखि, मच्छर।

इसमें ऊपर बताये हुए प्रायः सभी लक्षण मिल जाते हैं।

कबीर जी बड़े निर्भय सुधारक थे। हिन्दू-मुसलमान, दोनों ही की समान रूप से हँसी उड़ाते थे। उन्होंने जटाधारियों को बकरा बनाया है, मूँड़ मुँड़ाने वालों को भेड़ कहा है—

बार-बार के मूँड़ने, भेड़ न बैकुँठ जाय।

उन्होंने जोर से बाँग लगाने वाले मुसलमानों के खुदा को बहरा बना दिया है—

मसजिद भीतर मुल्ला पुकारे, क्या साहब तेरा बहिरा है।

ऊपर की पंक्तियों में हास्य की अपेक्षा व्यंग्य की मात्रा अधिक है।

सूरदास जी ने अपने वात्सल्य में भी कहीं कहीं हास्य का अच्छा पुट दिया है। माखन-चोरी में पकड़े हुए बालकृष्ण के उत्तर बड़े मनोरंजक हैं; कहीं तो वे कह देते हैं कि दही की मथनी से चींटी निकाल रहा था और कहीं कह देते हैं कि लड़कों ने उनके मुँह पर मक्खन मल दिया है। देखिये क्या ही अच्छा उत्तर है—

मैं जान्यौ यह घर अपनो है, या धोखे में आयो।
देखत हौं गोरस में चींटी, काढ़न को कर नायो॥

इन पंक्तियों में उत्तर की अप्रत्याशितता और बाल-चातुर्य पर हँसी आ जाती है।

सूर और नन्ददास की गोपियों ने कुब्जा के प्रति असूया भाव से प्रेरित हो कर भगवान् कृष्ण पर तीखे व्यंग्य कसे हैं—

मदन त्रिभंगी आपु हैं, करी त्रिभंगी नारि।

गोस्वामी तुलसीदास ने तो स्वयं हास्य-रस के देवता प्रमथेश महादेव जी के सम्बन्ध में हास्य किया है—

बर अनुहार बरात न भाई,
हँसी करयिहौ पर-पुर जाई।

इसमें वास्तविक परिस्थिति की प्रतिकूलता हमारी हँसी का कारण बनती है।

काम को जीतने का अभिमान करने वाले नारद जी को उन्होंने स्वयं काम का शिकार बना दिया। अपनी कामांधता में वे कैसे हास्यास्पद बन जाते हैं—

पुनि-पुनि मुनि उकसहिं अकुलाईं,
देखि दशा हरगन मुसकाईं।

वर्तमान समय में भी जो आवश्यकता से अधिक अपना दिखावा करता है या अपने को समझता है वह हास्य का विषय बन जाता है। हास्य ही ऐसे लोगों का इलाज है।

रामचरितमानस में लक्ष्मण-परशुराम-संवाद और रावण-अंगद-संवाद बड़े सजीव हैं। क्षत्रिय-दल-दमन के दर्प से पूर्ण रौद्ररस की मूर्ति परशुराम को लक्ष्मणजी ने वीरोचित निर्भयता के साथ खूब ही छकाया।

मातहि पितहि उरिन भये नीके, गुरुरिनु रहा सोच बड़ जीके।

इन पंक्तियों में हास्य के साथ व्यंग्य भी है। इसमें परिस्थिति की विपरीतता तथा परशुराम जी के क्रोध और गांभीर्य के साथ लक्ष्मणजी की लापरवाही और हलकेपन का सुखद विरोध दर्शनीय है।

रहीम ने तो स्वयं लक्ष्मीजी और भगवान् पर हाथ साफ किया है। लक्ष्मीजी की चंचलता के विषय में वे कहते हैं—

पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चंचला होय।

ऊपर की पंक्ति में एक भारी बात का हलका कारण बतलाया गया है।

'अकबर बीरबल विनोद' विख्यात ग्रन्थ है। किन्तु वह बहुत काल तक अलिखित रूप में ही रहा।

कविवर बिहारीलाल ने भी श्रीकृष्ण और राधिका की हँसी उड़ाई है। 'वृषभानुजा' और 'हलधर के वीर' में क्या ही उत्तम श्लेष है।

चिरजीवौ जोरी जुरै, क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि, ये वृषभानुजा, वे हलधर के वीर॥

जिस हास्यरस में वाक्-चातुर्य अधिक हो उसे अँगरेजी में Wit कहते हैं। ऊपर की पंक्तियों में शब्दश्लेष का चमत्कार है। ये पंक्तियाँ Wit का उदाहरण कही जा सकती है। ऐसे वर्णनों में शाब्दिक चमत्कार द्वारा हास्य उपस्थित किया गया है।

हिंदी-साहित्य का विकास ऐसे समय में हुआ जब मुसलमानों के आक्रमण शुरू हो गये थे। मारकाट के समय में या तो वीर-रस की जाग्रति होती है, या भक्ति और ज्ञान की। जब शान्ति का समय आया तब कवियों की प्रतिभा मुसलमानी तथा हिंदू-राजदरबारों की विलासप्रियता से प्रभावित हो गई। इसलिए शुद्ध और स्वतंत्र हास्य का उदय कुछ पीछे हुआ। जब उदय हो गया, तब सभी प्रकार के हास्य की पुष्टि हुई।

बेनी (सं० १६६०) आदि कवियों ने सूमों, वैद्यों और पेशकारों आदि की खूब हँसी उड़ाई है। ऐसी कविताओं द्वारा समाज पर अत्याचार करने वालों के प्रति दबे हुए विद्रोह को कुछ-कुछ निरापद रूप से विकास का मार्ग मिल जाता है और कवि और पाठक दोनों के मन का भार हलका हो जाता है। दयाराम के दिये हुए आमों का क्या ही अच्छा वर्णन है—

चींटी की चलावै को, मसा के मुख आय जायँ,
सांस की पवन लागे कोसन भगत है।
ऐनक लगाय मरु-मरु कै निहारे परैं,
अनु-परमानु की समानता खगत है।
बेनी कवि कहै हाल कहाँ लौं बखान करौं,
मेरी जान ब्रह्म को विचारिबो सुगत है।
ऐसे आम दीन्हें दयाराम मन मोद करि,
जाके आगे सरसों सुमेरु सों लगत है।

इस वर्णन में विपरीतता अतिशयता के रूप में आई है।

भारतेंदु बाबू हरिश्चन्द्र जी ने साहित्य के और सब अंगों के साथ हास्य की भी खूब पुष्टि की है। उनके 'अंधेरनगरी', 'वैदिकी-हिंसा हिंसा न भवति', 'पाखंड-विडंबना' आदि अच्छे प्रहसन हैं। 'अंधेरनगरी' में चूरन का लटका बड़ा मनोरंजक है। प्रतापनारायण मिश्र की कविताओं में भी हास्य के कहीं-कहीं अच्छे उदाहरण मिलते हैं। परन्तु जहाँ भारतेन्दु का हास्य सभ्य और सुसंयत था, वहाँ इनके हास्य में ग्रामीणता का पुट आ गया था। बूढ़े मुँह मुँहासे' भी एक अच्छा प्रहसन है। इस प्रकार धीरे-धीरे हास्य साहित्य में अपना स्वतंत्र स्थान पाता गया। आजकल के युग में उसका खूब विकास हुआ है। नाटकों में विदूषक द्वारा हास्य के दृश्य उपस्थित करने की चाल तो पहले से ही थी किन्तु अब सारे नाटक में हास्य की छीटें यत्र तत्र दी जाती हैं। हास्य के सभी अंगों को पुष्टि हुई है और उनके द्वारा मनोविनोद और समाज-सुधार दोनों ही में सहायता पहुँची है।

यह तो कहना कठिन है कि आजकल के हास्य-सम्बन्धी लेखकों में किसका प्रथम स्थान है, क्योंकि सब में कुछ न कुछ विशेषताएँ हैं, जिनमें वह दूसरों से बढ़े-चढ़े होते हैं, पर श्री अन्नपूर्णानन्द वर्मा के हास्यग्रन्थ अधिक लोकप्रिय हो रहे हैं। उनकी किताबों में—'मेरी हजामत', 'मगन रहु चोला', 'महाकवि चच्चा' और 'मंगलमोद' प्रमुख हैं। इन सब में उनकी प्रतिभा का क्रमशः विकास होता गया। 'महाकवि चच्चा' में बहुत ही शिष्ट और सुष्ठु हास्य है। उनमें इतिहास-लेखकों की खोज-पद्धति का अच्छा खाका खींचा गया है। वे लोग जो चाहें सिद्ध कर सकते हैं। जो लोग पद्य-मात्र लिखने को कविता समझते हैं और सब बातों को पद्य में कह देना ही कविप्रतिभा की इयत्ता मानते हैं, उनकी भी अच्छी हँसी उड़ाई है। बिल्ली तोते को ले जाती है, किन्तु पंडित जी नौकर को पद्य ही में पुकारते हैं—

> अरे पनरुआ, दौड़ बिलरिया ले गई सुग्गा
> तू मन मारे खड़ा निहारे जैसे भुग्गा।

'मेरी हजामत' में भोजन-भट्ट ब्राह्मणों की खूब खिल्ली उड़ाई गई है—

दावा बहुत है इल्मे रियाजी में आप को।
ब्राह्मन का पेट आके ज़रा नाप लीजिए॥

जी० पी० श्रीवास्तव भी सामान्य पाठकों में बहुत लोकप्रिय हैं। उन्होंने हास्यमय परिस्थितियों के उपस्थित करने में, फैशन के भूतों का भूत उतारने में, झेंपू लोगों की झेंप की हँसी उड़ाने में अच्छी कुशलता प्राप्त की है, किन्तु उनके हास्य में एक प्रकार का खोखलापन है। उनके हास्य में पंडितमोहिनी कला की अपेक्षा मूर्खमोहिनी विद्या अधिक है और साथ ही उद्र्पन का भी बाहुल्य है। इसमें केवल इनका कुसूर नहीं है, अधिकांश जनता की भी ऐसी ही रुचि है। पाठकों से रुचि साम्य रखने के कारण ही वे इतने लोकप्रिय हैं।

प्रसिद्ध हास्य रसावतार श्रीयुत जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी तो अब अदृश्य हो चुके हैं किन्तु उनके भाषणों का हास्य अब भी कानों में गूँज उठता है। पं० हरिशंकर शर्मा ने यद्यपि अन्नपूर्णानन्द जी और श्रीवास्तव जी के समान अभी ख्याति प्राप्त नहीं की तथापि उनका हास्य उच्चकोटि का है। गद्य में अनुप्रासों का बाहुल्य उनकी विशेषता है। उनके 'चिड़ियाघर' के 'चहचहाता चिड़ियाघर' नामक पहले अध्याय में वर्तमान कवियों की यशोलिप्सा का अच्छा खाका खींचा गया है। कवियों की कविता-कण्डु के साथ-साथ वक्ताओं की 'व्याख्यान-व्याधि' और वकीलों के 'वकालत-व्रण' के अजीब रोगों के बहुत ही अद्भुत नुस्खे उन्होंने बतलाये हैं। अँगरेज़ी लेखक 'स्विफ्ट' की भाँति जानवरों के वार्तालाप में मानव समाज की बुराइयों का दिग्दर्शन कराया है। उनमें व्यंग्य के अच्छे उदाहरण हैं। उनके 'पिंजरा पोल' में प्राचीन कवियों के परिहासमय अनुकरण (पैरोडियाँ) अच्छे हैं। देखिए तुलसीदास जी की भाषा में 'मोटर-कार' का क्या ही उत्तम वर्णन है—

सब यानन ते श्रेष्ठ अति, द्रुत गति गामिनि 'कार'।
धनिक जनन के जिय बसी, निस दिन करत बिहार॥
मंजुल मूर्ति सदा सुख दैनी। समुझि सिहावहिं स्वर्ग नसैनी॥
उछारत कूदत निकलत जाई। सब कहँ लागत परम सुहाई॥
पौं पौं करत सुहावति कैसे। मुनिमख संख बजावहिं जैसे॥

चारु चक्र-धारिनि मन भावन। कलरव करन विमोद बढ़ावन॥
छाँह करन हित छयेउ विताना। विचरत फिरति बरन धरि नाना॥

× × ×

वाहन कुल की परमगुरु, सब कहँ सुलभ न होय।
रघुबर की जिन पै कृपा, ते नर पावहिं तोय॥

स्वर्गीय पं० ईश्वरप्रसाद के 'चना चबेना' में भी इसी प्रकार के उत्तम परिहासमय अनुकरण मिलते हैं—

घन घमंड नभ गरजत घोरा। टका-हीन कलपत मन मोरा॥
दामिनि दमक रही घन माहीं। जिमि लीडर की मति थिर नाहीं॥

स्व० पं० बदरीनाथ भट्ट की 'चुङ्गी की उम्मेद्वारी' में वोट भिक्षा की खूब हँसी उड़ाई गई है और उनके 'विवाह विज्ञापन' प्रहसन में आज-कल के विवाह के पीछे दीवानों को अच्छी तरह छकाया गया है; उनकी चेष्टाओं का सजीव चित्र खींचा गया है।

पं० रामनारायण शर्मा के 'व्यंग्य-बवंडर' में कलयुगी सन्तों, स्वयंभू लेखकों और समालोचकों का अच्छा मज़ाक उड़ाया गया है। साधुओं का क्या ही अच्छा शब्द-चित्र है! देखिए—

मक्कर कर दुनिया ठगें, शक्कर पूरी खायँ।
लक्कर जरहिं अगिन में, फक्कर संत कहायँ॥

श्री शिवपूजन सहाय जी की 'दो घड़ी' नाम की छोटी सी पुस्तक में बड़ा सुन्दर साहित्यिक हास्य है।

इन पंक्तियों के लेखक ने अपने 'ठलुआ क्लब' में डाक्टर स्तोत्र द्वारा डाक्टरों की फीस और उनके शल्य-प्रहार की महिमा गाई है। देखिए—

"मुर्दे चीरते-चीरते आप का हृदय इतना कठोर बन जाता है कि मृत्यु आप के लिए साधारण-सी बात हो जाती है। शव-शय्या के पास आपका हृदय तनिक भी विचलित नहीं होता। आप योगी की भाँति स्थिर और अचल रह कर फीस की बातचीत करने में ज़रा भी संकोच नहीं करते...आप की रिश्वतें 'फीस' के गौरवशाली नाम से प्रख्यात हैं।"

उपर्युक्त वाक्यों द्वारा डाक्टरों की हृदयहीनता पर व्यंग्य किया गया है। मुर्दे चीरते-चीरते उनका हृदय मुर्दा हो जाता है। उनकी वीत-राग योगियों से तुलना कर विपरीतता द्वारा इन वाक्यों में हास्य की सृष्टि की गई है।

इन पंक्तियों के लेखक ने 'मेरी असफलताएँ' शीर्षक पुस्तक में स्वयं अपना ही उपहास किया है। श्री गोपालप्रसाद जी व्यास ने अपनी पत्नी को ही अपनी कविता का विषय बना कर हास्य की सृष्टि की है। इस हास्य में पाकिस्तान, कंट्रोल आदि राजनीतिक विषयों पर सुन्दर व्यंग्य है।

शृंगार के सहायक रूप दाम्पत्य हास-परिहास का उदाहरण हमको साकेत के आदि सर्ग में मिलता है। उसमें हास्य-व्यंग्य और वाक्‌चातुर्य सभी के अच्छे उदाहरण हैं।

आजकल हिन्दी में हास्य-रस के बहुत से ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं। 'ठोक-पीट कर वैद्यराज,' 'रायबहादुर,' 'आनरेरी मजिस्ट्रेट' आदि बहुत अच्छे प्रहसन लिखे गये हैं। स्वर्गीय द्विजेन्द्रलाल राय के बँगला से अनुवादित 'मूर्ख-मंडली' और 'सूम के घर धूम', बंकिमचन्द्र का 'चौबे का चिट्ठा' तथा श्री परशुराम जी के 'भेड़ियाधसान' और 'लम्बकर्ण' भी पठनीय हैं। आजकल कहानी साहित्य में हास्य रस का अच्छा समावेश होता जाता है। मुंशी प्रेमचन्द्र की 'मोटेराम' शीर्षक कहानी में भोजन भट्ट ब्राह्मणों पर अच्छा व्यंग्य है। निराला जी की 'सुकुल की बीबी' आदि अच्छी हास्य-प्रधान कहानियाँ हैं। हिन्दी में हास्य-व्यंग्य-प्रधान कई समाचार-पत्र भी निकल रहे हैं। उनमें मतवाला और नोक-झोंक विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

हास्य में सुरुचि की बड़ी आवश्यकता है। केवल धौल-धप्पा और पात्रों के उलटे-सीधे नाम रख देना ही हास्य नहीं है। हास्य साहित्यिक होना चाहिए। हर्ष है कि अब हिन्दी में हास्य क्रमशः परिमार्जित और निरापद होता जा रहा यद्यपि हिन्दी में हास्य रस का उतना अभाव नहीं है जितना कि डाक्टर नगेन्द्र जी ने अपने 'विचार और विवेचन' में माना है तथापि अच्छे हास्य की अपेक्षा-कृत कमी अवश्य है। इस कमी का कारण कुछ तो हिंसा वृत्ति का अभाव है (व्यंग्य में एक प्रकार की मानसिक हिंसा रहती है) और कुछ भाग्यवाद है।

भाग्यवाद के कारण लोग अपनी परिस्थिति पर सन्तोष कर लेते हैं। दूसरे लोग उसको हास्य की दृष्टि से देख कर उसकी कटुता को भूल जाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसा हास्य यहाँ कम देखने में आता है, फिर भी जो कुछ हास्य-प्रधान साहित्य रचा जा रहा है उससे यही आशा की जाती है कि शीघ्र ही हमारी हिन्दी हास्य-रस में किसी भाषा से पीछे न रहेगी।

---

१६. वैष्णव संप्रदाय का हिन्दी-साहित्य पर प्रभाव

यह बात सर्वमान्य है कि समाज और साहित्य एक दूसरे को प्रभावित करते रहते हैं। उनकी उन्नति भी पारस्परिक आदान-प्रदान पर बहुत कुछ अवलम्बित है। किसी समय की सामाजिक प्रगति तत्कालीन भौतिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक अवस्थाओं पर निर्भर रहती है। भारतवर्ष में जनता की रुचि साहित्य-निर्माण में बहुत बड़ा भाग रखती है। इस प्रकार भारतवर्ष में धर्म और साहित्य का चोली-दामन का साथ रहा है।

यह जानने के लिए कि वैष्णव धर्म ने किस प्रकार हिन्दी-साहित्य पर अपनी छाप डाली, हमको भारतवर्ष में धार्मिक इतिहास पर क्षणिक दृष्टिपात करना होगा। ईसा मसीह से छः-सात सौ वर्ष पूर्व हिन्दू धर्म में ज्ञान और उपासना की धाराओं के अतिरिक्त जो कर्मकांड की धारा बहती थी वह पशु वध के रुधिर से कलुषित हो रही थी। दर्शन-शास्त्रों ने इस हिंसावाद के विरुद्ध जो आवाज उठाई थी उसके अतिरिक्त धर्म की जटिलता की प्रतिक्रिया-रूप में एक विचार-स्वातन्त्र्य की धारा बहने लगी थी। जैन धर्म और बौद्ध धर्म का उदय इसी विचार-स्वातन्त्र्य के कारण हुआ। बौद्ध-धर्म का कई सौ वर्ष तक बोलबाला रहा। वह राजधर्म भी बन गया था। बौद्ध-धर्म ने हिन्दू धर्म को दबा अवश्य लिया था, परन्तु वह उसका उन्मूलन नहीं कर सका था। साथ ही साथ भगवान् वासुदेव की उपासना और शिव-पूजा भी चल रही थी। बौद्ध-धर्म हिन्दू-धर्म की उदारता एवं अन्य स्वाभाविक नियमों के कारण हिन्दू धर्म में मिलने-जुलने लगा और तान्त्रिक संप्रदायों से मिल कर उसने एक नया रूप

धारण कर लिया जो महायान के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस क्रिया में बौद्ध धर्म का प्रारम्भिक उत्साह नष्ट हो गया था और उसमें वह चरित्रबल भी न रहा था। कर्मकांड का भी पुनरुज्जीवन हो चला था। ऐसे ही समय में गौड़-पादाचार्य के शिष्य श्री शंकराचार्य ने ईसा की आठवीं शताब्दी में ब्रह्मवाद और मायावाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन कर बौद्ध धर्म एवं कर्मकांड का प्रभाव हटाया।

शंकराचार्य की बुद्धि की प्रखरता के कारण खंडनात्मक कार्य तो बहुत सफल हुआ किन्तु शुष्क निर्गुणवाद लोगों के हृदय में स्थान न पा सका। इस निर्गुणवाद में हृदय के भावों के लिए कम स्थान था। मनुष्य स्वभाव से उपासना-प्रिय है। बौद्ध धर्म भी आचार-धर्म न रह कर उपासना-धर्म बन गया। ऐसी अवस्था में जनता को ऐसे धर्म की आवश्यकता थी जो संसार की वास्तविकता, आचार की दृढ़ता और भक्ति का प्राधान्य स्थापित कर उसके हृदय को भी संतोष दे। ऐसी ही परिस्थिति में दक्षिण भारत में श्री रामानुजा-चार्य (जन्म सवत् १०७४) का उदय हुआ। उन्होंने अद्वैतवाद के स्थान में विशिष्टाद्वैत मत का प्रतिपादन किया। इसके द्वारा उन्होंने संसार की सत्यता बतलाई। परमात्मा को नारायण रूप में मान कर उपासना और भक्ति को स्थान दिया। उनकी शिष्य-परम्परा में चौदहवीं शताब्दी में स्वामी रामानन्द जी हुए, जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना पर ज़ोर दे कर एक बड़ा भारी संप्रदाय खड़ा किया। इन्होंने धर्म को संकुचित न रख शूद्रों को भी दीक्षा दी। गोस्वामी तुलसीदास भी इन्हीं के संप्रदाय के बाबा नरहरिदास के शिष्य थे। कबीर ने स्वयं इनसे दीक्षा ली थी।

रामानन्द के द्वारा साहित्य में दो शाखाओं का उदय हुआ। एक रामोपासना की, जिसका सूत्रपात तुलसीदास जी से हुआ और दूसरी सन्तवाणियों की, जिसका सूत्रपात कबीर से हुआ। कबीर भी रामोपासक थे, किन्तु अधिकतर नाम के ही उपासक थे और ज्ञान-कांड की ओर अधिक झुके हुए थे।

जिस प्रकार रामानुजाचार्य के संप्रदाय से रामोपासना को उत्तेजना मिली उसी प्रकार निंबार्काचार्य, वल्लभाचार्य (जन्म सं० १२५४), मध्वाचार्य

(जन्म सं० १२५४) और चैतन्य महाप्रभु (जन्म सं० १५४२) के सिद्धान्तों से कृष्णोपासना को उत्तेजना मिली। निंबार्काचार्य तैलंग थे, वल्लभाचार्य भी दाक्षिणात्य थे (जब इनके माता पिता तीर्थयात्रा कर रहे थे, तब इनका जन्म बनारस में हुआ था) और मध्वाचार्य भी दाक्षिणात्य थे। श्री चैतन्य महाप्रभु ने इन्हीं के सम्प्रदाय में दीक्षा ली थी। इस प्रकार भक्ति की सरिता दक्षिण से उत्तर को बही, उन्होंने उत्तर के ऋण को पूरी तौर से चुकाया। यद्यपि चैतन्य महाप्रभु बंगाल-निवासी थे, तथापि कृष्णोपासक होने के कारण कृष्ण की जन्मभूमि मथुरा वृन्दावन को ही इन्होंने अपना केन्द्र बनाया था।

उपर्युक्त संप्रदायों के अनुयायी राम और कृष्णरूप विष्णु के अवतारों को मानने के कारण वैष्णव कहलाते हैं। मध्वाचार्य के द्वैतवाद सम्बन्धी दार्शनिक सिद्धान्तों से कृष्णोपासना रूप में भक्तिवाद को पर्याप्त सहायता मिली। चैतन्य संप्रदाय ने तथा अन्य वैष्णव संप्रदायों ने भगवन्नाम-कीर्तन को प्रधानता दे कर संगीत को महत्ता दी। चैतन्य महाप्रभु ने जयदेव के गीतगोविंद और विद्यापति के पदों को अपना कर गीतकाव्य का प्रचार बढ़ाया। ये लोग कृष्ण भगवान् के ऐश्वर्य के उपासक नहीं थे, वरन् माधुर्य के उपासक थे, इसलिए कृष्णोपासक वैष्णव संप्रदायों में भगवान् की बाललीला और शृङ्गारलीला का प्राधान्य हो गया। बंगाल में विद्यापति और चंडीदास ने श्रीकृष्ण और राधिका के प्रेम का वर्णन कर उनको नायक-नायिका का रूप दे दिया था। इन सब बातों का प्रभाव ब्रज-मंडल के काव्य पर पड़ा। ब्रज की भाषा स्वभावतः मधुर और ललकती होने के कारण शृंगार और वात्सल्यभाव का उत्तम माध्यम बन गई। शान्त भाव के अतिरिक्त दांपत्य भाव, वात्सल्यभाव, दास्य और सख्यभाव (जिसमें सखी भाव भी शामिल था) वैष्णव उपासना के प्रकार बन गये। लोग अपनी रुचि के अनुकूल इन्हीं भावों में से किसी एक भाव को अपनाने लगे। वैष्णव धर्म में मनुष्य विष्णुरूप परमात्मा से सम्बन्ध स्थापित करना चाहता है। जो सम्बन्ध मनुष्यों में प्रचलित हैं उन्हीं सम्बन्धों में वैष्णव-भक्त परमात्मा को देखने लगे।

क्रमशः भक्तिवाद की वृद्धि हुई और भक्ति के भी नौ प्रकार हो गये,

जो नवधा भक्ति के नाम से विख्यात हैं। सोलहवीं-सत्रहवीं शताब्दी की राज-नीतिक अवस्था भी साहित्यिक-वृद्धि के अनुकूल थी। मुगल साम्राज्य की जड़ जम गई थी। देश में बहुत हलचल नहीं थी और अकबर हिन्दू और हिन्दी को अपनाना भी चाहता था।

वैष्णव धर्म के प्रेम और भक्ति-सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिए ब्रजभूमि और ब्रज-भाषा उर्वरा भूमि मिली। यद्यपि ब्रज में कृष्णोपासना के लोकगीत पहले से वर्त्तमान थे तथापि बँगाल के प्रभाव से तथा कीर्तन में संगीत के प्राधान्य से गाने के योग्य पद बनाये जाने में विशेष उत्तेजना मिली। प्रेम के वर्णन में नायक-नायिकाओं का भी भेद चल पड़ा और उसकी छाप हिन्दी-काव्य पर बहुत दिनों तक रही। पहले तो यह वर्णन केवल आध्यात्मिक भाव से ही होता था। इसमें माधुर्य भाव ने और भी उत्तेजना दी। ऐश्वर्य की उपासना मनुष्य की आत्मा को एक प्रकार से नीचा करती है, वह दबाव की उपासना है। माधुर्य की उपासना प्रेम की उपासना होने के कारण स्वतन्त्र समझी गई है। लोग इस मूल-भाव को भूल गये और शृंगारोपासना यहाँ तक बढ़ गई कि सिवाय राधा और कृष्ण के दैवी नाम के उसमें आध्यात्मिकता बिलकुल न रही। राधा और कृष्ण का नाम भौतिक वासना को एक दैवी रूप देने का बहाना बन गया। यह शृंगार भाव ऐसा दृढ़ हो गया कि इसने थोड़ा बहुत रामोपासना पर भी प्रभाव डाल दिया। रामचन्द्र जी का भी कालिन्दीकूल के स्थान में सरयू-तट का विहार कवियों की कल्पना का विषय बन गया। यही प्रेमभाव बढ़ते-बढ़ते आलंकारिक साहित्य का भी जन्मदाता हो गया। शुद्ध स्वाभाविक प्रेम का उत्कर्ष बढ़ाने के लिए नाना प्रकार के कृत्रिम अलंकारों का प्रयोग होने लगा और नायक-नायिकाओं का विस्तार बढ़ने लगा। समस्त शृंगारी काव्य में, यहाँ तक कि सन्तों के और वर्तमान रहस्यवाद में भी वैष्णव धर्म की छाप दिखाई पड़ती है। आधुनिक युग के रहस्यवादियों में अग्रगण्य कवीन्द्र रवीन्द्र पर वैष्णव कवियों का बहुत प्रभाव है। निर्गुण धारा के प्रवर्तक वैष्णव धर्म से बहुत प्रभावित थे। उन्होंने शाक्तों के गाँव की अपेक्षा वैष्णव की झोंपड़ी को महत्ता दी है।

अब यहाँ पर रामोपासक और कृष्णोपासक कवियों का थोड़ा-सा वर्णन कर देना अनुपयुक्त न होगा।

रामोपासक कवियों में गोस्वामी तुलसीदास मुख्य हैं। रामचन्द्र जी की जन्मभूमि अवध में होने के कारण तुलसीदासजी ने अवधी भाषा को अपनाया था। तुलसीदासजी ने सूरदास जी के ही अनुकरण और प्रभाव से ब्रज-भाषा के पदों की भी रचना की थी। दूसरा नाम जो राम-काव्य के सम्बन्ध में आता है, वह केशवदासजी का है। इन्होंने आचार्यत्व और पांडित्य का प्रदर्शन अधिक किया है, इसी कारण इनकी रामचन्द्रिका जनता में प्रचार न पा सकी। प्रिया-दास ने भी रामोपासना सम्बन्धी ग्रन्थ लिखे हैं। राजा रघुराजसिंह, रसिक बिहारी आदि और कई कवियों ने भी रामचरित लिखा। रामोपासक कवियों की परंपरा में पंजाबी कवि हृदयरामजी का नाम अच्छा स्थान पाता है। उन्होंने रामचरित नाटक-रूप में लिखा था। वर्तमान काल में श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' लिख कर रामोपासना की परंपरा को जीवन प्रदान किया है।

कृष्णोपासक कवियों में महात्मा सूरदास, मीरा और रसखान का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

कृष्णोपासक संप्रदायों में पाँच मुख्य हैं। (१) वल्लभ संप्रदाय,, (२) राधावल्लभीय संप्रदाय, (३) गौड़िया संप्रदाय, (४) टट्टी संप्रदाय, (५) निंबार्क संप्रदाय। हरेक संप्रदाय के अलग अलग कवि हुए हैं।

(१) वल्लभ संप्रदाय—सूरदास, कृष्णदास, परमानन्ददास और कुम्भनदास, ये चार कवि स्वयं वल्लभाचार्य के शिष्य थे और चतुर्भुजदास, नंददास, गोविंदस्वामी और छीतस्वामी उनके सुपुत्र श्री विट्ठलनाथजी के शिष्य थे। विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोकुलनाथ जी ने इन कवियों का वर्णन ब्रजभाषा गद्य में लिखा है। वल्लभ संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना है, इसी कारण सूरदास ने बाल-चरित्र का वर्णन बहुत ही विशद रूप से किया है। ऐसा उत्तम वर्णन शायद ही किसी साहित्य में हो। रसखान और भारतेन्दु हरिश्चन्द्र भी इसी संप्रदाय के हुए हैं।

(२) राधावल्लभीय संप्रदाय—इसके प्रवर्तक श्री हितहरिवंश जी

थे। इनका जन्म वाद ग्राम में संवत् १५३० में हुआ था। कहा जाता है कि स्वयं राधिका जी ने इनको मन्त्र दीक्षा दी थी। इनके मतानुसार राधिका जी को स्वयं भगवान से भी अधिक प्रधानता देनी चाहिए, क्योंकि भगवान भी उनके वश में हैं। हितहरिवंश जी के ८४ पद भाषा के प्रवाह और माधुर्य में बहुत ही श्रेष्ठ हैं। ध्रुवदास जी और वृन्दावन चाचा जी भी इन्हीं के संप्रदाय के हैं।

(३) गौड़िया संप्रदाय—इस सम्प्रदाय के कवियों पर बङ्गाली वैष्णवों का अधिक प्रभाव है। गदाधर भट्ट, ललित किशोरी और ललित माधुरी (जिन महानुभावों का मन्दिर साह जी साहिब के नाम से प्रख्यात है) इस संप्रदाय के मुख्य कवि हुए हैं। श्री हरिराम ब्यास जी का भी कुछ दिनों गौड़ संप्रदाय से संबंध रहा था।

(४) टट्टी संप्रदाय—इसको सखी संप्रदाय भी कहते हैं। इसके प्रवर्तक स्वामी हरिदास संगीत में बड़े निपुण थे। कहा जाता है कि ये तानसेन के गुरु थे। इन्होंने भी अच्छे पद बनाये हैं। श्री सहचरी शरण जी और श्रीभगवत रसिक जी भी इसी संप्रदाय के कवि हुए हैं।

(५) निंबार्क संप्रदाय—श्री घनानन्द जी इस संप्रदाय के मुख्य कवि हुए हैं।

वर्तमान समय में भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र, रत्नाकरजी, उपाध्याय जी, सत्यनारायण जी और वियोगी हरि जी ने कृष्ण काव्य की परंपरा को जीवित रक्खा है। संक्षेप में वैष्णव-धर्म का प्रभाव हिन्दी साहित्य, विशेष कर ब्रज-भाषा और अवधी, पर पूरे तौर से है। वैष्णवधर्म ने ही हिंदी साहित्य-गगन के सूर्य सूर, सुधाधर तुलसीदास और उडुगण केशवदास को जन्म दिया है। इनकी रचनाएँ वैष्णव-धर्म की अमूल्य संपत्ति हैं। रीति काल के कवि भी वैष्णव धर्म से प्रभावित थे। हिन्दी साहित्य में सूरदास से लेकर ३०० साल तक इन्हीं वैष्णव कवियों का दौर-दौरा रहा। भक्ति के इसी अनूठे प्रवाह में तत्कालीन मुसलमान कवि भी बह गये। रहीम, रसखान, आलम, ताज आदि मुसलमान कवियों ने भी राम और कृष्ण की उपासना में सुन्दरतम कविताएँ

लिखी हैं। हिन्दी साहित्य वैष्णव-धर्म का चिर आभारी रहेगा कि उसने जनता की रुचि की पूर्ति करते हुए सूर और तुलसी जैसे दिव्य रत्न दिये।

---

२०. मुसलमानों की हिन्दी-सेवा

'इन मुसलमान हरिजनन पर कोटिन हिन्दुन वारिए।'

—भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतवर्ष में मुसलमानों के आक्रमण सातवीं सदी से शुरू हो गये थे किन्तु उन प्रारंभिक आक्रमणों में राज्य-लिप्सा की अपेक्षा धन-लिप्सा अधिक थी। जब मुसलमान लोग धीरे-धीरे यहाँ बसने लगे और उन्होंने मूल देश से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया तब से वे यहाँ की जनता के अधिक संपर्क में आने लगे। उनके लिए यहाँ की भाषा और रहन-सहन सीखना आवश्यक हो गया। राजकाज चलाने के लिए प्रजा का सहयोग भी आवश्यक था। कुछ विद्वानों का कथन है कि मुसलमानी शासन के आरम्भ में बहुत-सा राजकार्य हिन्दुओं के ही हाथ में था और वे लोग अपना सब कार्य हिन्दी में ही करते थे। इसके अतिरिक्त कोई सफल राज्य देशी भाषा की उपेक्षा नहीं कर सकता। इसी कारण हिन्दी का सम्बन्ध राजदरबारों से हो गया। उधर मुसलमान शासक लोग अपनी प्रशंसा सुनने का लोभ सवरण न कर सके। इस कारण हिन्दी के कविगण भी मुसलमानी शासकों के यहाँ आश्रय पाने लगे।

अकबर को हिंदुओं से और उसी के साथ हिन्दी से भी पर्याप्त प्रेम था। उसने अपने नाती खुसरो को हिन्दी पढ़ाई थी। हिन्दी की कुछ कविताओं में अकबर शाह की छाप मिलती है, कहा नहीं जा सकता कि वे कविताएँ उन्हीं की लिखी हुई हैं या और किसी की। औरंगजेब के लड़के आज़मशाह का दरबार हिन्दी-प्रेमियों का आश्रय-स्थान रहा है।

हिन्दुओं के संपर्क में आने से साधारण मुसलमान लोगों को भी हिन्दी से प्रेम हो गया। राजनीतिक आवश्यकताओं के अतिरिक्त कुछ हृदय की भी आवश्यकताएँ रहती हैं। इस्लाम धर्म अधिक शुष्क है। सूफी सम्प्रदाय ने

ने उसको सरल बनाया। हिन्दी प्रेम के भावों को व्यंजित करने के लिए बड़ी उपयुक्त भाषा है। इसके अतिरिक्त हिंदू-धर्म में प्रेमी हृदयों के लिए श्रीकृष्णचन्द्र का माधुर्यमय व्यक्तित्व एक बड़ा आकर्षण है। इस प्रकार कुछ मुसलमान राजनीतिक कारणों से और कुछ हृदय की प्रेरणा से हिन्दी की ओर झुके और उन्होंने अपनी वाणी से हिन्दी-साहित्य को अलंकृत किया। मुसलमानी राज्य के प्रारंभिक काल में उर्दू का प्रतिद्वन्द्विता भी न थी। इसलिए हिन्दी जनसाधारण की भाषा के नाते अपनाई गई। प्रायः साहित्यिक लोग राजनीतिक बंधनों से मुक्त होते हैं, उनमें जाति-भेद वा विजेता और विजित का भाव कम होता है। साहित्यिक साम्राज्य समता-मूलक है। उसमें हिन्दू और मुसलमान का भेद नहीं था। साहित्यिक मुसलमान द्वेष-भाव से परे थे। इन मुसलमानों के द्वारा हिन्दी की जो सेवा हुई है वह थोड़ी नहीं है। इनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य संपत्ति हैं। इनका थोड़ा सा उल्लेख कर देना अनुपयुक्त न होगा।

यद्यपि हिन्दी का जन्म बहुत काल पूर्व हो गया था तथापि हिन्दी को खड़ी बोली के वर्तमान रूप में हम अमीर खुसरो की वाणी में ही देखते हैं। अमीर खुसरो का जन्म संवत् १२६२ में हुआ था। वे फारसी और हिन्दी दोनों ही भाषाओं के अच्छे कवि थे। उनकी कविता से ही हमको पता चलता है कि खड़ी बोली कितनी पुरानी है। उनकी कविता के दो एक नमूने यहाँ दिये जाते हैं।

बाला था सब जग को भाया, बड़ा हुआ कुछ काम न आया।
खुसरो कह दिया उसका नाँव, अर्थ करो नहिं छोड़ो गाँव॥
(दीया)

बीसों का सर काट लिया, ना मारा ना खून किया। (नाखून)

अति सुन्दर जग चाहे जाको, मैं भी देख भुलाती वाको।
देख रूप आया जो टोना, ए सखि साजन! ना सखि सोना॥

इस सम्बन्ध में दूसरा महत्त्वपूर्ण नाम कबीर का है। कबीर जन्म के चाहे हिन्दू हों किन्तु उनका पालन-पोषण एक मुसलमान जुलाहे के घर में हुआ था। उनका समय संवत् १४५५ से १५५२ वि० तक माना गया है। वे स्वामी

रामानन्द जी के चेले हो गये थे—

काशी में हम प्रकट भए रामानन्द चेताए।

इन महात्मा ने हिन्दू मुसलमानों की एकता के लिए बहुत यत्न किया था। ये बड़े निर्भीक वक्ता थे। ये दोनों धर्मों के बाह्याडम्बर की पोल खोल कर उनको धर्म का असली रूप सिखाना चाहते थे। देखिए—

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करें बड़ाई गागर छुवन न देई।
बेस्या के पायन तर सोवैं यह देखो हिन्दुवाई।
मुसलमान के पीर औलिया मुरगी मुरगा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करैं सगाई।

ये महात्मा हिन्दी साहित्य में ज्ञानाश्रयी शाखा के प्रवर्तक और निर्गुण के उपासक थे, किन्तु इन्होंने राम के नाम का माहात्म्य माना है। इनकी कविता में हठयोग-सम्बन्धी रहस्यवाद अधिक है। इनका चलाया हुआ पंथ अभी तक जीवित है।

कबीर के पश्चात् मलिक मुहम्मद जायसी का नाम आता है। इन्होंने अवधी भाषा में कविता कर उस भाषा की साहित्यिक संभावनाओं को प्रकाश में रक्खा और एक प्रकार से दोहा चौपाइयों की परम्परा को चलाया। इन्होंने प्रेम-मार्गी कविता की धारा बहाई। जायसी के प्रेम में आध्यात्मिकता की ओर संकेत है। इनकी कविता में सर्वेश्वरवाद के अच्छे उदाहरण मिलते हैं। देखिये—

आपहि कागद आप मसि, आपहि लेखनहार।
आपहि लिखनी आखर, आपहि पंडित अपार॥

प्रेम-मार्गी परम्परा में जायसी के अतिरिक्त कुतबन, मंझन आदि और भी कई प्रसिद्ध कवि हुए जिन्होंने अपनी वाणी से हिन्दी काव्य की सरसता बढ़ाई है। इस परम्परा में ही नूर मुहम्मद हुए। उन्होंने इन्द्रावती लिखी थी। उनकी दूसरी पुस्तक अनुराग बाँसुरी में यद्यपि मुसलमानी दृष्टिकोण प्रधान है और वह दीन के ही प्रचार के लिए लिखी गई थी तथापि उसमें हिन्दी को

व्यापक भाषा के रूप में स्वीकार किया गया है। दुबारा हिन्दी की ओर आकर्षित हो जाने को वे अपनी जाग्रति समझते हैं, देखिए :—

कामयाब कहँ कौन जगावा। फिर हिन्दी भाखै पर आवा ॥
छाड फारसी कंद नबातैं। अरुझाना हिन्दी रसबातैं ॥

हिन्दी के मुसलमान कवियों में चौथा उल्लेखनीय नाम खानखाना रहीम का है। ये बड़े उच्च घराने के मुसलमान थे। इनका जन्म लाहौर में संवत् १६१० में हुआ था। ये महाशय जैसे युद्ध और राजकार्य में दक्ष थे वैसे ही साहित्य के मर्मज्ञ थे। इन्होंने बड़े सुन्दर नीति के दोहे लिखे हैं। इनकी नीति में एक मृदु हास्य रहता था। लक्ष्मी जी के सम्बन्ध में आप कहते हैं—'पुरुष पुरातन की वधू क्यों न चञ्चला होइ।' इनके नायिका-भेद सम्बन्धी बरवै भी बड़े उत्तम हैं। ये बरवै छन्द के जन्मदाता माने जाते हैं। एक प्रकार से ये संस्कृत छन्दों में हिन्दी कविता लिखने के पथ-प्रदर्शक थे। मालिनी छन्द में लिखा हुआ इनका मदनाष्टक बड़ा मनोहर है—

शरद निशि निशीथे चाँद की रोशनाई,
सघन बन निकुंजे कान्ह बंसी बजाई,
रति-पति सुत निद्रा साइयाँ छोड़ भागी,
मदन शिरसि भूयः क्या बला आन लागी।

रहीम भक्तिशाखा से प्रभावित थे और गोस्वामी तुलसीदास के बड़े मित्र थे। 'गोद लिये हुलसी फिरैं तुलसी सो सुत होय' यह दोहा इन्हीं का है।

मुसलमान कवियों में पाँचवाँ नाम जो हिन्दुओं में बड़े आदर से लिया जाता [illegible] खान का है। इनका समय १६१५ से १६८५ तक माना जाता है। ये दिल्ली के पठान थे। पीछे से इन्होंने वल्लभ कुल में दीक्षा ले ली थी। ये सच्चे भावुक और भगवद्भक्त थे। इन्होंने शुद्ध ब्रज-भाषा में कविता की है। इनकी कविता में प्रेम का बड़ा सुन्दर स्वरूप दिखाई देता है—

बिन गुन जोबन रूप धन, बिन स्वारथ हित जानि।
शुद्ध, कामना ते रहित, प्रेम सकल रसखानि ॥

इनकी निम्नलिखित भक्तिमयी कामना बड़ी ही सरस है। ऐसा कोई

भावुक हिन्दू न होगा जो इसको सुन कर आनन्द-विभोर न हो जाता हो।

मानुष हौं तौ वही रसखान, बसौं सँग गोकुल गाँव के ग्वारन।
जो पशु हौं तौ कहा बसु मेरो, चरौं नित नंद की धेनु मँझारन।
पाहन हौं तो वही गिरि को जो कियो हरि छत्र पुरंदर धारन।
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि कालिंदी कूल कदम्ब की डारन॥

इनके भाषाधिकार के सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल जी लिखते हैं—'शुद्ध ब्रजभाषा का जो चलतापन और सफाई इनकी (रसखान की) और घनानन्द की रचनाओं में है वह अन्यत्र दुर्लभ है तथा अनुप्रास की सुन्दर छटा होते हुए भी भाषा की चुस्ती और सफाई कहीं नहीं जाने पाई है।'

यहाँ पर हम ब्रजभाषा के अनन्य भक्त सैयद रसलीन को नहीं भूल सकते। उन्होंने सवत् १७६४ में लिखी हुई, अंग दर्पण नाम की पुस्तक में अपने ब्रजभाषा प्रेम का इस प्रकार परिचय दिया है।

ब्रजबानी सीखन रची, यह रसलीन रसाल।
गुन, सुबरन नग, अरथ लहि हिय धरियो ज्यों माल॥

उनके नीचे के दोहे ने, जिसको लोग बहुत काल तक बिहारी का समझते रहे हैं, न जाने कितने उर्दू वालों के मुँह से हिन्दी कविता को 'वाह वाह! क्या खूब!' वाली प्रशंसा का भाजन बनाया है।

अमी हलाहल मदभरे, श्वेत श्याम रतनार।
जियत मरत झुकि झुकि परत, जेहि चितवत इक बार॥

इसी प्रकार शेख, आलम, मुहम्मद, उसमान, कुतबन, मुबारक, ताज, हफीज़ुल्ला खाँ, मुंशी इंशाअल्लाह खाँ, मीर आदि अनेक मुसलमान कवि और लेखक हुए हैं, जिन्होंने हिन्दी भाषा की सेवा द्वारा हिन्दुओं के हृदय में स्थान पाया है। ऐसे कवियों की वाणी पढ़ कर हमारे हृदय में मुसलमान भाइयों के प्रति सद्भावना उत्पन्न होने लगती है। जिस प्रकार इन सत्कवियों ने फारसी और अरबी में कविता लिखने की क्षमता होते हुए भी हिन्दी भाषा को अपनाया था उसी प्रकार आजकल के मुसलमान भी हिन्दी को अपना कर हिन्दू मुसलिम एकता की जड़ पक्की कर सकते हैं। आजकल के हिन्दी के मुसलमान लेखकों

और कवियों में मुंशी अजमेरी जी तथा फलक जी, सैयद अमीर अली 'मीर', जहूर बख्श, अख्तर हुसेन रायपुरी और मीर अहमद बिलग्रामी के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

---

२१. हिन्दी का कहानी साहित्य

"'माँ, कह एक कहानी'।
'बेटा, समझ लिया क्या तूने
मुझको अपनी नानी?'
'कहती है मुझसे यह चेटी,
तू मेरी नानी की बेटी!
कह माँ, कह, लेटी ही लेटी,
राजा था या रानी?'
'राजा था या रानी?'
'माँ कह एक कहानी'।" —'यशोधरा'

कहानी सुनने की प्रवृत्ति मानव समाज में प्राचीनकाल से चली आई है। बालकों की रुचि जाति की रुचि की परिचायक होती है। कहानी में हमारे कौतूहल की ही तृप्ति नहीं होती वरन् उस कौतूहल के पीछे हमारी व्यापक सहानुभूति की एक अव्यक्त रेखा भी दिखाई पड़ती है। राजा-रानी, साहूकार और वजीर के बेटे-बेटियों की कहानियाँ हम छुटपन से सुनते आये हैं। वर्तमान साहित्यिक कहानियाँ भी प्राचीन नानी की पुत्रियाँ या धेवतियाँ हैं, किन्तु दोनों में ऐसा ही भेद है जैसा कि बूढ़ी पोपले मुँह वाली नानी और उसकी स्कूल-कालेज में पढ़ने वाली ऊँची हील के जूतों से उन्नत, नई वेश-भूषा से सुसज्जित धेवती में। नई साहित्यिक कहानियाँ मानव-केन्द्रित होती हैं, उनमें देवता-दानवों और पशु-पक्षियों के लिए स्थान नहीं होता। यदि पशु-पक्षी आते भी हैं तो वे आदमियों की सी बोली नहीं बोलते और मनुष्य भी उनकी बोली को नहीं समझ पाते, मूक इंगितों से चाहे कुछ अनुमान लगा लें। आजकल की कहानियों का क्षेत्र राजा-

रानियों के वृत्त वर्णन में सीमित नहीं रहता। इसके अतिरिक्त उनमें दैवी सहायता के लिए भी अधिक स्थान नहीं रहता और न अत्यधिक आकस्मिकता का। कोई आदमी सोते से उठ कर राजा नहीं बन जाता। आजकल का कहानीकार एक राजा और एक रानी से सन्तुष्ट नहीं होना चाहता। वह उसका नाम ग्राम ही नहीं देता वरन् उसका स्वभाव बतला कर उसके व्यक्तित्व को प्रकाश में लाना चाहता है। आजकल के कथा-साहित्य में व्यक्तित्व का महत्त्व है। इन सब के अतिरिक्त वह केवल कौतूहल की तृप्ति न करके मानव-जीवन के भीतरी स्तरों की भी झाँकी दिखाता है। और आंतरिक भावों की बाह्य कृतियों से अन्विति भी करता है। आजकल का कहानीकार औत्सुक्य के साथ भावुकता और बुद्धि दोनों की तृप्ति कर काव्य के अधिक निकट आ जाता है।

काव्य मानव-जीवन की आलोचना है। इस परिभाषा की पूर्ति हमारा कथा-साहित्य पूर्णतया करता है। कथा-साहित्य में उपन्यास और आख्यायिका दोनों ही आते हैं। इन दोनों में भेद है। उपन्यास में जीवन की अनेकरूपता मिलती है। उसमें हमको जीवन की सरिता नाना शाखा-प्रशाखाओं में बह कर एक परिणाम की ओर जाती हुई दिखाई पड़ती है, किन्तु कहानी में हमको जीवन की एक झलक ही दिखाई पड़ती है। वह झलक ऐसी होती है कि वह जीवन का अंग हो कर भी उससे स्वतन्त्र एवं स्वतःपूर्ण रहती है। वह जीवन के प्रवाह में मिली हुई हो कर भी छिपकली की पूँछ की भाँति प्रवाह से अलग की जा सकती है। उपन्यास में भी एकलक्ष्यता रहती है किन्तु कहानी की एकलक्ष्यता बिलकुल सीधी और स्पष्ट होती है। सफल लक्ष्य वेध करने वाले अर्जुन की भाँति कहानीकार भी अपनी दृष्टि को केन्द्र से बाहर नहीं जाने देता; वह चिड़िया को नहीं, चिड़िया के सिर को ही देखता है।

कहानीकार सीधी राह से पाठक को लक्ष्य के पास ले जाता है किन्तु वह लक्ष्य ऐसा नहीं होता जो एक साथ दिखाई पड़ जाय। इसलिए सड़क में एक या दो मोड़ आजायँ तो अच्छा है, किन्तु उसमें शाखाएँ न फूटनी चाहिएँ। कहानी के शीर्षक में उसकी झलक तो मिल जाती है लेकिन वह प्रायः अन्त में एक काव्यात्मक ढंग से पूर्णतया व्यक्त होती है। यह अन्तिम बात ही कहानी

का तथ्य कहलाती है। इसके अतिरिक्त कहानी में घटना और भावों का सन्तुलन रहना चाहिए और साथ ही साथ उसमें कथोपकथन की सजीवता होना वांछनीय है। कहानियाँ सब सच्ची तो नहीं हो सकतीं, किन्तु उनका स्वाभाविक होना आवश्यक है। उनका स्वाभाविक हो कर भी चमत्कारपूर्ण होना सोने में सुगन्ध की बात उत्पन्न कर देता है। जो कहानीकार स्वाभाविकता और चमत्कार-प्रदर्शन को ठीक अनुपात में रख सकता है, वही सफल होता है।

प्राचीन संस्कृत और प्राकृत साहित्य में कहानियों का बाहुल्य रहा है और जातक कथाओं, कथासरित्सागर, हितोपदेश, पंचतंत्र, सिंहासन-बत्तीसी आदि की कहानियों का कई भाषाओं में अनुवाद भी हुआ है। इनमें घटना-प्रधान और भाव-प्रधान दोनों ही प्रकार की कहानियाँ मिलती हैं।

आजकल हिन्दी में जो छोटी कहानियाँ लिखी जाती हैं वे प्रायः बँगला द्वारा अँगरेजी साहित्य की देन हैं। मासिक पत्रिकाओं के कारण ऐसी कहानियों की आवश्यकता प्रतीत हुई जो एक बैठक में ही समाप्त हो सकें। कहानी ही साहित्य का एक ऐसा अंग है जो साधारण पाठक के लिए रुचिकर हो सकता है। आजकल जिस पत्रिका में कहानी नहीं होती साधारण पाठक उसको उपेक्षा की दृष्टि से देखता है। प्रयाग से निकलने वाली 'सरस्वती' द्वारा ऐसी कहानियों का प्रचार बढ़ा।

यद्यपि यह कहना तो कठिन है कि हिन्दी की पहली कहानी कब और किसने लिखी तथापि यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि इनका प्रचार करने में 'सरस्वती' का बहुत बड़ा हाथ है। हिन्दी में कहानियों का लिखा जाना संवत् १६५७ से प्रारम्भ हुआ। हिन्दी कहानी के प्रारम्भिक लेखकों में श्री किशोरीलाल गोस्वामी गिरिजाकुमार घोष (पार्वतीनन्दन), 'बङ्ग महिला', पंडित रामचन्द्र शुक्ल, मास्टर भगवानदास आदि हैं। इन लोगों की लिखी हुई कहानियों में कुछ तो मौलिक हैं और कुछ बँगला से अनुवादित। इसके पश्चात् स्वनामधन्य जयशङ्कर प्रसाद जी ने इस क्षेत्र में अवतरित हो कर छोटी कहानियों में एक प्रकार से प्राणप्रतिष्ठा कर दी। उनकी आकाशदीप, पुरस्कार, प्रतिध्वनि, चित्र-मन्दिर आदि कहानियों ने एक नया युग उपस्थित कर दिया।

उनकी कहानियों में स्वर्णिम आभा से विभूषित प्राचीनता के वातावरण को उपस्थित करने के अतिरिक्त अच्छे मनोवैज्ञानिक चित्रण आये हैं। उनमें हमको बड़े सुन्दर अन्तर्द्वन्द्व भी दिखाई देते हैं। पुरस्कार नाम की कहानी में राजभक्ति और वैयक्तिक प्रेम का संघर्ष है। आत्मबलिदान द्वारा मधूलिका इस द्वन्द्व का शमन कर देती है। इसके पश्चात् विश्वम्भरनाथ शर्मा कौशिक कहानी के क्षेत्र में आये। इनकी कहानियाँ अधिकतर सामाजिक हैं। इनकी बहुत सी कहानियों में शहरी जीवन के अच्छे चित्र आये हैं। इनकी कहानियाँ वार्तालाप-प्रधान हैं।

सुदर्शन जी का नाम भी कौशिक जी के साथ लिया जाता है। इनकी कहानियों के कुछ कथानक राजनीतिक आन्दोलन से भी लिये गये हैं। इनकी 'न्याय-मन्त्री' नाम की कहानी ऐतिहासिक है। इसने बहुत लोक-प्रियता प्राप्त की है। इनकी लिखी हुई 'हार में जीत' शीर्षक कहानी में उच्च मानवता के दर्शन होते हैं। सुदर्शन जी शहरी मध्य वर्ग के प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं। वास्तव में सुदर्शन जी कौशिक जी और प्रेमचन्द जी के साथ हिन्दी कहानी लेखकों की बृहत्-त्रयी में रक्खे जा सकते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने हिन्दी कहानियों में जान डाल दी है। इन्होंने अपनी कहानियों द्वारा साधारण मनुष्यों में भी उच्च मानवता के दर्शन कराये हैं। 'पंच परमेश्वर' में पद का उत्तरदायित्व दिखलाया है। 'बड़े घर की बेटी' बुरे अर्थ में भी बड़े घर की बेटी है और भले अर्थ में भी अपने नाम को सार्थक करती है। जो देवर और पति के बीच में लड़ाई का कारण बनती है वही उनमें मेल करा कर अपने हृदय की मानवता का परिचय देती है। 'शतरंज के खिलाड़ी' आदि कहानियाँ जीवन के अच्छे चित्र हैं। 'ईदगाह' में गरीब मुस्लिम जीवन की झाँकी मिलती है। मुंशी जी की कहानियाँ अधिकांश घटना-प्रधान हैं किन्तु उनमें भावुकता का भी पुट पर्याप्त मात्रा में मिलता है।

श्री चण्डीप्रसाद हृदयेश ने जो कहानियाँ लिखी हैं वे कहानी की अपेक्षा गद्य काव्य का नाम अधिक सार्थक करती हैं। उनकी कहानियों में भाषा का चमत्कार अधिक है।

प्रेमचन्द जी के बाद कहानी साहित्य में जैनेन्द्र जी का नाम आदर से लिया जाता है। आपकी कहानियों में युग की नई भावनाओं के दर्शन मिलते हैं। आपकी 'खेल' नाम की कहानी को पढ़ कर कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने कहा था कि हिन्दी में रवि बाबू और शरद् बाबू हमको मिल गये और एक साथ मिले। जैनेन्द्र जी की कहानियों में कथानक अथवा तथ्यनिरूपण का इतना महत्त्व नहीं जितना कि मनोवैज्ञानिक चित्रण का। फिर भी बीच-बीच में वे बड़ी तथ्यपूर्ण बातें कह देते हैं।

चन्द्रगुप्त जी विद्यालंकार ने बड़ी सुन्दर कहानियाँ लिखी हैं। आपकी 'ताँगेवाला', 'क ख ग', 'डाकू', 'चौबीस घंटे' आदि कहानियों ने अधिक प्रसिद्धि पाई है। 'चौबीस घंटे' नाम की कहानी में क्वेटा भूकम्प का हाल है। 'डाकू' में दरबार साहब के धार्मिक वातावरण का अच्छा चित्रण है। 'एक सप्ताह' नाम की कहानी पत्रों में लिखी गई है।

अज्ञेय जी अब वात्स्यायन के नाम से ज्ञेय हो गये हैं। आपने कहानी कला में विशेष निपुणता प्राप्त की है। आपकी कहानियों में विप्लव और विस्फोट की सी भावना रहती है। आपकी 'अमर वल्लरी' नाम की कहानी में एक विशेष काव्यभावना को ले कर पीपल वृक्ष का जीवन वृत्त आया है। यह एक प्रकार का शब्दचित्र है।

श्री अन्नपूर्णानन्द और श्री जी० पी० श्रीवास्तव ने विनोद-पूर्ण कहानियाँ लिखी हैं। श्री चतुरसेन शास्त्री ने कुछ ऐतिहासिक कहानियाँ अच्छी लिखी हैं। उनका भाषा-प्रवाह प्रशंसनीय है। वर्तमान कहानी-लेखकों में सियारामशरण गुप्त, विनोदशङ्कर व्यास, बेचन शर्मा उग्र, उपेन्द्रनाथ अश्क, पहाड़ी, यशपाल, राधाकृष्ण प्रभृति महानुभावों के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पन्त जी की पाँच कहानियों में पान वाले आदि के शब्द-चित्र देखने को मिलते हैं।

हिन्दी की स्त्री लेखिकाओं में शिवरानी देवी, सुभद्रा कुमारी चौहान, कमला देवी चौधरानी, उषा देवी मित्रा, होमवती तथा चन्द्रावती जैन प्रभृति देवियों ने विशेष ख्याति पाई है। श्रीमती होमवती देवी की कहानियों का संग्रह 'निसर्ग' नाम से छपा है।

हमारे समाज में नई सभ्यता के जो नये भाव आये हैं उनकी छाप हमारे कहानी-साहित्य पर पड़ती जा रही है। हमारे कहानी-साहित्य का वर्णन-क्षेत्र बहुत व्यापक होता जा रहा है। उसमें बैल-बकरों को भी मनुष्य के साथ-साथ रागात्मक सम्बन्ध में रक्खा जाता है। इसी के साथ-साथ भाव-विश्लेषण और मनोवैज्ञानिकता बढ़ती जा रही है। इस उन्नति को देख कर यह आशा की जा सकती है कि वह शीघ्र ही विश्व-साहित्य से टक्कर ले सकेगा।

---

२२. हिन्दी-साहित्य में समालोचना

यद्यपि आलोचनात्मक सूक्तियाँ तो बहुत काल से वर्तमान हैं तथापि हिन्दी में वर्तमान ढंग की समालोचना का सूत्रपात हरिश्चन्द्र-युग से हुआ है। पं० बदरीनारायण जी चौधरी ने अपनी 'आनन्द-कादम्बिनी' पत्रिका में कई समालोचनात्मक लेख निकाले। पत्र-पत्रिकाओं की उन्नति के साथ-साथ समालोचना शैली में भी उन्नति होती गई। कुछ समालोचनाएँ पुस्तक-रूप में भी लिखी गईं। स्वानामधन्य आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने 'कालिदास की निरंकुशता' नामक पुस्तक में कालिदास के ग्रन्थों की निर्णयात्मक समालोचना (Judicial criticism) लिखी और "विक्रमाङ्कदेव चरित चर्चा" और "नैषध-चरित-चर्चा" नाम की पुस्तकों में परिचयात्मक समालोचना के उदाहरण उपस्थित किये।

लिखित ग्रन्थों के रूप में मिश्र-बन्धुओं का हिन्दी नवरत्न विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यद्यपि बहुत से लोग उनके निर्णयों से सहमत नहीं हैं, तथापि मिश्र-बन्धुओं ने उस समय के लिए बहुत अच्छा काम किया। उन्होंने कवियों की भाषा, विषय तथा काव्यकला-सम्बन्धिनी विशेषताओं को बतलाने के अतिरिक्त हिन्दी के नवरत्नों का सापेक्षिक स्थान भी निर्धारित करने का उद्योग किया। पुस्तक में बहुत सी बहुमूल्य सामग्री है, किन्तु उसके पढ़ने से यह प्रतीत होता है कि वे किसी संस्था द्वारा परीक्षक नियुक्त हुए हों। उन्होंने बिहारी को देव से नीचा स्थान दे कर एक वाद खड़ा कर दिया। उससे साहित्य में कुछ सजीवता आ गई

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह शर्मा ने 'बिहारी सतसई की भूमिका' नामक ग्रन्थ में बिहारी की तुलनात्मक समालोचना निकाली। उसमें उन्होंने बिहारी की उसके पूर्ववर्ती और परवर्ती कवियों से तुलना कर, बिहारी की उत्कृष्टता दिखलाई। यद्यपि उनकी समालोचना में पक्षपात और महफिली-दाद सी दिखाई पड़ती है, तथापि उससे बिहारी के सम्बन्ध में लोगों की जानकारी बहुत कुछ बढ़ गई है। देव और बिहारी के विवाद के सम्बन्ध में प० कृष्णबिहारी मिश्र ने 'देव और बिहारी' नाम का बहुत ही विद्वत्तापूर्ण ग्रन्थ लिखा है। उन्होंने यद्यपि देव का पक्ष लिया है तथापि बिहारी के महत्त्व को पूर्णतया स्वीकार कर अपनी निष्पक्षता का पूर्ण परिचय दिया है। बिहारी को उनके छोटे छन्दों के कारण, जुही की कली कहा है तो देव को कमल का फूल ठहराया है। लाला भगवानदीन ने भी बिहारी का पल्ला ऊँचा दिखाने के लिए 'बिहारी और देव' नाम की पुस्तक लिखी है।

क्रमशः आलोचना का आदर्श बदल गया है। अब किसी बँधी हुई रीति या नियमावली के आधार पर काव्य के गुण-दोष बतलाने की अपेक्षा समीक्षक आलोच्य कृति द्वारा लेखक या कवि की अन्तरात्मा में प्रवेश कर उसके भावों को एक व्यवस्थित रूप में उपस्थित करना अपना मुख्य ध्येय समझता है। वह केवल यह निर्णय दे कर सन्तुष्ट नहीं हो जाता कि किसी रचना में अमुक मात्रा में नीर है और अमुक मात्रा में क्षीर, वरन् वह क्षीर के रसास्वादन में भी सहायक होता है। आजकल प्रायः आलोचक इसी आदर्श को अपने सामने रखते हैं। इस प्रकार की आलोचना को व्याख्यात्माक (Inductive) आलोचना कहते हैं। तुलनात्मक आलोचना भी इस प्रकार की व्याख्या में सहायक होती है। इसी प्रकार कवि की ऐतिहासिक परिस्थितियों को बतला कर उसकी कृतियों में समय का प्रभाव बतलाना ऐतिहासिक आलोचना (Historical Criticism) कहलाती है और स्वयं कवि की मानसिक स्थिति पर प्रकाश डाल कर उसकी कृतियों द्वारा उसकी वैयक्तिक छाप को प्रकाश में लाना मनोवैज्ञानिक आलोचना (Psychological Criticism) कहलाती है। ये दोनों प्रकार की आलोचनाएँ व्याख्या में योग देती हैं। अपने

मन पर पड़े हुए प्रभाव को ही मुख्यता दे कर कवि की प्रशंसा के पुल बाँध देना या निन्दा का बवंडर खड़ा कर देना प्रभावात्मक आलोचना (Impressionist Criticism) कहलाती है। उसमें 'क्या खूब कहा', 'बस बात फिर बैठ गई', 'वह तो शक्कर की रोटी है जिधर से तोड़ो उधर ही मीठी है' ऐसे वाक्यों की प्रधानता रहती है। पंडित पद्मसिंह शर्मा भी अपने उत्साहाधिक्य में कहीं कहीं ऐसी ही आलोचना कर बैठे हैं।

आचार्य शुक्ल जी ने 'तुलसी ग्रन्थावली' की भूमिका में तुलसीदास की, 'भ्रमरगीतसार' की भूमिका में सूर की और 'जायसी ग्रन्थावली' की भूमिका द्वारा जायसी की आलोचना कर हिन्दी में व्याख्यात्मक आलोचना का यथार्थ रूप से पथ-प्रदर्शन किया है। आचार्य शुक्ल जी यद्यपि पाश्चात्य आदर्शों से प्रभावित हैं तथापि उन्होंने भारतीय रसपद्धति का आश्रय लिया है और उसमें भाव और विभाव दोनों पक्षों को ही मुख्यता दी है। बिना विभावों के अनर्गल भावों की शृंखला जोड़ने वालों के अथवा केवल शैली को महत्त्व देने वाले कोरे अभिव्यंजनावादियों के वे सख्त खिलाफ हैं।

हाल ही में बिहारी के ऊपर श्री विश्वनाथ प्रसाद मिश्र लिखित 'बिहारी की वाग्विभूति' नाम की एक आलोचनात्मक पुस्तक निकली है। उसमें बिहारी की भाषा, उनकी भक्ति भावना, भाव-व्यञ्जना आदि बातों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। 'दुलारे दोहावली' के सुप्रसिद्ध टीकाकार सिलाकारीजी ने 'बिहारी दर्शन' नाम की अच्छी पुस्तक लिखी है। पुस्तक में बिहारी पर किये जाने वाले आक्षेपों का भी उत्तर दिया गया है, और उनके जीवन वृत्त पर भी विवेचना की गई है।

आजकल कई कवियों पर समालोचनात्मक ग्रन्थ निकल चुके हैं। पं० कृष्णशङ्कर शुक्ल का कविवर रत्नाकर पर एक ग्रन्थ निकला है, जिसमें लेखक ने उनके विभाव-चित्रण और अलंकारों तथा रसों की अच्छी विवेचना की है। 'केशव की काव्य कला' में केशवदास के आचार्यत्व और कवित्व पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। श्री भुवनेश्वर नाथ मिश्र-कृत 'मीरा की प्रेम-साधना' भी एक बहुत उत्तम ग्रन्थ है। उसमें मीरा के विरह-प्रधान गीत-काव्य का

सुन्दर विवेचन है । श्री रामकुमार वर्मा ने 'कबीर का रहस्यवाद' नामक ग्रन्थ में कबीर के सिद्धान्तों पर आवश्यक आलोक डाला है । उनके हठयोग की भी व्याख्या की गई है । आधुनिक कवियों के ऊपर कई सुन्दर ग्रन्थ निकल चुके हैं। श्री जयशङ्कर प्रसाद पर तो पाँच ग्रन्थ निकल चुके हैं। इनमें दो (एक श्री सत्यपाल जी विद्यालंकार द्वारा 'कामायनी का सरल अध्ययन' दूसरा श्री गंगा-प्रसाद पाण्डे द्वारा 'कामायनी का परिचय') तो केवल कामायनी पर ही हैं। एक ही कवि पर बहुत से आलोचनात्मक ग्रन्थ निकलने से अध्ययन में बड़ा सुभीता होता है । श्री नगेन्द्र जी के 'सुमित्रानन्दन पंत' में छायावादी कला का अच्छा विश्लेषण है ।

तुलसी के सम्बन्ध में आलोचनात्मक साहित्य की अच्छी सृष्टि हुई है। तुलसी ग्रन्थावली के तृतीय भाग में तुलसी के सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण लेख निकले हैं, उनमें श्री रामचन्द्र शुक्ल की प्रस्तावना 'तुलसीदास' नाम से अलग पुस्तक के रूप में निकल गई है। व्याख्यात्मक समालोचना में वह एक उच्च-कोटि का ग्रन्थ है । उसमें गोस्वामी जी के भावों की एक प्रकार से गद्य में पुनः सृष्टि की गई है। रायबहादुर बाबू श्यामसुन्दरदास जी के 'तुलसीदास' में गोस्वामी जी की जीवनी पर, 'मूल गुसाईं चरित' के आधार पर, अच्छा प्रकाश डाला गया है ।

श्रीसद्गुरुशरण अवस्थी के 'तुलसी के चार दल' ने भी तुलसी-साहित्य का महत्त्व बढ़ाया है। उन्होंने तुलसीदासजी के जानकी मङ्गल, पार्वती मङ्गल, रामलला नहछू और बरवै रामायण पर कई दृष्टि-कोणों से प्रकाश डाला है। उसमें बहुत सी रस और अलंकार सम्बन्धी पठनीय सामग्री का समावेश किया गया है । मिश्रबन्धुओं ने पार्वती-मङ्गल, नहछू आदि ग्रन्थों के प्रामाणिक होने में जो शङ्काएँ उपस्थित की हैं, पुस्तक के विज्ञ लेखक ने उनका बड़ी सफलता के साथ निराकरण किया है ।

श्री माताप्रसाद गुप्त ने 'तुलसी सन्दर्भ' में मूल गुसाईं चरित को अप्रामाणिक सिद्ध करने का यत्न किया है । इसकी भी विवेचना बहुत मार्मिक है । तुलसी-कृत ग्रन्थों के काल-निर्णय के लिए इसमें उपादेय सामग्री है । अब

'तुलसी सन्दर्भ' की सामग्री 'तुलसीदास' नाम के ग्रन्थ में समाविष्ट हो गई है। हाल ही में पं० रामबहोरी शुक्ल ने गोस्वामी जी के ग्रन्थों का सुन्दर अध्ययन 'तुलसी' नामक ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है।

सूरदासजी के ऊपर भी श्री हजारीप्रसाद द्विवेदी ने एक बहुत उत्तम ग्रन्थ लिखा है। उसमें सूर की विद्यापति आदि वैष्णव कवियों से तुलना की गई है। श्रीरामरतन भटनागर तथा श्री वाचस्पति त्रिपाठी लिखित 'सूर साहित्य की भूमिका' में सूरकाव्य से सम्बन्ध रखने वाली प्रायः सभी बातों का (जैसे भक्ति, इतिहास, श्री वल्लभाचार्य के सिद्धांत, सूर सागर से भागवत की तुलना) समावेश किया गया है। सिद्धांत के अनुकूल सूर-साहित्य से सञ्चारी भावों और मनोदशाओं के उदाहरण दे कर उनके आस्वादन में इस पुस्तक से अच्छी सहायता मिलती है।

मध्यकालीन साहित्य एवं वर्तमान काल की धाराओं के सम्बन्ध में कई ग्रन्थ निकले हैं; जिनमें श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी के 'हिन्दी साहित्य विमर्श' का स्थान ऊँचा है। उन्होंने अपने 'विश्वसाहित्य' में साहित्य के द्वारा मानव-जाति में प्रेम और ऐक्य भाव स्थापित होने का एक दिव्य सन्देश दिया है। डा० इन्द्रनाथ मदान के 'हिन्दी कलाकार' में प्राचीन और अर्वाचीन कवियों और नाटक तथा उपन्यास-लेखकों का अच्छा अध्ययन उपस्थित किया गया है। प० रामकृष्ण शुक्ल का 'सुकवि-समीक्षा' और श्री नरोत्तम स्वामी का 'त्रिमूर्ति' भी मनन करने योग्य ग्रन्थ है।

बाबू श्यामसुन्दर दास ने अपने 'साहित्यालोचन' द्वारा साहित्य के भिन्न-भिन्न अंगों का परस्पर सम्बन्ध और महत्त्व बतला कर समालोचना के कार्य में एक प्रकार की सुगमता उत्पन्न कर दी है। डाक्टर रवीन्द्रनाथ के 'साहित्य' के अनुवाद ने भी लोगों की साहित्य और कला-सम्बन्धी रुचि को परिमार्जित करने में बहुत कुछ योग दिया है। रायबहादुर डा० श्यामसुन्दर दास के "हिन्दी भाषा और साहित्य का इतिहास" ने बाह्य परिस्थितियों को बतला कर व्याख्यात्मक समालोचना के क्षेत्र में अच्छा काम किया है। आज-कल और भी कई भाषा के इतिहास निकले हैं, जिनमें आचार्य पं०

रामचन्द्र शुक्ल का 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', डा० सूर्यकांत का 'हिंदी साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास', डा० रामकुमार वर्मा का 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' एवं डा० सोमनाथ गुप्त का 'हिन्दी नाटक साहित्य का इतिहास' मुख्य हैं। इन ग्रन्थों से हिंदी भाषा के उन आंतरिक और बाह्य स्रोतों का पता लगता है जिनसे हिंदी काव्य की धारा का प्रभाव अविच्छिन्न रूप से आज तक बहा चला आ रहा है। पं० जयचन्द्र विद्यालंकार की पुस्तक 'भारतीय वाङ्मय के अमर रत्न' छोटी होने पर भी पांडित्यपूर्ण है। इसमें आदि से मध्यकाल तक के समस्त भारतीय वाङ्मय का दिग्दर्शन कराया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त और भी समालोचना-संबंधी फुटकर ग्रन्थ निकले हैं। पं० रामकृष्ण शुक्ल ने 'प्रसाद जी की नाट्यकला' में नाट्यकला के साधारण सिद्धांतों को बतला कर 'प्रसाद' जी के नाटकों पर अच्छा प्रकाश डाला है। 'प्रसाद जी के दो नाटक' नाम की एक और पुस्तक निकली है। श्री जनार्दन झा तथा डा० रामविलास शर्मा ने भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से प्रेमचन्द जी के सम्बन्ध में एक अच्छी पुस्तक लिखी है। झा महोदय की पुस्तक में कला के ऊपर अधिक जोर है और शर्मा जी की पुस्तक में विचारधारा पर अधिक बल दिया गया है। उनका दृष्टिकोण प्रगतिवादी है। उपन्यासों और नाटकों की समालोचना के सम्बन्ध में ऐसे बहुत से ग्रन्थों की आवश्यकता है। प्रसन्नता की बात है कि अब नाटक साहित्य और उपन्यास साहित्य पर भी आलोचनात्मक ग्रन्थ निकल रहे हैं।

समालोचना के सिद्धान्तों पर भी बाबू श्यामसुन्दर दास जी के 'साहित्यालोचन' के अतिरिक्त कई और ग्रन्थ निकल गये हैं। लेखक का 'सिद्धान्त और अध्ययन' और डाक्टर सूर्यकान्त शास्त्री का 'साहित्य मीमांसा' नाम के ग्रन्थ विशेष प्रचार में आ चले हैं। श्री नलिनीमोहन सान्याल ने अपने 'आलोचनातत्त्व' में मनोवैज्ञानिक पक्ष लिया है। श्री सुधांशु जी का 'काव्य में अभिव्यञ्जनावाद' एक बहुत उच्च कोटि का ग्रन्थ है। उसमें क्रोचे (Croce) के अभिव्यञ्जनावाद के अतिरिक्त अपने यहाँ के अलंकार शास्त्र के कई मतों को

अच्छी विवेचना है। श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी के 'कवि और काव्य' में प्राचीन और अर्वाचीन कवियों के काव्य पर बहुत मार्मिक विवेचना है। श्री पुरुषोत्तम जी ने 'आदर्श और यथार्थ' नाम की पुस्तक में आदर्श और यथार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध बतला कर इस दिशा में बड़ी मूल्यवान सामग्री उपस्थित की है। ऐसे ग्रन्थों ने हिन्दी में सैद्धान्तिक आलोचना (Speculative Criticism) की कमी पूरी की है। प्राचीन रीति ग्रन्थों का भी अब आधुनिक ढग से मूल्यांकन होने लगा है। डाक्टर नगेन्द्र की 'रीतिकाल की भूमिका' और डाक्टर भगीरथ प्रसाद मिश्र का 'हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास' इस दिशा में अच्छे प्रयत्न हैं। हिन्दी की आलोचना का आरम्भ तो पाश्चात्य प्रभावों से हुआ था किन्तु अब उस पर प्राचीन रस सिद्धान्त का पर्याप्त प्रभाव है। उसमें मूल्यों का भी मान है किन्तु वे कोरे भौतिक मूल्य नहीं हैं। उनमें आध्यात्मिक मूल्यों को विशेष महत्त्व दिया जाता है। प्रगतिवादी तो केवल भौतिक काव्यों को ही महत्त्व देते हैं, किन्तु अधिकांश लोग आध्यात्मिक और सौंदर्य सम्बन्धी मूल्यों को भी मान देते हैं। हमारे आलोचना साहित्य में एक विशेष व्यक्तित्व आता जा रहा है। हर्ष की बात है कि हिन्दी का आलोचना साहित्य दिन प्रतिदिन उन्नति कर रहा है।

---

२३. हिन्दी का प्रगतिशील साहित्य

गतिशीलता के दो अर्थ हैं। एक साधारण, जिसके अनुसार साहित्य में जो कुछ उन्नति होती है, वही प्रगतिशीलता है और जो साहित्य जनहित का साधक है वही प्रगतिशील साहित्य है। दूसरा पारिभाषिक अर्थ है जिसके अनुकूल एक विशेष सम्प्रदाय की विचारधारा से प्रभावित हो कर साहित्य का सृजन करना प्रगतिशीलता है। पहले अर्थ में भारतीय साहित्य का श्रीगणेश ही प्रगतिशीलता में हुआ है। जनहित हमारे साहित्य का आरम्भ से ही ध्येय रहा है। महर्षि वाल्मीकि ने काम-मोहित क्रौंच के वध से दुःखित हो कर 'मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः' का जो पहला अनुष्टुप छन्द

लिखा उसमें उन्होंने प्रगतिशीलता का शिलान्यास किया। उसमें कवि का ध्यान जीवन की वास्तविकताओं की ओर गया और उसने अत्याचारी के प्रति अपने मन का विद्रोह स्पष्ट रूप में व्यक्त किया है। रामायण, और महाभारत में भी, अत्याचारपीड़ित मानवता की करुण पुकार सुनाई पड़ती है। काव्यों में राजाओं के विलास-वैभव का वर्णन अवश्य है किन्तु उनमें भी अत्याचार के प्रति विद्रोह की भावना स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है। मेघदूत का कवि लोल अपाङ्ग वाली पौर-ललनाओं के साथ भ्रूविकारानभिज्ञ जनपद- (ग्राम) वधुओं तथा उदयन-कथाकोविद ग्रामवृद्धों को भूल नहीं जाता।

हिन्दी के वीरगाथा-काल में सामन्तशाही प्रभाव की प्रबलता के साथ व्यापक राष्ट्रीयता का भी अभाव था, किन्तु आपस की मारकाट के साथ कहीं-कहीं आक्रमणकारियों के प्रति भी विद्रोह की भावना प्रकट होती है। उस समय के साहित्य में इतनी ही प्रगतिशीलता थी कि चन्द बरदाई आदि महाकवि लेखनी के ही शूर न थे वरन् तलवार के भी वीर थे और उस साहित्य का तत्कालीन जीवन से सम्पर्क भी था (यद्यपि वह जीवन मजदूर और किसान के जीवन से बहुत दूर था)।

सन्त कवि समताभाव के प्रतिपादक होने के कारण सच्चे प्रगतिशील थे। कबीर तो अपने समय से बढ़े हुए थे। उन्होंने तो वर्ण-व्यवस्था पर बड़ा ज़बरदस्त कुठाराघात किया था। नानक ने भी यही किया। प्रायः सभी सन्त कवि 'जाति पाँति पूँछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' के मानने वाले थे। प्रेम-मार्गी कवियों में समता भाव इतने प्रबल रूप में तो नहीं था किन्तु जैसा आचार्य शुक्ल जी ने दिखाया है, उनमें भी लोकपक्ष का अभाव न था (यद्यपि उसका अस्तित्व बहुत ही क्षीण और धुँधली रेखाओं में था)।

भक्त कवियों में संसार को 'मृग-वारि' और 'रज्जौ यथाहेर्भ्रमः' मानने वाले गोस्वामी तुलसीदास जी भी अपने समय की परिस्थिति से बेखबर न थे। 'खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि, बनिक को बानिज न चाकर को चाकरी' और दारिद्रय दानव से सीद्यमान प्रजा की विषम परिस्थिति की उन्हें खबर थी। 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी'

कह कर उन्होंने किसानों के प्रति अपनी सहानुभूति दिखाई है। सूर ने भी 'खेलत में को काको गुसैयाँ' और प्रेम के नाते ही सही, कृष्ण को खरी-खोटी कहला कर समताभाव का पक्ष लिया है। कुंभनदास ने 'सन्तन को कहा सीकरी सों काम' कह कर तत्कालीन सामन्तशाही का तिरस्कार किया था। तुलसी वर्ण-व्यवस्था के अवश्य पोषक थे, किन्तु कृष्ण-भक्त कवि रूढ़ियों और लोक-मर्यादा के प्रति विद्रोही नहीं तो उदासीन अवश्य थे। रीति-काल की प्रगतिशीलता शायद इतनी ही थी कि उसने सन्तों और भक्तों की बढ़ती हुई वैराग्य-भावना को सांसारिकता की ओर ले जा कर उसका संतुलन उपस्थित कर दिया था। विलास का मद उस काल में बढ़ा हुआ था और साहित्य रूढ़ियों के दलदल में फँस गया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस रूढ़िग्रस्त शृङ्गार के वातावरण में भारत-दुर्दशा पर चार आँसू बहा कर अपनी प्रगतिशीलता का परिचय दिया था, उनकी निम्नोल्लिखित पंक्तियाँ बहुत प्रसिद्ध हो चुकी हैं :—

अंग्रेज राज सुख साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईश देत हा! हा! री॥
सबके ऊपर टिक्कस की आफत आई।
हा हा! भारत दुर्दशा न देखी जाई॥

द्विवेदी-युग में राष्ट्रीय साहित्य में पर्याप्त प्रगति-शीलता थी, किन्तु उसमें वर्तमान की अपेक्षा प्राचीन गौरव-गरिमा का कुछ अधिक बखान था। 'भारत भारती' उस समय की प्रमुख पुस्तक थी। चरित्र-निर्माण की भावना और उपदेशात्मकता अधिक थी। राजनीतिक उत्थान में पर्याप्त सफलता न देख कर हमारे साहित्य में दुःखवाद और पलायनवाद की प्रवृत्ति आई।

'ले चल वहाँ भुलावा दे कर
मेरे नाविक! धीरे-धीरे
जिस निर्जन में सागर लहरी,
अम्बर के कानों में गहरी

निश्छल प्रेम कथा कहती हो
तज कोलाहल की अवनी रे!'

छायावाद के साथ यद्यपि पलायनवाद लगा हुआ था तथापि उसके द्वारा भाषा के स्वतंत्र प्रयोग हुए। छंद से मुक्ति मिली और प्रकृति के प्रति दृष्टिकोण बदला और शृंगार का संस्कार हुआ। यह भी एक प्रगति थी।

इन प्रेम-कथाओं के साथ नवीन जी की 'कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ, जिससे उथल-पुथल मच जाए—नाश और सत्यानाशों का धुआँधार जग में छा जाए' और निराला जी की 'जागो फिर एक बार' की तान सुनाई पड़ जाती थी। मुंशी प्रेमचन्द जी ने भी किसानों का पक्ष लिया था। यह सब प्रगति युग का अरुणोदय था'। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने छायावाद में लोक-पक्ष के अभाव और जीवन के अछूतेपन की ओर ध्यान दिलाया था। पंडित बनारसीदास चतुर्वेदी ने 'कस्मै देवाय' के उत्तर में किसानों और जनता जनार्दन का पक्ष ले कर प्रगतिवाद का अग्रदूतत्व किया था।

सन् १९३५ में फ्रांस के विदेशी वातावरण में भारतीय प्रगतिशील लेखक संघ की स्थापना हुई। डाक्टर मुल्कराज आनन्द और सज्जाद आदि लेखक इसके प्रवर्तक हुए। अप्रैल सन् १९३६ में पहली भारतीय कान्फरेंस मुंशी प्रेमचन्द जी के सभापतित्व में हुई। दूसरी कान्फरेंस कलकत्ते में डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की अध्यक्षता में हुई। तभी से प्रगतिवाद का पारिभाषिक अर्थ में सूत्रपात हुआ। इसकी मूल धारणाएँ इस प्रकार हैं :—

(१) साहित्यकार जीवन से अलग नहीं रह सकता। उसको जीवन का चित्रण ही नहीं करना चाहिए वरन् जीवन-सम्बन्धी समस्याओं के हल करने में क्रियात्मक भाग भी लेना चाहिए।

(२) कविता संसार को किसी सुख-स्वप्न में भुला देने की वस्तु नहीं वरन् संघर्ष में प्रवेश कराने की वस्तु है। समाज के करुण क्रन्दन को अब अफीम की मात्रा दे कर शमन करने की आवश्यकता नहीं, अब तो समाज के गलित अंगों में चीरा लगा कर उसकी सड़ान को दूर करना आवश्यक है। समाज में सामन्तशाही पूँजीवाद, फासिज्म और साम्राज्यवाद की जो शक्तियां हैं

उनके समूल नाश करने में ही समाज का कल्याण है। प्रगतिवाद वर्ग-संघर्ष-द्वारा वर्गहीन समाज स्थापित करने के पक्ष में है। युगवाणी में पंत जी ने उस समाज का आदर्श इस प्रकार बतलाया है—

श्रेणि-वर्ग में मानव नहीं विभाजित
धन-बल से हो जहाँ न जन-श्रम-शोषण
पूरित भव जीवन के निखिल प्रयोजन ॥

निराला जी के 'कुकरमुत्ता' काव्य में कुकरमुत्ता की ओर से गुलाब के फूल को चुनौती है। यह शोषित वर्ग की ओर से शोषकों के प्रति चुनौती है।

इसलिए प्रगतिवाद ऐसे साहित्य-निर्माण के पक्ष में है जो साम्यमूलक वर्गहीन समाज की स्थापना में सहायक हो। वह व्यक्ति की प्रेम-पीड़ा सुनना नहीं चाहता वरन् समष्टि का क्षुधा-पिपासा-प्रेरित आर्तनाद सुनने को उत्सुक रहता है। इसलिए दिनकर के शब्दों में अब उसकी कविता न नील-कुंज में स्वप्न खोजेगी और न चन्द्रकिरणों से चित्र बनायगी—

आज न उड़ के नील-कुंज में स्वप्न खोजने जाऊँगी;
आज चमेली में न चन्द्र किरणों से चित्र बनाऊँगी।

(३) संसार में आध्यात्मिक आवश्यकताओं की अपेक्षा क्षुधा-पिपासा सम्बन्धी भौतिक आवश्यकताएँ मुख्य हैं; 'सुन्दर हो जनवास वसन सुन्दर तन'। कला और काव्य पेट भरे पर सूझते हैं; 'भूखे भजन न होइ गुपाला'। भूखे के लिए तो तुलसीदास जी के शब्दों में चार चने ही धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फल हैं। भूखे के लिए उषा का स्वर्ण-सुहाग कोई अर्थ नहीं रखता और न तारक-हीरक-कणों से विखचित वेणी वाली वसन्त-रजनी। यदि छायावाद स्थूल के प्रति सूक्ष्म का विद्रोह था तो प्रगतिवाद सूक्ष्म के प्रति स्थूल का विद्रोह है। छायावाद जहाँ वस्तु को उसकी कटी-छँटी सीमा में न देख कर उसको भाव की स्वर्णिम आभा से विभूषित करता था वहाँ प्रगतिवाद उसे नग्न रूप में देखना चाहता है।

(४) कला और साहित्य का अवश्य निर्माण हो किन्तु वह प्रोलेतेरियत अर्थात् जन साधारण के लिए हो। शोषित-पीड़ित मानव ही उसके

आलम्बन हों। कविताएँ किसानों, मज़दूरों आदि सर्वहारावर्ग पर लिखी जायँ क्योंकि मूढ़ असभ्य दूषित ही भू के उपकारक हैं और पंडित, ज्ञानी, दानी आदि जिन लोगों को पिछली संस्कृति में मान दिया जाता था, वे सब प्रतारक और प्रवंचक हैं।

(५) जीवन की वास्तविकताओं के साथ सम्पर्क रखने के लिए प्रगतिवादी यथार्थवाद की ओर झुका हुआ है । वह यथार्थवाद बीभत्स और कुरूप के चित्रण से नहीं घबराता । ग्रामीणों के घरों के चित्रण के सम्बन्ध में श्री भगवतीचरण वर्मा की 'भैंसा गाड़ी' की कविता काफी मशहूर हो चुकी है।

चरमर-चरमर-चूँ चरर-मरर
जा रही चली भैंसा गाड़ी।

\+ + + +

भू की छाती पर फोड़ों-से
हैं उठे हुए कुछ कच्चे घर ;
मैं कहता हूँ खँडहर उसको
पर वे कहते हैं उसे ग्राम।

दिनकर जी ने भी महलों के वैभव की तुलना में भारत की गरीबी का बड़ा हृदयद्रावक चित्र खींचा है; देखिए:—

श्वानों को मिलता दूध वस्त्र, भूखे बालक अकुलाते हैं,
माँ की हड्डी से चिपक ठिठुर जाड़ों की रात बिताते हैं,
युवती की लज्जा वसन बेंच जब व्याज चुकाये जाते हैं,
मालिक जब तेल फुलेलों पर, पानी सा द्रव्य बहाते हैं,
पापी महलों का अहंकार, देता मुझको तब आमंत्रण।

अंचल जी के 'करील' में हमको ऐसे चित्र मिलते हैं । 'करील' स्वयं सामाजिक शोषण का प्रतीक है।

(६) दर्शन और धार्मिक विश्वासों में प्रगतिवाद मार्क्सवाद के भौतिकवाद को अपनाये हुए है । राजनीतिक आदर्श भी वह सोवियत रूस से ग्रहण करता है। कविताओं में भी वह रूस का गुणगान करता है। 'मास्को अब

भी दूर है,' सुमन जी की यह कविता काफी ख्याति पा चुकी है।

(७) सौंदर्य-बोध अब मधु, पराग और सुमनों, आम्र-मंजरियों और अलिबालाओं में नहीं रहा वरन् अब साधारण सी चीज में भी होने लगा है। अब हीन और अल्प ही महान बन गया है।

'पीले पत्ते, टूटी टहनी, छिलके, कंकर पत्थर
कूड़ा करकट सब कुछ भू पर, लगता सार्थक सुन्दर।'

(८) अभिव्यक्ति का माध्यम सरल और सुबोध होना चाहिए जिससे कि कवि की वाणी जन साधारण तक पहुँच सके। प्रगतिवाद ने हिन्दी को उर्दू के बहुत निकट लाने का उद्योग किया है किन्तु संस्कार-वश प्रगतिवादी कवि संस्कृत-गर्भित हिन्दी में कविता करते रहे हैं।

(९) आलोचना का मानदण्ड उपयोगितावादी हो गया है। जो साहित्य शोषित पीड़ित मानव, किसानों और मजदूरों का पक्ष ले अथवा पूँजीवाद और फासिज्म का विरोध करे वह उत्तम है, जो पूँजीवादी या सामन्तशाही संस्कृति का चित्रण करे, वह निकृष्ट है।

प्रगतिवाद ने हमारे जीवन का मुख जीवन की ओर मोड़ा। जीवन की विषमताओं की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया। सर्वहारा वर्ग को उत्थान दे उसने साम्य भावना को प्रमुखता दी और हिन्दू मुसलमानों को भी एक दूसरे के निकट लाने का प्रयत्न किया। प्रगतिवाद हमको स्वार्थपरायण व्यक्तिवाद से हटा कर समष्टिवाद की ओर ले गया है। उसने लेखकों को शय्या-सेवी अकर्मण्य नहीं रक्खा है। प्रगतिवाद में जहाँ इतने गुण हैं वहाँ कुछ दोष भी हैं। उसने वर्ग चेतना को बढ़ा कर दोनों के बीच की खाई को और भी चौड़ा कर दिया है। संघर्ष को ही उसने एकमात्र साधन माना है; शान्तिपूर्ण और अहिंसात्मक साधनों पर उसने विचार नहीं किया है और मार्क्सवाद का धार्मिक कट्टरता के साथ पक्ष-समर्थन करता है। मत-स्वातन्त्र्य की वह गुंजायश नहीं छोड़ता। जो उसका साथ नहीं देते उनको वह प्रतिक्रियावादी या प्रतिगामी कहता है (इस सम्बन्ध में अब कुछ उदारता आती जाती है)। यथार्थवाद और रुढ़ियों से स्वतन्त्र होने के नाम पर वह अश्लीलता को आश्रय देता है और पूँजीवाद को

गाली देने में कला और कविता के गौरव का ध्यान नहीं रखता। छायावाद और रहस्यवाद की भाँति प्रगतिवाद भी एक रूढ़ियुक्त शब्दावली को जिसमें पूँजीवादी, मुनाफाखोर, शोषित पीड़ित मानव, प्रोलेतेरियत, सर्वहारा, ज़ालिम, मज़लूम, आदि मुख्य हैं, आश्रय देता है। प्रगतिवाद भी एक फैशन-सा होता जाता है। उसमें वास्तविक सहानुभूति की अपेक्षा बौद्धिक सहानुभूति अधिक है। जिस प्रकार आजकल के रहस्यवादी कवि का जीवन अध्यात्म से अछूता है उसी प्रकार आजकल के प्रगतिवादी कवि का जीवन मजदूर और किसान से दूर है। वह स्प्रिंगदार मखमली सोफों पर बैठ कर बिजली के पंखे के नीचे खस की टट्टी की ओट में पार्कर पेन से मज़दूरों की कविता लिखता है। वह महलों में बैठ कर झोपड़ियों का ख्वाब देखता है। मज़दूरों और किसानों से बाहर की दुनिया उसको ज़ालिमों की दुनिया दिखाई देती है, यद्यपि वह भी उसी दुनिया का जीव है। उच्च वर्ग में वह मानवी भावों को नहीं देख पाता। बुर्जुआ या सामन्तशाही सृष्टि का दुखी व्यक्ति उसकी सहानुभूति का विषय नहीं बनता। चीन और रूस से हमारी सहानुभूति अवश्य है किन्तु उनके गौरवगाथा-गान में हमारी रागात्मिका वृत्ति नहीं रमती।

प्रगतिवादी रोटी के सिवाय दूसरा मूल्य नहीं जानता, किन्तु उसे यह मानना पड़ेगा कि मनुष्य केवल रोटी से नहीं जीता। जीवन के इतर मूल्यों की ओर प्रगतिवादी का ध्यान नहीं जाता। लेकिन फिर भी वह हमारे कवियों को इस भू की जंजीरों में बाँधे रखने के लिए अपना मूल्य रखता है। वह हमारे कवियों को अनन्त की ओर जाने में एक स्वस्थ ब्रेक का काम देता है। जीवन कायम रखने के लिए प्रगतिवादी की चक्की भी आवश्यक है और उसकी कर्कशता में मधुरता लाने के लिए छायावाद का राग भी चाहिए।

---

२४. हिन्दी में वीर रस तथा राष्ट्रीय भावना

वीररस—हिन्दी में यद्यपि काव्य के आत्मा स्वरूप नवों रसों का समावेश रहा है तथापि उनमें शृंगार, करुण, वीर और शान्त की प्रधानता कही जा सकती है।

कोई भाव या वस्तु सदा एकरस नहीं रहती। परिवर्तन जीवन का नियम है। देश की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुकूल वीर रस का भाव भी बदलता रहा है। उसमें हमको एक निश्चित क्रम-विकास के दर्शन होते हैं।

यद्यपि हिन्दी का आदिकाल वीरगाथा-काल के नाम से प्रशस्त है, तथापि साहित्य के इतिहास में कोई समय ऐसा नहीं रहा जब कि न्यूनाधिक रूप से वीरकाव्य न रचा गया हो क्योंकि वीरभावना भी हृदय की शाश्वत पुकारों में से एक है। वह कुछ काल के लिए दब सकती है, किन्तु उसका समूल नाश नहीं हो सकता। शृंगार-प्रधान रीतिकाल में भी भूषण और लाल का प्रादुर्भाव हुआ था। समय के हेर-फेर से वीर-भावना का रंग गहरा और हलका होता रहा है। अब हम एक एक काल को ले कर यह दिखायेंगे कि हिन्दी काव्य में वीर-रस तथा राष्ट्रीय भावना का क्रम विकास किस प्रकार हुआ है।

वीरगाथा-काल—यह हिन्दी-साहित्य का शैशव काल था। जिस समय हिंन्दी का जन्म हुआ था उस समय देश में रणचण्डी का भैरवनाद सुनाई पड़ रहा था। 'मानो हि महतां धनं', जो मान राजपूतों का सर्वस्व था वही उनमें परस्पर वैमनस्य के बीज बो कर उनके पतन का कारण बना। इसका कारण यह था कि उस समय इस मान का मानदण्ड कुछ छोटा हो गया था। मानापमान व्यक्ति तथा छोटे-छोटे राज्यों की चहारदीवारियों में सीमित था। लोग अपनी अपनी डफली पर अपना-अपना राग अलापना चाहते थे—क्षात्र-धर्म के नाम पर भाई-भाई का गला काटा जा रहा था। लहू बहाना उनका मुख्य ध्येय था। उनको इस बात की परवाह न थी कि किसका लहू बहाया जा रहा है। विवाह जैसे शुभ कार्यों का उपोद्घात और उपसंहार रुधिर की रक्तधारा से ही अंकित होता था।

क्षुद्र-मान-मूलक परस्पर की फूट और वैमनस्य ने मुसलमानों की विजयोल्लास भरी सेना के लिए प्रवेशद्वार तैयार कर दिया था। आक्रमणकारी मुसलमानों से लोहा लेते लेते देश की शक्ति क्षीण हो गयी थी; कोई केन्द्रीय शासन न था। राजपूती रस्सी अधजली अवश्य हो गई थी किन्तु उसमें ऐंठ पूरी बाकी थी। लड़ाई को ही धर्म समझनेवाली राजपूत जाति के लोग एक दूसरे को नीचा दिखाने में ही अपनी वीरता की चरम सीमा समझते थे। दिल्ली-कन्नौज की प्रतिद्वन्द्विता ही कविता का एक विषय रह गया था। कवि लोग जिसका खाते उसका गाते थे। ज़रा-ज़रा-सी बातों पर तलवारें खिंच जाती थं. . सती होने वाली बेला का कौन दाह करे इस समस्या को ले कर ऐसी नौबत आ गई थी कि—

"गुस्सा ह्वइकैं पृथ्वीराज तब। तुरतै हुकुम दियो करवाय॥
बत्ती दै देउ सब तोपन में। इन पाजिन को देउ उड़ाय॥
झुके खलासी सब तोपन पर। तुरतै बत्ती दई लगाय॥
दगी सलामी दोनों दल में। धुँअना रह्यौ सरग मँडराय॥
तोपैं छूटी दोनों दल में। रण में होन लगे घमसान॥
अररर-अररर गोला छूटैं। कड़-कड़ करैं अगिनिया बान॥
रिमझिम-रिमझिम गोला बरसैं। सननन परी तीर की मार॥"

इस तरह के वर्णन वीरभाव को उत्तेजित करते थे। किन्तु इनमें वीर-रस की उदार भावना कम थी। बदले की और नीचा दिखाने की भावना का प्राधान्य था।

उस समय के रासो ग्रन्थों में थोड़े-बहुत शृंगार के पुट के साथ ऐसी ही वीरता है। मुसलमानों से भी जो लड़ाइयाँ हुईं, वे प्रायः व्यक्तिगत कारणों से हुईं। इस काल की वीरता में यद्यपि राष्ट्रीयता नहीं थी, तथापि अपनी बात के लिए निर्भयतापूर्वक आत्म-बलिदान करने, शरणागत की रक्षा करने (जैसे पृथ्वीराज का शहाबुद्दीन गोरी के भाई मीरहुसैन के कारण शाह से बैर मोल लेना), स्त्रियों द्वारा पुरुष के प्रोत्साहित किये जाने आदि के भाव सराहनीय हैं।

उस समय मुसलमान मात्र से घृणा करने का भाव दृढ़ नहीं था।

व्यक्तिगत रूप से मुसलमान लोगों ने भी हिन्दुओं का खूब साथ दिया। उस समय राष्ट्रीयता तो न थी किन्तु उदारता काफी थी। लोग मरना और मारना दोनों जानते थे। इतना होते हुए भी व्यक्ति का प्राधान्य था।

भक्ति-काल—इस काल में वीर काव्य का रूप बदला। वीरता का कारण व्यक्तिगत न रह कर सार्वजनिक हो गया। प्रजा पर अत्याचार करने वाले आततायियों के संहार में वीरता दिखाई जाने लगी। वीरता दिखाने वाले काव्य के पात्र उस समय इस लोक के न थे, वरन् देव-कोटि के थे। इसका प्रभाव जनता पर यह तो अवश्य हुआ कि उनमें आततायियों के प्रति सात्विक क्रोध बढ़ा, पाप के प्रति घृणा हुई, किन्तु उसी के साथ पापी के प्रति घृणा ने लोगों के हृदय में आश्रय पाया। लोगों के हृदय में आशा-भाव की जाग्रति हुई। लेकिन उस काव्य से स्वावलम्बन की मात्रा नहीं बढ़ी। यह बात विशेष रूप से सूर और तुलसी के काव्य पर लागू होती है। तुलसी ने आपस की लड़ाई को भी बहुत कुछ कम करने का उद्योग किया है। वे बड़े भारी शान्ति-वादी थे। राजपूतों की परस्पर फूट को ही अपने मन में रखते हुए शायद तुलसीदास ने नीचे का दोहा लिखा होगा—

सुमति विचारहिं परिहरहिं, दल-सुमनहु संग्राम।
सकुल गये तनु बिन भये, साखी जादौ काम॥

तुलसीदासजी ने अवसर आने पर युद्ध के बड़े सजीव वर्णन किये हैं। ऐसे वर्णन प्रायः छप्पयों में है। उनमें ओज गुण पर्याप्त मात्रा में है।

केशवदास ने नरकाव्य भी किया है और उसमें वे वीरगाथा काव्य की भावनाओं के ही आस-पास रहे हैं। केशवदास जी ने महाराज वीरसिंहदेवजू की बहादुरी का अच्छा वर्णन किया है किन्तु उसमें साम्राज्यशाही की झलक है। उसमें मुगल-साम्राज्य की महत्ता स्वीकार की गई है। केशव के समय में उसी की महत्ता भी थी, और उस समय के मुसलमान सम्राटों का हिन्दुओं के प्रति व्यवहार भी अच्छा था।

केशवदास में राम-रावण युद्ध के ही अच्छे वर्णन नहीं है वरन् राम की चतुरंग चमू के साथ लव-कुश के युद्ध का भी बड़ा वीर-भावोत्तेजक वृत्तान्त

दिया गया है।

रीति-काल—यद्यपि रीतिकाल का काव्य शृंगार-प्रधान है तथापि उस काल में भी वीररस की कविता का अभाव नहीं था। उस समय जोधराज, भूषण, सूदन, लाल आदि कवियों ने वीर रस की कविता की। इनमें भूषण ने सब से ज्यादा ख्याति पाई। इस समय के और सब कवियों के लिए तो नहीं किन्तु भूषण और लाल के सम्बन्ध में यह अवश्य कहा जा सकता है कि इनमें हिन्दू संगठन की मात्रा अधिक पाई जाती है। हम इनके वर्णन किये हुए युद्धों में वैयक्तिक द्वेष की अपेक्षा हिन्दुत्व की रक्षा का भाव देखते हैं। इनके समय दाढ़ी चोटी का संघर्ष दिखाई देता है। देखिए:—

"वेद राखे विदित, पुरान राखे सारयुत,
राम नाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिंदुन की चोटी, रोटी राखी है सिपाहिन की,
काँधे में जनेऊ राख्यो माला राखी गर में।
मीड़ि राखे मुगल, मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे, बरदान राख्यो कर में।
राजन की हद्द राखी तेग बल सिवराज,
देव राखे देवल, सुधर्म राख्यो घर में।"

इसमें हिन्दू संस्कृति की रक्षा की पुकार है। भूषण के काव्य में वैरियों के प्रति अनुदारता भी दिखाई पड़ती है। 'तीन बेर खाती ते वै तीन बेर खाती हैं, नगन जड़ातीं ते वे नगन जड़ाती हैं।' ऐसे कथन राष्ट्रीयता तथा उदारता के विरुद्ध अवश्य पड़ते हैं किन्तु इसके लिए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह रीतिकाल था। भूषण अच्छे यमक का लोभ संवरण न कर सके होंगे और दूसरी बात यह भी है कि वे मनुष्य थे; अपने समय की भावनाओं से प्रभावित थे। उनको हमें बीसवीं शताब्दी के मापदण्ड से नहीं नापना चाहिए। फिर बीसवीं शताब्दी में ही मानवता पूरी तौर से कहाँ आ पाई है। उस समय के और कवियों में वीर-गाथा काल का ही प्रभाव है।

वर्तमान काल—वर्तमान काल का जन्म भारतेन्दु हरिश्चन्द्र से

होता है। उन्होंने अपने नाटकों में देशभक्ति का पुट दिया है। यद्यपि उनके नाटकों में भी हिन्दू-मुसलिम संघर्ष की झलक मिलती है, तथापि उनमें राष्ट्रीयता का सूत्र-पात हुआ है। भारतवर्ष की दुर्दशा का अच्छा चित्रण है। अपने दोषों को निर्भयता-पूर्वक स्वीकार किया गया है—'जगत में घर की फूट बुरी, फूटहि सों जयचन्द बुलायो जवनन भारत धाम'। अंग्रेज़ी राज्य की तारीफ़ करते हुए भी उन्होंने विदेश को धन जाने तथा टैक्स की बुराई की है—

"अंग्रेज़ राज सुख साज सजे सब भारी,
पै धन विदेश चलि जात यहै अति ख्वारी।
+ + + +
सब के ऊपर टिक्कस की आफ़त आई,
हा हा ? भारत-दुर्दशा न देखी जाई।"

भारतेन्दुजी में भारत को एक इकाई मानने की प्रवृत्ति है; भारत के सुधार की पुकार है—'भारत दुर्दशा लखी न जाई'; भारत के ही दुःख पर शोक प्रकट किया जाता है—

"सबै सुखी जग के नर-नारी
रे विधना भारत हि दुखारी।"

सामूहिक रूप से वीरता दिखाने की भी बात आती है किन्तु वह वीरता अंगरेज़ों के नेतृत्व में ही है, उसमें साम्राज्यशाही की छाप है। देखिये वीरों को काबुल जाने के लिए प्रोत्साहित किया जा रहा है :—

"प्रगट वीरता देहि देखाई।
छन महँ काबुल लेइ छुड़ाई।"

राष्ट्रीयता की जो तान भारतेन्दु जी ने छेड़ी थी, उसका स्वर गुप्त जी में कुछ ऊँचा हो जाता है।

गुप्त जी के 'अनघ' में हम को गांधीवाद की सहिष्णुतापूर्ण वीरता के दर्शन होते हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि महात्मा गांधी के विचारों की हिन्दी साहित्य में गहरी छाप पड़ी है। वीरता का दृष्टिकोण अब बदल गया है। अब अत्याचारी के अत्याचार का बदला तलवार से घाव करने में नहीं रहा

वरन् प्रेम के साथ उसके हृदय परिवर्तन में है। आजकल की वीरता का आदर्श हम इस पद्य में भली भाँति पाते हैं।

"पापी का उपकार करो, हाँ
पापों का प्रतिकार करो।
+ + + +
आग्रह करके सदा सत्य का
जहाँ कहीं हो शोध करो,
डरो कभी न प्रकट करने में
जो अनुभव जो बोध करो,
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो
दृढ़ता सहित विरोध करो,
किन्तु विरोधी पर भी अपने
करुणा करो, न क्रोध करो।"

'साकेत' में हमको सत्याग्रह और युद्ध दोनों ही पक्षों का उद्घाटन मिलता है। अनाक्रमणकारी (Non-aggressive) तथा हाथ न पसारने वाली वीरता हमको सुमित्रा के वर्णनों में मिलती है—

"स्वत्वों की भिक्षा कैसी ?
× ×
पा कर वंशोचित शिक्षा—
माँगेंगी हम क्यों भिक्षा ?
प्राप्य याचना वर्जित है,
आप भुजों से अर्जित है।
हम पर भाग नहीं लेंगी,
अपना त्याग नहीं देंगी,
वीर न अपना देते हैं,
न वे और का लेते हैं।"

गांधीवाद का गुप्तबन्धुओं पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। सियारामशरण

जी ने अपनी 'बापू' शीर्षक कविता में गांधीवाद का परिचय दिया है। देखिए कितना मानवतापूर्ण आशावाद है :—

"जान लिया तुमने विशुद्धान्तःकरण से—
सत्ताधारियों के ग्रहण से
नाश नहीं जीवन का
बीज उसमें है चिरंतन का।"

गांधीवाद के साथ-साथ देश में क्रान्ति की भी लहर चल रही है किन्तु उसकी छाया हमारी कविता में बहुत गहरी नहीं पड़ी। यत्र-तत्र हमको काव्य में उग्रता के भी दर्शन मिलते हैं। कभी-कभी नवीनजी जैसे कवि ऐसी तान सुनाने को कहते हैं, जिससे उथल-पुथल मच जाय—

"कवि, कुछ ऐसी तान सुनाओ,
जिससे उथल-पुथल मच जाए।
❀ ❀ ❀ ❀
प्राणों के लाले पड़ जाएँ
त्राहि-त्राहि रव नभ में छा जाए—
नाश और सत्यानाशों का
धुआँधार जग में छा जाए,
बरसे आग, जलद जल जाएँ,
भस्मसात् भूधर हो जाएँ।"

हमको साहित्य से क्रांति की झलक मिलती अवश्य है किन्तु ज्यादातर हमको अत्याचारों को सहने का ही उपदेश मिलता है। देखिए सनेहीजी क्या कहते हैं:—

"सह कर सिर पर भार मौन ही रहना होगा,
आये दिन की कड़ी मुसीबत सहना होगा।
रंग-महल-सी जेल आहनी❀ गहना होगा,
किन्तु न मुख से कभी हन्त हा! कहना होगा।

❀ लोहे का।

डरना होगा ईश से और दुखी की हाय से।
भिड़ना होगा ठोक कर खम अनीति अन्याय से।"

श्री मैथिलीशरण गुप्त ने 'काबा और कर्बला' शीर्षक काव्य में मुसलिम वीरता में जो कष्ट-सहिष्णुता का भाव है उसका बड़ा सुन्दर चित्रण किया है। ऐसे वर्णनों को पढ़ कर मुसलमानों के प्रति हमारी सहानुभूति बढ़ती है।

आजकल की वीरता का यही रूप है। आजकल पशुबल की अपेक्षा आत्मबल का अधिक महत्त्व है।

वर्त्तमान समय में रहस्यवाद और छायावाद की कविता का प्राधान्य होते हुए भी काव्य जीवन के घोर सत्यों की उपेक्षा नहीं कर रहा है। वह देश की निराशा और हार से भली भाँति परिचित है। वह झूठी डींग भी नहीं मारता। नवीन जैसे कवि भी पराजय गीत गाते हैं—

"आज खड्ग की धार कुण्ठिता है खाली तूणीर हुआ।
विजय पताका झुकी हुई है, लक्ष्य-भ्रष्ट यह तीर हुआ।"

आज का कवि अपने आश्रयदाता के गीत नहीं गाता। किसान, मज़दूर, पीड़ित, शोषित ही उसके गीत के विषय बन गये हैं। पंत जी की 'युगवाणी' में साम्यवाद की पूरी-पूरी छाप है। किन्तु उनका साम्यवाद शुष्क साम्यवाद नहीं है, उसमें सौंदर्य और कल्पना के लिए स्थान है। कवि की मानवतापूर्ण भावुकता में सब कुछ सुन्दर हो जाता है। हमारे भाव संकुचित राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर जाने लगते हैं। पंतजी ने भावी संस्कृति का कैसा सुन्दर रूप सामने रक्खा है :—

"जहाँ दैन्य-जर्जर, अभाव-ज्वर पीड़ित
जीवन यापन हो न मनुज को गर्हित;
युगयुग के छाया-भावों से त्रासित
मानव प्रति मानव-मन हो न सशंकित;
मुक्त जहाँ मन की गति, जीवन में रति,
भव मानवता में जन-जीवन परिणति;

संस्कृत वाणी भाव कर्म संस्कृत मन
सुन्दर हो जनवास, वसन सुन्दर तन।"

अब राष्ट्रीयता को छोड़ मानवता की पुकार की जाती है—

"क्षुद्र, क्षणिक, भव-भेद-जनित
जो, उसे मिटा, भव संघ भाव भर
देश काल औ स्थिति के ऊपर
मानवता को करो प्रतिष्ठित।"

गांधीवाद का मूल मंत्र मानवता ही माना गया है। देखिए—

"गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान।
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।"

पंतजी ने समाजवाद का सार नीचे की पंक्तियों में दिया है :—

'साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जनतंत्र महान
भव जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण।'

गांधीवाद ने देश की आत्मा की परिशुद्धि को अपना लक्ष्य बनाया है और समाजवाद ने देश के शरीर की रक्षा का बीड़ा उठाया है। जीवन के लिए शरीर और आत्मा दोनों ही आवश्यक हैं।

प्रगतिवाद ने युद्ध और संघर्ष में भाग लेने के लिए जनता को प्रोत्साहित करते हुए रूस और चीन की वीरता के गीत गाये हैं। इस प्रवृत्ति में सर्वश्री अंचल, नरेन्द्र और सुमन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। सुमन जी की 'मास्को अब भी दूर है' शीर्षक कविता पर्याप्त ख्याति पा चुकी है। हिन्दी काव्य में देश-भक्ति और राष्ट्रीयता की भावना ओत-प्रोत होती जा रही है और उसमें वर्तमान सभ्यता की मानव-गौरव-सम्बन्धिनी भावना स्पष्ट रूप से परिलक्षित हो रही है। अब स्वतन्त्र भारत में वीर रस सच्चे हृदयोल्लास से आयगा। यद्यपि भारत किसी देश पर आक्रमण नहीं करेगा तथापि अपनी और अन्य देशों की मान-मर्यादा की रक्षा के लिए कटि-बद्ध हो कर लड़ेगा। अभी हैदराबाद और कश्मीर में हमारे सैनिकों ने अपूर्व वीरता का जो परिचय दिया है उसका यशगान हिन्दी कवियों की लेखनी से अपेक्षित है। भारत

गणतन्त्र राज्य घोषित हो जाने के पश्चात् हम पर नया उत्तरदायित्व आ गया है। विश्व-मैत्री और सब धर्मों के साथ समताभाव के उच्च आदर्श के चरितार्थ कराने में हमारे कविगण सहायक हो सकते हैं।

---

२५. हिन्दी साहित्य में स्त्रियों की देन

स्त्रियों ने जीवन के प्रायः सभी क्षेत्रों में पुरुषों का साथ दिया है। साहित्य का क्षेत्र अछूता नहीं है। वह क्षेत्र भी ऐसा है जिसमें स्त्रियाँ सुलभता से सहयोग दे सकती हैं। इसमें घर के बाहर जाने की भी विशेष आवश्यकता नहीं और न इसके लिए भौतिक बल ही अपेक्षित है। स्त्रियों के विद्या-प्रेम के प्रमाण वैदिक साहित्य में भी मिलते हैं। एक दो स्त्रियाँ तो मन्त्रद्रष्टा ऋषि के पद से विभूषित हुई हैं। ऋग्वेद के दशवें मण्डल के पचोसवें सूक्त की ऋषि 'सूर्या' नाम की देवी है। मैत्रेयी, भारती, मदालसा नाम की अनेकों विदुषी स्त्रियाँ हो गई हैं। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रसिद्ध प्रार्थना मैत्रेयी की ही है। संस्कृत काव्य की रचना करने वाली स्त्रियों में लक्ष्मी, याज्ञवल्क्यस्मृति की मिताक्षरा टीका की टीका लिखने वाली विज्जका, शिलामहारिका, जिनको राजशेखर ने पाञ्चाली रीति के प्रयोग में बाण के समकक्ष रक्खा था, आदि नाम इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय हैं।

हिन्दी-साहित्य का आरम्भ वीर-काव्य से हुआ। यह ऐसा भाग-दौड़ और मार-काट का समय था कि कविता भी वे ही लोग कर सकते थे जो कि चंद की भाँति लेखनी के साथ असि को भी धारण कर सकें। यह स्त्रियों के लिए असम्भव नहीं कहा जा सकता, किन्तु उनकी प्रकृति के अधिक अनुकूल भी न था। उन्होंने मौखिक प्रोत्साहन अवश्य दिये और वे शायद लोक-गीतों में स्थान पाते हैं, किन्तु उनका कोई लिखित रूप नहीं मिलता। उस समय आत्मरक्षा और सतीत्वरक्षा सब से बड़ा कर्तव्य था। अग्नि-ज्वालाओं से अंकित जौहर उनका सबसे ओजस्वी काल था। स्त्रियाँ सन्तों की भाँति इधर-उधर अधिक भटकती भी नहीं थीं, और न उनमें मत-प्रवर्तन की प्रवृत्ति थी। किन्तु सन्त

काल के पश्चात् सन्तों की शैली में और उन्हीं के प्रिय विषयों को ले कर सहजो-बाई और दयाबाई ने अच्छी कविता की है। प्रेम-काव्य भी उन्होंने नहीं लिखा। भक्ति काव्य उनकी एक मात्र साधना-प्रधान प्रकृति के विशेष अनुकूल था। इसमें उन्होंने विशेषता प्राप्त की। इन भक्ति कवयित्रियों में राजरानी मीरा का नाम स्त्री समाज में ही नहीं पुरुष समाज में भी बड़े आदर के साथ लिया जाता है। हमारी कवयित्रियों ने अधिकतर कृष्ण काव्य को ही अपनाया है क्योंकि जीवन का माधुर्य कृष्णकाव्य में ही प्रकाश पा सका है। भगवान कृष्ण की बाल-लीला और यौवन-लीला हिन्दी कवियों के प्रिय विषय रहे हैं और इन दोनों का स्त्रियों से विशेष सम्बन्ध है। मीरा ने दाम्पत्य भाव को ही अपनाया। पुरुष कवि जब आध्यात्मिक विरह निवेदन करते हैं तब मुसलमानी शैली में तो ईश्वर को प्रेमिका बनाने से काम चल जाता है किन्तु हिन्दू शैली में ईश्वर को पुरुष रूप दिये जाने के कारण कठिनाई पड़ती है। सूर आदि अष्टछाप के कवियों ने स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करके विरह-निवेदन किया है। उसमें वह सीधा सम्पर्क, सच्चाई और तन्मयता नहीं होती जो स्त्री कवियों के विरह निवेदन में रहती है। पुरुषों में स्त्रीत्व का आरोप—जैसे कबीर ने 'राम की बहुरिया' बन कर किया, अथवा कुछ सखी संप्रदाय के कवियों ने सखी बन कर किया—हास्यास्पद हो जाता है। इसलिए दाम्पत्य भाव के प्रेम की जो स्वाभाविकता मीरा में है वह अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ती—

> हेरी ! मैं तो प्रेम दिवाणी मेरा दरद न जाणे कोय।
> \+ + + +
> दरद की मारी बनबन डोलूँ वैद मिल्या नहिं कोय।
> मीरा के प्रभु पीर मिटे जब वैद सँवलिया होय।

एक और देखिए :—

> घड़ी एक नहिं आवड़े तुम दरसन बिन मोय।
> तुम हो मेरे प्राण जी कासूँ जीवन होय॥
> घर न भावे, नींद न आवे, विरह सतावे मोय।
> घायल सी घूमत फिरूँ रे, मेरा दरद न जाणे कोय॥

× × ×

पंथ निहारूँ डगर बुहारूँ ऊभी मारग जोय।
मीरा के प्रभु कब रे मिलोगे तुम मिलियाँ सुख होय॥

मीरा के एक भक्ति सम्बन्धी पद का अनुकरण करने का मोह तो कवि-सम्राट रवीन्द्रनाथ भी नहीं संवरण कर सके। उस पद के आधार पर Gardener नाम के काव्य-संग्रह की प्रधान कविता रची गई है; देखिए:—

म्हाने चाकर राखो जी गिरधारी लला चाकर राखो जी।
चाकर रहसूँ बाग लगासूँ नित उठ दरसण पासूँ,
बिंद्रावन की कुञ्ज गलिन में गोविन्द लीला गासूँ।
चाकरी में दरसण पाऊँ सुमिरिण पाऊँ खरची* ॥

अब रवि बाबू की गार्डनर की कविता लीजिए—

Make me the gardener of your flower garden.

What will you have your reward? To be allowed to hold your little fist like tender lotus buds and slip flower chains rou nd your wrists.

म रा के साथ ही सहजोबाई और दयाबाई का नाम लिया जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इनकी कविता संत श्रेणी की थी। सन्तों के मूल विषय हैं गुरु-महिमा और आत्मा-परमात्मा की एकता। इन दोनों विषयों का अच्छा प्रतिपादन हमको इन कवयित्रियों में मिलता है; देखिए:—

चिंउटी जहाँ न चढ़ि सके, सरसों ना टहराय।
सहजोकूँ वा देश में, सतगुरु दई बसाय॥

जीव ब्रह्म की एकता के सम्बन्ध में दयाबाई का एक पद लीजिए—

ज्ञान रूप को भयो प्रकास
भयो अविद्या तम को नास।
सूझ परयो निज रूप अभेद,
सहजै मिट्यो जीव को खेद॥

---

* जेब खर्च।

× × ×

जग विवर्त सो न्यारा जान,
परम देव रूप निरबान।
निराकार निरगुन निरबासी,
आदि निरंजन अज अविनासी ॥

उपर्युक्त पद में वेदान्त का सार आ गया है। सहजोबाई और दयाबाई दोनों ही महात्मा चरनदास की शिष्या थीं। मुसलमान कवयित्रियों में ताज और शेख (रंगरेजिन) के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। ताज ने कृष्ण-भक्ति की कविता की है, शेख भी इसी रंग में रँगी थी। उसने शृंगारिक कविता भी की है। ताज को कृष्ण-भक्ति का गर्व था—'नन्द के कुमार कुरबान ताणी सूरत पै, हौं तो तुरकानी हिन्दुआनी ह्वै रहूँगी मैं'। उन्होंने कृष्ण के रूप माधुर्य के सम्बन्ध में बहुत सुन्दर पद लिखे हैं। ब्रजभाषा और खड़ी बोली दोनों में ही उन्होंने कविता की है। खड़ी बोली का एक नमूना लीजिए:—

छैल जो छबीला सब रंग में रँगीला बड़ा,
चित्त का अड़ीला सब देवतों से न्यारा है।
माल गले सोहै, नाक मोती सोहै कान,
मोहै मन कुंडल मुकुट सीस धारा है॥
दुष्टजन मारे, संत जन रखवारे 'ताज',
चित हित वारे प्रेम प्रीत कर वारा है।
नन्द जू को प्यारा जिन कंस को पछारा,
वह वृन्दावन वारा कृष्ण साहब हमारा है॥

शेख आलम की पत्नी और जहान की माँ थी। ताज की अपेक्षा शेख को ब्रजभाषा पर अधिक अधिकार था। उनकी कविता से यह नहीं प्रतीत [illegible] कि वह किसी मुसलमानी की है। देखिए:—

मिटि गयौ मौन पौन साधन की सुधि गई,
भूली जोग जुगति बिसारयो तपबन को।

सेख प्यारे मन को उजारो भयो प्रेम नेम,
तिमिर अज्ञान गुन नास्यो बालपन को।
चरन कमल ही की लोचन में लोच घरी,
रोचन ह्वै राख्यो सोच मिटो धाम धन को।
सोक लेस नेक हू कलेस को न लेत रह्यो,
सुमिर श्री गोकलेस गो कलेस मन को॥

इसमें यमक की छटा दर्शनीय है।

कहा जाता है कि हिन्दी में बरवै छन्द एक स्त्री की ही देन है। उसने अपने पति के नौकरी पर चले जाने पर नीचे लिखा छन्द भेजा था—

प्रेम प्रीत कौ बिरवा चलेहु लगाय।
सींचन की सुधि लीजौ मुरझि न जाय॥

इसमें बिरवा शब्द होने के कारण रहीम ने इस छन्द का बरवै नाम रखा और स्वयं उसके अनुकरण में 'बरवै नायिका भेद' लिखा। फिर गोस्वामी तुलसीदास जी ने रहीम के अनुकरण में बरवै-रामायण की रचना की। गोस्वामी तुलसीदास जी की स्त्री रत्नावली की कविता की भी चर्चा हो चली है, किन्तु उसकी प्रामाणिकता में अभी संदेह है।

मध्यकाल में बहुत सी स्त्रियाँ कविता करती थीं। कुलाङ्गना ही नहीं वरन् वेश्याएँ भी कविता से प्रेम रखती थीं और यदि केशवदास जी की गवाही मानी जाय तो वे कविता भी करती थीं। 'तिन में करति कवित्त इक, एक प्रबीन प्रबीन'। उसी की शिक्षा के लिए हिन्दी संसार को केशव की 'कविप्रिया' मिली। गिरधर कविराय की स्त्री ने अपने पति के ही टक्कर की कुण्डलियाँ रची हैं। यदि उनमें 'साईं' शब्द न हो तो पहचानना कठिन हो जाय कि ये गिरधर की हैं या और किसी की। 'साईं ये न विरुद्धिए गुरु पंडित कवि यार' ऐसी कुण्डलियाँ पर्याप्त ख्याति पा चुकी हैं।

ब्रजभाषा और राजस्थानी काव्य की सरसता बढ़ाने वाली कोकिलाओं में रसिक बिहारी (श्री नागरीदास जी की दासी बनी ठनी थी), प्रताप कुँवर बाई, सुन्दर कुँवर बाई, रत्न कुँवर बीबी, चन्द्रकला बाई, जुगल प्रिया आदि

अनेकों नाम गिनाये जा सकते हैं। इनकी विशेषता यही है कि ये प्रायः रानियाँ थीं, या इनका राजघरानों से सम्बन्ध था। उन दिनों उच्च शिक्षा साधारण लोगों के लिए अप्राप्य थी।

बिलकुल वर्तमान काल में आने से पूर्व श्रीमती रघुवंश कुमारी, श्रीमती राजरानी देवी, श्रीमती सरस्वती देवी, श्रीमती बुन्देला बाला, (लाला भगवान-दीन की धर्मपत्नी) श्रीमती गोपाल देवी, श्रीमती राजदेवी, श्रीमती कीरति कुमारी आदि देवियों के नाम उल्लेखनीय हैं। इनकी कविताओं में देश-प्रेम और द्विवेदीयुग की उपदेशात्मकता का प्राधान्य है। श्री तोरनदेवी लली ने भी प्रायः देश-प्रेम की ही कविता की है; किन्तु उनकी रचनाओं में पाण्डित्य और कला की कुछ अधिक झलक मिलती है। इसी के साथ उनकी कविताओं में भक्ति और रहस्यवाद का भी पुट पाया जाता है। 'मुझ से मिल जाना इक बार' बड़ी सुन्दर कविता है। पहले कवयित्री ने अपने भगवान को नव कुसुमों की कुंजलता में ढूँढा, अब वह उन्हें देश-प्रेम के अभिमानों में, वीरश्रेष्ठ-गुण-गानों में देखना चाहती हैं। इस प्रकार उन्होंने देश-प्रेम और ईश्वर-भक्ति का सम्बन्ध किया है।

वर्तमानकाल की कवयित्रियों में श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान और श्रीमती महादेवी वर्मा के नाम उज्ज्वल नक्षत्रों की भाँति जगमगाते हैं। श्रीमती सुभद्रा कुमारी चौहान की राजनीतिक कविताओं में क्षत्राणी का वीरदर्प है और उनकी वात्सल्य-रस-सम्बन्धिनी कविताओं में नारी-हृदय सुलभ कोमलता भी है। उनकी राजनीतिक कविताओं में 'झाँसी की रानी' ने बहुत ख्याति पाई है। उनकी वात्सल्य सम्बन्धी कविताओं में जो माधुर्य है वह उनको एकदम सत्कवियों में प्रतिष्ठित कर देता है। उनकी 'मेरा बचपन' शीर्षक कविता बड़ी मर्म-स्पर्शिनी है—

वह भोलापन मधुर सरलता, वह प्यारा जीवन निष्पाप।
क्या फिर आ कर मिटा सकेगा, तू मेरे मन का सन्ताप?
मैं बचपन को बुला रही थी, बोल उठी बिटिया मेरी;
नन्दन वन सी फूल उठी वह छोटी सी कुटिया मेरी।

पाया मैंने बचपन फिर से, बचपन बेटी बन आया,
उसकी मञ्जुल मूर्ति देख कर, मुझ में नवजीवन आया।

श्री महादेवी वर्मा की कविताओं में हृदय को पवित्र करने वाली करुणा की अपूर्व कलामयी अभिव्यक्ति है जो उन्हें अपने वर्ग के पुरुष कवियों से ऊँचा नहीं उठाती तो उनके समकक्ष अवश्य रख देती है। उनके काव्य में एक दार्शनिकता है जिसमें दुख ही सुख बन जाता है और ससीम अपनी पीड़ा में असीम का मुकाबला करता दिखाई देता है। वे असीम को सीमा के बन्धनों में देखना चाहती हैं :—

विश्व में वह कौन सीमाहीन,
हो न जिसका खोज सीमा में मिला?
क्यों रहोगे क्षुद्र प्राणों में नहीं,
क्या तुम ही सर्वेश एक महान हो?

उनका प्रेम निष्काम प्रेम है। वे अमरता नहीं चाहतीं, वरन् मर मिटने को ही अपना अधिकार समझती हैं।

क्या अमरों का लोक मिलेगा
तेरी करुणा का उपहार?
रहने दो हे देव! अरे यह
मेरा मिटने का अधिकार!

वे युग-युग तक साधना में ही लगी रहना चाहती हैं। 'युग युगान्तर की पथिक मैं छू कभी लूँ छाँह तेरी। ले फिरूँ सुधि दीप सी, फिर राह में अपनी अँधेरी।' यह इसीलिए कि विरह की पीड़ा का उन्माद प्रिय मिलन से कम महत्त्व नहीं रखता। 'विरह से कम मादक पीर नहीं'। इसीलिए वे मिलन के समय अपना अस्तित्व या व्यक्तित्व ही मिटा देना चाहती हैं। प्रियतम का मिलन भी न चाहना त्याग की पराकाष्ठा है; देखिए:—

काटूँ वियोग पल रोते
संयोग समय छिप जाऊँ।

महादेवी वर्मा सफल कवयित्री ही नहीं हैं, उनकी गद्य रचनाएँ भी बड़ी

आधुनिक प्रगतिवादी लेखक भी यथार्थता के पक्ष में ही सम्मति देते हैं। निस्संदेह हिन्दी साहित्य के किसी भी युग में यथार्थवाद की इतने आग्रह से माँग नहीं की गई जितनी कि आज के युग में।

इन दोनों वादों के अपने अपने क्षेत्र और सीमाएँ हैं। गुण और अवगुण दोनों में विद्यमान हैं। इसका भी विवेचन कर लेना आवश्यक है। इन दोनों वादों की गुणग्राहकता समय की माँग पर निर्भर है। आदर्श समय की आवश्यकतानुसार परिवर्तित होते रहते हैं। प्रत्येक वस्तु गतिशील होनी चाहिए, नहीं तो वह जड़ हो जाती है। आदर्श का मनुष्य की पकड़ से जरा बाहर होना वांछनीय है। A thing should exceed one's grasp— परन्तु इतनी मात्रा में नहीं कि वे लोमड़ी के खट्टे अंगूर हो उठें।

आदर्शवाद के अनेक गुण हैं। इसमें चुनाव, पूर्णता, सामंजस्य, सुव्यवस्था, परिष्कार, औचित्य एवं भूत, भविष्य और अव्यक्त की ओर झुकाव रहता है। प्रत्येक समय की परिस्थितियाँ अपना आदर्श स्वयं गढ़ लेती हैं। हिन्दी और अन्य देशों के साहित्य इसके उदाहरण हैं। प्राचीन साहित्य प्रत्येक देश का संघर्षपूर्ण है। युद्धकालीन समय का आदर्श वही हो सकता है जो वीर, साहसी, धीर और पराक्रमी हो। उसमें असाधारण बल हो। नीति और न्याय में पारंगत हो। आंग्ल साहित्य में आर्थर (Arthur) की असाधारण और अलौकिक गाथाएँ और ऐल्फ्रेड (Alfred) की वीरता इसके उदाहरण हैं। यूनान का पूरा साहित्य रोमन युद्धों का सवाक् चित्रपट है। वहाँ एटलस (Atlas) ने पृथ्वी को कंधे पर उठा लिया था। ट्राय के योद्धा अमर हो गये। फारस के सोहराब और रुस्तम की वीरता भी इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। भारतीय साहित्य की वीरगाथायें और डिंगल का चारण-काव्य भी इसी के द्योतक हैं। हमारे प्राचीन महाकाव्य प्रायः सभी आदर्शवादी हैं। महाभारत और रामचरितमानस अनेक आदर्शों के समन्वय हैं; अपने अपने चरित्रादर्शों की लंबी सूची हैं। भक्ति-काल में राम न्यायप्रिय धर्मावलंबी और वीरपुरुष के आदर्श थे। उस समय ऐसा ही अवतार चाहिए था। कृष्ण को अपने समय की आवश्यकताओं ने गढ़ा था और इसीलिए वह

राम से भी चार पग आगे थे। ये सब आदर्श ऐसे थे जिनका अनुसरण करके मनुष्य इस लोक को तो क्या उस लोक तक को बना सकता था।

आदर्श में परोक्ष का बहुत हाथ रहता है। इतना सब कुछ होते हुए भी इन आदर्शों में कभी-कभी न्यूनताएँ आ जाती हैं। इनके अपने दोष भी हैं। कभी कभी यह क्लिष्ट, अस्वाभाविक, अयथार्थतापूर्ण हो उठते हैं। धार्मिक संकीर्णता, प्रत्यक्ष उपदेश की प्रवृत्ति और वर्तमान जीवन से संबंध विच्छेद हो जाने पर आदर्श की महत्ता लुप्त हो जाती है।

दूसरी ओर यथार्थता के भी अपने गुण और दोष हैं ! इसमें यथार्थता, स्वाभाविकता, सरलता, सुस्पष्टता, मूर्तता और वर्तमान जीवन से प्रेम विद्यमान रहता है। परन्तु इसके लिए नग्न चित्रण आवश्यक नहीं। कल्पना का पुट आवश्यक है, नहीं तो यथार्थता नीरस अश्लील और अशान्ति की पोषक हो कर पूर्णता अथवा औचित्य का विरोध करने लगती है। यथार्थ में सत्य रहता है, परन्तु कटु-सत्य बहुधा भलाई में सहायक नहीं होता। कोरी नामावली और घटनाओं का विशद वर्णन इतिहास हो उठता है।

दोनों के गुण और दोषों का विवेचन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि दोनों का सामंजस्य और समन्वय ही लाभकारी हो सकता है। दोनों एक दूसरे को पारस्परिक पूर्णता प्रदान करते हैं। Ruskin ने जैसा कहा है—"One completes the other and is completed by the other." इनकी व्यापकता काव्य के विविध रूपों में पाई जाती है। आदर्श यथार्थ को ऊँचा उठाता है और यथार्थ आदर्श को खोखला होने से बचाता है। आदर्श पात्र हमारी न्यूनताएँ बताते है और सुधारों का निर्देश करते हैं।

प्रो० श्रीरंजन ने कहा है कि—"दोनों तत्त्व ही साहित्य अभियान के दो पहिये हैं......उनमें से एक के अभाव में साहित्य कोरा शरीर अथवा निराधार प्राण ही रह जाएगा।" भारतीय संस्कृति के दो शब्दों 'श्रेय' और 'प्रेय' का सम्मिलन ही श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी है।

"जीवन के स्थूल कठोर सत्य की उपेक्षा न करते हुए भी हम स्वभावतः परिशान्ति के लिए उत्सुक रहते हैं !" संघर्ष मानव-जीवन का अन्तिम साध्य

नहीं हो सकता। वह तो किसी विशेष तत्त्व तक पहुँचने का एक साधन मात्र ही है और रहेगा। हमें अगर दृढ़ता से पैर जमाने के लिए पृथ्वी चाहिए तो सिर पर छाया के लिए आकाश भी आवश्यक है। कलाकार केवल कल्पना को ले कर जीवित नहीं रह सकता। उसे कल्पना के आधार का चुनाव पृथ्वी की किसी जड़ या चेतन वस्तु से ही करना पड़ता है। उसके बाहर रह कर कलाकार केवल स्वप्नदर्शी हो सकता है, युग-निर्माता नहीं। कला की सुन्दर, संश्लिष्ट योजना के लिए हमें स्थूल का सहारा लेना ही पड़ेगा। पर केवल स्थूल के मोह से हम पृथ्वी पर ही लेटे नहीं रह सकते। पृथ्वी पर निर्मित अपनी रचना को हमें ऊपर उठाना ही पड़ता है। हमारे चालीस खंडों के गगनचुम्बी प्रासाद आज इसी बात के सूचक हैं।

हमारे प्राचीन आदर्शवादी महाकाव्य में भी दोनों वादों का समन्वय है। उनमें आदर्श के साथ-साथ मानव दुर्बलताएँ भी दिखाई गई हैं। 'उत्तर-रामचरित' में राम सीता का निर्वासन केवल आदर्श की स्थापना के लिए करते हैं; परन्तु वही राम साधारण कोटि में आ जाते हैं जब सीता का विरह ताप उन्हें झुलसाये डालता है। 'रामायण' का 'राम-राज्य' सुव्यवस्थित राज्य की कल्पना है, परन्तु वह भी आधुनिक राज्य-व्यवस्था की तुलनात्मक कमी बताता है। जब आदर्श की प्राप्ति हो जाती है तब वही यथार्थ बन जाता है। वहीं पूर्णता है जहाँ हमारे भावों को विश्राम मिले। कविवर प्रसाद ने कहा है, "जहाँ हमारी कल्पना आदर्श का नीड़ बना कर विश्राम करे वही स्वर्ग है।" आदर्श की प्राप्ति ही चरम सुख है।

कोरा यथार्थतावाद नीरस, शुष्क और रुग्ण हो उठता है। आज के साहित्य में इसका ही बोलबाला है। वे इस यथार्थ पर किसी प्रकार का भी आवरण नहीं चाहते। इसीलिए आज के प्रगतिवादी यथार्थतावादियों पर अश्लीलता का आरोप किया जाता है। इसकी प्रेरणा उन्हें अभारतीय साहित्य से मिली है। आंग्ल साहित्य में बीसवीं शताब्दी का साहित्य इसका भंडार है। Thomas Hardy का कथन है—"Let there be truth at last, even if despair." और इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन वह जीवन भर अपने साहित्य

में करता रहा। Mayor of Casterbridge का चरित्र यथार्थता के भँवर में पड़ी हुई वस्तु की मूर्ति है। Tess के संघर्षमय जीवन और बलात्कार की यथार्थवादिता के ही कारण वह उपन्यास दुखान्त है। Jude का चरित्र 'होरी' की प्रतिध्वनि है! प्रतिक्षण Jude कराह उठता है, परन्तु निरन्तर बढ़ा जा रहा है। 'होरी' की भाँति उसका अन्तिम निदान भी मृत्यु है। Shakespeare ने ठीक ही कहा है :—

"As flies to wanton boys
are we to gods,
They kill us for their sports."

यह सब तो रही विदेशी साहित्य की दिशा। 'यथार्थवाद' के नारे को ले कर हमारे अपने साहित्य में भी कलाकार सतत प्रयत्नशील हैं। स्वर्गीय प्रेमचन्द जी के समय में ही उन पर यह दोषारोपण किया गया था कि वे आदर्शवादी हैं। अच्छा हुआ वे उस समय जीवित थे और अपने आलोचकों की शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न करते रहे। साहित्य में प्रचलित यथार्थवाद की वे अधिकतर निंदा ही करते रहे। वे मानते थे कि यथार्थवाद में हमारी दुर्बलताएँ भरी हैं और साहित्य में उन्हीं का चित्रण हमें निराशावादी बना देगा। उनका पात्र चक्रधर 'कायाकल्प' में कहता है,—"यथार्थ का रूप अत्यन्त भयंकर होता है, और हम यथार्थ को ही आदर्श मान लें तो संसार नरक तुल्य हो जाए।" साहित्य का ध्येय ही मनुष्य का उत्थान है पतन नहीं। आज के प्रगतिवादी आलोचक प्रेमचन्द जी की इस प्रवृत्ति को 'पलायन' मानते हैं, क्योंकि प्रेमचन्द जी यथार्थ का सामना नहीं कर सकते थे। परन्तु उनके उपन्यास के पात्र अधिकतर कर्मयुद्ध में आमरण जूझते हैं। कविवर प्रसाद भी यथार्थवाद को 'अभाव और लघुता' का द्योतक मानते हैं। निःसन्देह प्रेमचन्द जी में इस यथार्थ और आदर्श का पूर्ण समन्वय था। प्रसाद जी भी आदर्शवादी घोषित कर दिये गये हैं। परन्तु श्री नन्ददुलारे वाजपेयी सिद्ध करते हैं कि वे यह सब कुछ नहीं थे। "हमारे युग में गुप्त जी आदर्शवाद और महादेवी जी यथार्थवाद की प्रवर्त्तक मानी जाती हैं।" आधुनिकतम कलाकार शुद्ध यथार्थता-

वाद का परिधान पहने हैं। इनमें शालीनता का अभाव है, जो साहित्य का एक आवश्यक अंग है। साहित्य का 'शिव' यथार्थता तथा आदर्श दोनों के ग्रहण में ही है। Addison और Victor Cousin के अनुसार कला की पूर्णता इन दोनों के सम्मिश्रण में ही है। Plato स्वयं आदर्शवादी ही थे और कलाकार के लिए इसको एक आवश्यक अंग भी मानते थे। इसके विरोध में Aristotle यथार्थवादी थे परन्तु उनके माप दंड में पर्याप्त हेरफेर हो गया है, और आज के लिए समन्वय की भावना में ही कल्याण है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि यथार्थ का आधार सत्य है, तो कवि की कल्पना, जिसका आधार भी कोई न कोई सत्य ही है, यथार्थ के ही अन्तर्गत आयेगी या नहीं ? कल्पना साहित्य-सृजन में मुख्य वस्तु है, यहाँ तक कि पन्त जी का कवि कल्पना को "ईश्वरीय प्रतिभा का अंश" मानता है। सत्य से ही लगा हुआ सौन्दर्य है। सत्य सुन्दर अवश्य होगा। कीट्स (Keats) का कथन है—

"Beauty is truth, truth beauty,
That is all ye know on earth,
And all ye need to know."

इससे ही निकटतम सम्पर्क में 'शिव' का स्वरूप आता है। जो वस्तु सत्य और सुन्दर होगी, वह मंगल-सूचक अवश्य होगी। आचार्य शुक्ल इसी को 'लोकमंगल और लोकाराधन' की भावना कहते हैं। साहित्य और कला की अधिष्ठात्री शारदा का भी ध्यान 'वीणापुस्तकधारिणी' के रूप में होता है। हंस उनका वाहन है और वह नीर-क्षीर-विवेकी होने के कारण सत्य का प्रतीक है और वीणा 'सुन्दरम्' की। सुन्दर सत्य का ही परिमार्जित रूप है। पन्तजी का विचार है कि "सत्य शिव में स्वयं निहित है।" परन्तु इतना सब कुछ होते हुए भी कलाकार के सत्य को क्षुद्र निश्चित अगतिशील सीमाओं में बाँधा नहीं जा सकता। वह संभावना के क्षेत्र के बाहर नहीं जाता और यही उसकी यथार्थता है।

आज हमें ऐसे साहित्य की रचना की आवश्यकता है जो आदर्श की सीमा को छूते हुए भी, जीवन के व्यवहार पक्ष की उपेक्षा न करे; जिसके वर्तमान अभाव के पीछे भावी का सुन्दर निर्माण निहित हो। आदर्श और

वास्तविकता का यही मिलन साहित्य में उपयोगिता और सौन्दर्य की सृष्टि करता है। जीवन की सत्य अनुभूति और चेतना से शून्य कला स्वतः नष्ट हो जाएगी। "कला या साहित्य न तो हमारी ठोस भौतिक आवश्यकता का प्रतीक है और न काल्पनिक आदर्श की छाया मात्र।" वह तो जीवन के 'श्रेय' और 'प्रेय' का सुयोग है और इस सुयोग से सुसम्पन्न साहित्य ही श्रेष्ठ साहित्य की कसौटी पर खरा उतर सकता है।

---

२६. भक्ति-काव्य पर एक आलोचनात्मक दृष्टि

महत्त्व के मूल कारण—हिन्दी साहित्य के इतिहास में भक्ति काल को स्वर्ण युग माना गया है। इसी ने हिन्दी-साहित्य-गगन के सूर और शशी उत्पन्न किये हैं। इस काल का काव्य राज्याश्रित न रह कर या तो स्वान्तः सुखाय लिखा गया या लोक-आश्रित रहा। इस काल की यह विशेषता थी कि इसके कवियों ने राज्याश्रय को ठुकराया। कुम्भनदास का 'सन्तन कहा सीकरी सों काम' अथवा तुलसीदास का 'कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना, सिर धुनि गिरा लागि पछिताना' उस समय की विचारधारा के द्योतक हैं। एक बार तानसेन ने अकबर के बहुत आग्रह करने पर उन्हें बैजूबावरे का गाना सुनवाया। अकबर को वह गाना बहुत पसन्द आया और तानसेन से पूछा कि तुम ऐसा गाना क्यों नहीं गा सकते। तानसेन ने उत्तर दिया—जहाँपनाह! मैं सिर्फ भारत के सम्राट् को खुश करने के लिए गाता हूँ और वे तीन लोक के शाहनशाह की प्रसन्नता के लिए गाते हैं। यही बात भक्तिकाल के काव्य के लिए भी कही जा सकती है। उस काल की कविता में कवियों ने अपने हृदय का रस घोला और अपने मन की मौज में गाया। कला वही है जो बाहरी प्रलोभनों से परे हो। हार्दिकता, विशाल मानवता-प्रेरित अद्रोह भावना, सांसारिक प्रलोभनों का तिरस्कार और अपने लक्ष्य की पूर्ति में काव्य-कला को साधन मात्र मानना, साध्य न बनाना, ये चार बातें भक्तिकाल की मूलगत विशेषताएँ रही हैं और इन्हीं के कारण वह इतना मान्य हो सका है।

शाखाएँ—हिन्दी काव्य का स्वागत रण-भेरी की तुमुल तान से हुआ था। उस समय वीर काव्य लिखा जाना स्वाभाविक ही था, किन्तु अपेक्षाकृत शान्ति स्थापित हो जाने के पश्चात् काव्य का स्वर बदला। आँधी के पश्चात् शान्ति का वातावरण आता है। दोनों ही जातियों में समझौते और एक दूसरे के निकट आने की भावना उत्पन्न हुई। जो लोग इस पक्ष में नहीं थे उन में कम से कम संतोष और अद्रोह भावना के साथ भगवान पर भरोसा करने की प्रवृत्ति थी।

हिन्दुओं की ओर से जो मुसलमानों के साथ समझौते की प्रवृत्ति थी उसने निर्गुणवादी सन्त-काव्य का रूप धारण किया। मुसलमानों को मूर्ति-पूजा से विशेष विरोध था, निर्गुणवाद में अवतारवाद और मूर्तिपूजा का बहिष्कार था, किन्तु व्यापक हिन्दू धर्म के ही ब्रह्मवाद का समर्थन, प्रतिपादन और प्रचार था। निर्गुणवाद में अवतारवाद का तो बहिष्कार सा हुआ किन्तु राम नाम की प्रतिष्ठा रही; इसीलिए वह थोड़ा बहुत लोकप्रिय हो सका—'सिरजनहार न ब्याही सीता जल पखान नहिं बाँधा'। निर्गुणवाद मुसलमानी अल्लाहवाद से एक तो न था किन्तु उसके बहुत निकट था। उसमें कबीर जैसे कवि के काव्य में, जो दोनों ही संस्कृतियों में पले थे, कुछ मुसलमानी पुट भी आ गया था। कबीर ने दोनों पक्षों का खण्डन कर एक दूसरे से न मिलाने वाले गर्व को दूर करना चाहा और राम रहीम की एकता का स्वर अलापा किन्तु दोनों का खण्डन करने के कारण किसी एक में भी वे अधिक लोकप्रिय न हो सके। पर उनका गायन नितान्त अरण्य-रोदन न रहा। उसका फल उनके पश्चात् अकबर की उदार नीति और वैष्णवों की शूद्रों के प्रति सहृदय भावना में दिखाई पड़ा।

कबीर ने यद्यपि अपने निर्गुण को प्रेम का विषय बनाया था और उस पर शृङ्गारिक आवरण भी चढ़ाया था तथापि वह आवरण उनकी 'झीनी बीनी चदरिया' की भाँति पारदर्शक रहा। शून्य की सेज शून्य ही रही और उनकी शृंगारिकता किसी के हृदय को स्पर्श न कर सकी।

मुसलमानों की ओर से जो समझौते का प्रयत्न हुआ वह सूफीकाव्य के रूप में जनता के सामने आया। सूफी लोग सदाशय और मुलायम तबियत के

थे। ये गाने बजाने और कीर्तन के पक्ष में थे। ये भारतीय ब्रह्मवाद से प्रभावित थे और मंसूर जैसे तत्त्वदर्शी फकीर ने 'अहं ब्रह्मास्मि' के अरबी रूपान्तर 'अनल हक़' (मैं सचाई हूँ) की आवाज़ उठाई थी। जायसी ने कबीर के ब्रह्म को कुछ अधिक सगुणता (साकारता नहीं) दे कर लौकिक कथाओं के रूपकों द्वारा प्रेम के राजमार्ग से उस तक पहुँच कराने का प्रयत्न किया। यद्यपि ये कहानियाँ लोक-प्रसिद्ध थीं, तथापि इनमें लोक-हृदय को आकर्षित करने की वह शक्ति न थी जो चिर-प्रतिष्ठित राम और कृष्ण में थी। सूफी मत का मुसलमानों में अधिक प्रभाव रहा। उसने एक सीमित क्षेत्र में उनकी कट्टरता दूर की। हिन्दुओं के हृदय में भी आकर्षण उत्पन्न किया किन्तु वह लोकव्यापी न हो सका।

तीसरी प्रवृत्ति जो सन्तोष और विद्रोह के साथ अपने इष्ट देवों के गुण-गान और संरक्षण में विश्वास की थी वह भक्त-कवियों में प्रस्फुटित हुई। इसकी दो शाखाएँ हुईं, एक कृष्ण-भक्ति आश्रयी और दूसरी राम-भक्ति आश्रयी। पहली के प्रतिनिधि सूर थे और दूसरी के तुलसीदास। ये दोनों ही धाराएँ हिन्दू जीवन के साथ घुल मिल गईं। राम और कृष्ण के लिए जनता के हृदय में स्थान था और काव्य के लिए वे लोक-आलम्बन बनने की क्षमता रखते थे। उनके आश्रय से कवि और पाठक के हृदय का सहज में तादात्म्य हो सकता था।

इस प्रकार भक्ति-काव्य की चार शाखाएँ हुईं—एक कबीर द्वारा प्रचारित निर्गुणवादी सन्तों की शाखा; दूसरी सूफियों की प्रेम-मार्गी शाखा, जिसका जायसी ने प्रतिनिधित्व किया। ये दोनों ही एक प्रकार से निर्गुण-परक थीं। सगुणोपासकों की दो शाखाएँ हुईं—एक सूर प्रभृति अष्टछाप के कवियों की कृष्णाश्रयी और दूसरी तुलसी प्रभावित राम-भक्ति-शाखा।

अन्विति—यद्यपि भक्ति-काल की चार शाखाएँ थीं तथापि उनमें एक विशेष अन्विति थी, जिसके कारण वे सब भक्ति के एक सूत्र में बँध सकीं। उनमें सबसे पहले तो भक्ति की प्रधानता थी। कबीर ने ज्ञानोपासक होते हुए भी भक्ति को पर्याप्त महत्त्व दिया है; 'और कर्म सब कर्म है भक्ति कर्म निष्कर्म' तथा "कह कबीर हरि भक्ति बिनु मुकति नहीं रे मूल" आदि वाक्य इसके प्रमाण हैं। कबीर पर वैष्णव-धर्म का पर्याप्त प्रभाव था, उसी के कारण उन्होंने अहिंसा-

वाद का प्रचार किया।

सूफियों का प्रेम तो भक्ति का एक व्यापक रूप ही था और भक्त कवि तो भक्ति को ही सर्वस्व मानते थे। वैसे भी इन चारों सम्प्रदायों के कवियों में एक विशेष आत्मोत्सर्ग और द्रवण-शीलता की भावना थी।

ईश्वर-भक्ति के अतिरिक्त गुरु-भक्ति का सूत्र चारों सम्प्रदायों में व्यापक था। कबीर ने गुरु को परमात्मा से भी बड़ा कहा है—

"कबिरा हरि के रूठते गुरु के सरने जाय।
कहि कबीर गुरु रूठते हरि नहिं होत सहाय।"

गुरु की महिमा को उन्होंने वर्णनातीत कहा है—

"सब धरती कागद करूँ, लेखनि सब बनराय।
सात समुँद की मसि करूँ, गुरु गुन लिखा न जाय।"

जायसी ने भी अपने पद्मावत के आरम्भ में गुरु की वन्दना की है—

'सैयद असरफ पीर पियारा। जेहि मोहि पंथ दीन उजियारा!'

तुलसी ने रामचरित मानस के प्रारम्भ में गुरु को नररूप हरि कहा है (उसमें चाहे नरहरि दास की ओर भी संकेत हो) और 'बंदउँ गुरु-पद पदुम परागा, सुरुचि सुबास सरस अनुरागा' लिख कर गुरु के प्रति अचल भक्ति का परिचय दिया है। सूरदास जी ने तो सारी कृष्ण-लीला का गान गुरु के स्तवन रूप में ही किया था ('मैं तो सगरौ जस श्री आचार्य जी को ही वर्णन कियौ है जो मैं कछु न्यारौ देखतो तो न्यारौ करतो')। फिर भी उन्होंने अन्त समय पर गुरुभक्ति का एक विशिष्ट पद गाया—

'भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ-नख-चन्द्र-छटा बिनु सब जग माँझ अँधेरो।'

तीसरी बात जो सब सम्प्रदायों में व्यापक रूप से वर्तमान थी वह थी नाम-महिमा—नाम को सभी ने महत्ता दी है; क्योंकि वह स्मरण-रूपी साधना का प्रधान अङ्ग है। कबीरदास जी कहते हैं—

"जैसो माया मन रम्यो तैसो नाम रमाय।
तारा मंडल बेधि कै तबहिं अमरपुर जाय॥"

सूफियों में भी नाम की महिमा स्वीकार की गई है। तुलसीदास जी ने नाम को निर्गुण और सगुण का मेल कराने वाला कहा है। वास्तव में सगुण और निर्गुण का समन्वय नाम में है; इसीलिए तुलसी ने उसे दोनों से बड़ा कहा है—

अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥
मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किये जेहि जुग बस निज बूते॥

तुलसी ने राम नाम को राम से बढ़ कर ही माना है।

राम एक तापस तिय तारी। नाम कोटि खल कुमति सुधारी॥

इस प्रकार हम देखते हैं कि तुलसी जैसे राम के अनन्य भक्त में भी नाम के द्वारा सगुण निर्गुण के समन्वय की प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। सूर ने भी नाम स्मरण का सहारा लिया है।

'जो पै राम नाम मन धरतो' 'रे मन कृस्न नाम कहि लीजै'
'कृस्न नाम बिनु जनम बाद ही, वृथा जिवन कहा लीजै'
'है हरि नाम को आधार'

आदि वाक्य सूर की नाम स्मरण में आस्था के साक्षी हैं।

भक्ति काव्य में चौथी प्रवृत्ति वृथा आडंबर का तिरस्कार, समान भाव तथा दलित और पीड़ित की ओर दया भाव की है। कबीर का साम्य भाव तो प्रसिद्ध ही है।

'गुप्त प्रगट है एकै मुद्रा। मानो कहिए ब्राह्मन शुद्रा'॥
'एक बिंदु ते सृष्टि रच्यो है। को ब्राह्मण को शुद्रा'॥

किन्तु वैष्णव कवियों में भी शूद्रों के प्रति अपेक्षा-कृत कोमलता का भाव है। मर्यादावादी तुलसीदासजी ने वर्ण-भेद का तो आग्रह किया है, फिर भी उन्होंने रामभक्ति के नाते निषाद और शबरी को अपनाया है। सूर इस मामले में कुछ अधिक उदार हैं। देखिए—

कौन जाति को पाँति विदुर की जिन के प्रभु ब्योहारत।
भोजन करत तुष्टि घर उनके राज मान मद टारत।
ओछे जनम करम के ओछे ओछे ही अनुसारत।

× × × ×

स्वपच गरिष्ट होत (पद) रज सेवत,
बिनु गोपाल द्विज जन्म नसावत।

वर्णव्यवस्था में यद्यपि तुलसीदास जी ने विषमता को आश्रय दिया है तथापि उन्होंने पर-हित को सबसे बड़ा धर्म माना है—

'परहित सरिस धर्म नहि भाई, पर पीड़न सम नहिं अधमाई'।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भक्ति-काल के सभी कवियों में हृदय की ईमानदारी, पाखण्ड और आडम्बर का द्वेष, समझौते और समन्वय की प्रवृत्ति तथा दीन और पापी के प्रति सहानुभूति का भाव था। इसीलिए वह काव्य सर्वमान्य हुआ।

सम्प्रदायों की विशेष देन—भक्तिकाल के सभी सम्प्रदाय यद्यपि आध्यात्मिक भावनाएँ ले कर अग्रसर हुए थे तथापि सब का जीवन से सम्बन्ध था। निर्गुणवाद भी लोक पक्ष से वियुक्त न था। उसने हिन्दू-मुसलिम एकता तथा शूद्रों के प्रति सहानुभूति का बीजारोपण किया। जायसी ने लौकिक कहानियों को आध्यात्मिक महत्त्व दे कर लोक-जीवन से सम्पर्क स्थापित किया और परमात्मा की प्रेम द्वारा प्राप्ति का सुन्दर मार्ग बतलाया। सूर ने भगवान कृष्ण की बाल्य और यौवन काल की लोकानुरञ्जिनी लीलाओं का वर्णन कर जीवन के सौंदर्य पक्ष का उद्घाटन किया। "मैया, मोहि दाउ बहुत खिझायौ", 'मैया कबहि बढ़ैगी चोटी' आदि स्वभावोक्तियों द्वारा जो बाल्य जीवन के चित्र खींचे वे किसी भी साहित्य के गौरव की वस्तुएँ हो सकती हैं। सूर ने वास्तव में इसी पृथ्वी पर ही स्वर्ग की सृष्टि कर दी है। भौतिक दृष्टि से भी 'जो सुख सूर अमर मुनि दुर्लभ सो नँदभामिनि पावै' की बात अक्षरशः चरितार्थ होती है। दाम्पत्य-जीवन के हर्षोल्लास की चरम परिणति नवजात शिशुओं के आमोद-प्रमोद में है। सूर ने दाम्पत्य-जीवन के उस सुख को मूर्तिमान करके दिखा दिया है।

कबहुँक दौरि घुटरुवनि लपकत, गिरत, उठत पुनि धावै री।
इतते नन्द बुलाइ लेत हैं, उततैं जननि बुलावै री॥
दंपति होड़ करत आपस में, स्याम खिलौना कीन्हो री।

बाल्य-जीवन में जो पूर्ण साम्य-भाव है, उसको तुलसी भी अपनी गीतावली में नहीं ला सके हैं। किन्तु सूर ने उस साम्य-भाव को चित्रित कर कृष्ण की बाल-लीला को पूर्णतया सजीवता प्रदान की है।

खेलत में को काको गुसैयाँ।
हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ॥
जाति पाँति हमसे बड़ नाहीं, नाहीं बसत तुम्हारी छैयाँ।
अति अधिकार जनावत यातै, अधिक तुम्हारी हैं कछु गैयाँ॥

उनके शृंगार-वर्णन में भी स्वस्थ जीवन की उछल-कूद है जो दैनिक कार्य-कलाप को सरसता प्रदान करती हैं। सूर का वियोग शृंगार संयोग की ऐन्द्रिकता से ऊपर उठ कर उस त्याग-प्रधान मानसिक पक्ष को अपना लेता है जिसमें अपने स्वार्थ का बलिदान कर प्रिय की मङ्गल-कामना ही शेष रह जाती है। देखिए:—

फिर ब्रज बसहु गोकुल नाथ।
बहुरि न तुमहिं जगाय पठवों गोधन के साथ।

× × ×

करिहौं न तुम सों मान हठ, हठिहौं न माँगत दान।
कहिहौं न मृदु मुरली बजावन, करन तुम सों गान॥

× × ×

देहु दरसन नन्द नन्दन मिलन ही की आस।
सूर प्रभु की कुँवर छवि को मरत लोचन प्यास॥

सूर ने इस प्रकार जीवन के सौन्दर्य पक्ष की झाँकी दिखा कर मरणोन्मुख हिन्दू जाति में जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की। शासकों के हृदय में भी उसका मूल्य बढ़ाया और उसकी संरक्षणीयता में विजित और विजेता दोनों में ही विश्वास उत्पन्न किया।

जिस जीवन का सहज सौंदर्य सूर ने दिखलाया, उसके कर्तव्यपूर्ण लक्ष्य की ओर तुलसी ने ध्यान आकर्षित किया।

सूर ने जीवन के प्रति आस्था उत्पन्न की तो तुलसी ने उसके उत्थान की

ओर प्रयत्न किया। उन्होंने कोरे उपदेश ही नहीं दिये वरन् सौन्दर्य, शील और शक्ति के समन्वित जीवन का ऐसा जीवित आदर्श उपस्थित किया जो अपने भक्तों के जीवन में कर्तव्य-पूर्ण उत्थान और उन्नयन उपस्थित कर सकता है। शील के उपदेश से शील का उदाहरण कहीं अधिक महत्त्व रखता है। तुलसी ने उपदेश और उदाहरण दोनों से हिन्दू जाति और धर्म का उत्थान किया तथा शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के पारस्परिक द्वेष को मिटा कर हिन्दू जाति को अधिक संगठित बनाया।

तुलसी ने जीवन के सभी संबंधों का (भाई-भाई, पति-पत्नी, माता-पुत्र, राजा-प्रजा, शरण्य और शरणागत) मनोवैज्ञानिक चित्रण कर हिन्दी साहित्य को ऐसा महाकाव्य दिया जो अपने भाव-पक्ष और कला-पक्ष, अनुभूति और अभिव्यक्ति के अपूर्व सतुलन के कारण संसार के उच्चतम महाकाव्यों में स्थान पा सकता है। भक्ति-भावना के चरम विकास की दृष्टि से तो रामचरितमानस और विनय-पत्रिका अनुपम हैं ही किन्तु लौकिक दृष्टि से भी प्रबन्ध-सौष्ठव, चरित्र-चित्रण की मनोवैज्ञानिकता, रस-परिपाक और शैली की अभिव्यञ्जकता के कारण वह ग्रन्थ अद्वितीय है।

तुलसी ने भक्ति-भावना को प्रधानता देते हुए नीति की अवहेलना नहीं की। देखिए:—

प्रीति राम सों, नीति पथ चलिय, राग रिस जीति।
तुलसी संतन के मते, इहै भगति की रीति॥

\+ + + +

चलत नीति मग राम पद नेह निबाहत नीक।

इसीलिए तुलसी का साहित्य समाज के लिए हितकर और मान्य है। उनका आदर्श भी यही था कि काव्य वही है जिससे लोकोपकार हो।

कीरति भनित भूति भल सोई। सुरसरि सम सब कहँ हित होई॥

भक्ति-काव्य यद्यपि भक्ति-भावना से अनुप्राणित है तथापि उसमें जीवन-रस स्वस्थ रुधिर की भाँति शक्ति का संचार कर रहा है। वह साहित्य चिरकाल तक अमर रह कर हमारी भाषा का गौरव बढ़ायेगा।

३०. महात्मा कबीर

हिन्दी-साहित्य के इतिहास में संत साहित्य का एक विशेष स्थान है। वीर-गाथा काव्य ने क्षत्रिय राजाओं को प्रोत्साहन देने में भेरी-नाद का काम किया था, किंतु इस नाद का मूल स्वर आपस की मार-काट ही रहा। पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता ने राजाओं के तूणीर खाली कर उनकी शक्ति को कुण्ठित कर दिया था। इस गृह-कलह ने विदेशियों के लिए स्वागत-गान सुनाया।

जब भारत में मुसलमानों के पैर जम गये तब निकट संपर्क में आने के कारण दोनों जातियाँ एक दूसरे को प्रभावित करने लगीं। विचार-विनिमय प्रारम्भ हुआ और जो लोग कट्टरता से परे थे वे एक दूसरे की ओर झुके।

मुसलमानों में सूफी लोग कुछ मुलायम तबियत के लोग थे। वे हिन्दुओं के एकात्मवाद से प्रभावित थे। उन्होंने हिन्दू जीवन की प्रेम-कथाओं के आधार पर प्रेम-काव्य की नींव डाली। संत कवियों ने वेदान्त का व्यावहारिक पक्ष ले कर हिन्दू-मुसलिम तथा ब्राह्मण शूद्र की एकता का उपदेश देना शुरू किया।

उस समय शूद्रों की अवस्था अत्यन्त दयनीय थी। मुसलमानों में तो वे लोग हिन्दू होने के कारण तिरस्कृत समझे जाते थे और हिन्दुओं में शूद्र होने के कारण दुत्कारे जाते थे। रामानुजाचार्य आदि आचार्यों ने भक्ति का लोक-पावन संदेश सुना कर शूद्रों के प्रति सहृदयता का वातावरण तो उपस्थित कर दिया था किन्तु उनकी स्थिति में मौलिक सुधार की आवश्यकता थी। संतों ने भक्ति और ज्ञान की गंगा-जमुनी धारा को भाषा के बहते नीर में अवतरित कर उसे सर्व-सुलभ बनाया। 'जाति-पाँति पूछै नहीं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' की शंख-ध्वनि चारों ओर गूँजने लगी। कबीरदास जी काल-क्रम से तो संत कवियों में पहला स्थान नहीं पाते किंतु महत्ता में सबसे आगे नहीं तो किसी से पीछे भी नहीं हैं।

अन्य पुरुषों की भाँति कबीर का जीवन-वृत्त भी तिमिराच्छन्न है। यह बात तो विवादास्पद है कि वे जन्म से मुसलमान थे या हिन्दू, किंतु उनका

पालन-पोषण नीरू और नीमा जुलाहे दंपति के यहाँ हुआ था। ऐसी किंवदन्ती है कि उन्होंने इस बालक को लहरतारा तालाब के पास पड़ा पाया था। यह बालक एक ब्राह्मण-विधवा का कहा जाता है जिसको रामानन्द जी ने धोखे में पुत्रवती होने का आशीर्वाद दे दिया था। आशीर्वाद सफल हुआ, किन्तु लोकापवाद के भय से उसने बालक का परित्याग कर दिया था। कबीर ने अपने को गर्व के साथ जुलाहा कहा है। 'तू ब्राह्मण मैं काशी का जुलाहा बूझहु मोर गियाना।'

जीवनवृत्त

कबीर की जन्म-तिथि भी विवाद का विषय बन रही है। कबीर-पंथियों में महात्मा कबीरदास के जन्म और मरण के सम्बन्ध में जो तिथियाँ मान्य हैं उनके अनुकूल तो उनकी आयु एक सौ बीस वर्ष की होती है; किन्तु उसे स्वीकार करने से उनके जीवन की दो प्रमुख घटनाएँ, अर्थात् रामानन्द से दीक्षा प्राप्त करना और सिकन्दर लोदी के दरबार में पेश होना, उनके जीवन-काल में ही पड़ जाती हैं। एक सौ बीस वर्ष की आयु कबीर जैसे पहुँचे हुए महात्मा के लिए दुर्लभ नहीं कही जा सकती। कबीरपंथियों के मत में कबीर का जन्म संवत् १४५५ में और उनका स्वर्गवास संवत् १५७५ में हुआ। यह विषय विवाद-ग्रस्त अवश्य है और इस पर ही उनका रामानन्द से दीक्षित होने का प्रश्न अवलम्बित है।

रामानन्द से दीक्षित होने के सम्बन्ध में डाक्टर श्यामसुन्दरदास जी तथा डाक्टर मोहनसिंह जी ने आपत्ति उठाई है, किन्तु जब तक कबीर की जन्म-तिथि और रामानन्द जी की निधन तिथि प्रामाणिक रूप से स्थापित न हो जाय तब तक एक लोक-प्रतिष्ठित परम्परागत धारणा को निर्मूल ठहरा देना उचित नहीं है। इस पर केवल कबीरदास का ही कथन नहीं है वरन् उनके प्रमुख शिष्य धरमदास की भी गवाही है। देखिए—

काशी में प्रगटे दास कहाए नीरू के गृह आए।
रामानन्द के शिष्य भए, भवसागर पंथ चलाए॥

मुसलमान लोग उनको शेख तकी का शिष्य मानते हैं। यद्यपि कबीर शेख तकी से सम्बन्धित स्थानों में रहे थे तथापि जिस प्रकार उन्होंने पीर साहब

का उल्लेख किया है उससे यह नहीं प्रकट होता कि वे उनको गुरु मानते थे। देखिए—

नाना नाच नचाय के, नाचे नट के वेष।
घट घट अविनासी बसै सुनहु तकी तुम सेष ॥

संभव है कि यह उनके अक्खड़पन के कारण हो, किन्तु गुरु को तो कबीरदास परमात्मा के स्थान में मानते थे। जिन शब्दों में उन्होंने रामानन्द का उल्लेख किया है उनसे इनमें अन्तर है। देखिए—

'गुरु रामानन्द चरण कमल पर धोबिन (माया) दीनी वार।'

कबीर का विवाह लोई नाम की स्त्री से हुआ था और उससे एक पुत्र कमाल और एक पुत्री कमाली नाम की दो सन्तान उत्पन्न हुई थीं। कबीर कमाल के अनुदार विचारों से असन्तुष्ट थे, इसीलिए उन्होंने कहा है—

'बूड़ा वंश कबीर का उपजा पूत कमाल।'

कबीरदास जी की मृत्यु मगहर में हुई थी। हिन्दुओं में काशी में मरने को महत्त्व दिया जाता है। परमात्मा को सर्वत्र मानने वाला इस तरह के रूढ़िवाद को कब मान सकता था ? वे अपनी भक्ति पर विश्वास रखते थे। 'जो काशी तन तजै कबीरा, तो रामहिं कौन निहोरा।'

कबीर के सिद्धान्तों में हम दो प्रकार के सिद्धान्त पाते हैं; एक धार्मिक तथा दार्शनिक, दूसरे सामाजिक। उनके सिद्धान्तों में हम उस समय के प्रभावों का समन्वय पाते हैं। वैष्णव धर्म से उन्होंने दया और भक्ति ली। उन्होंने मांस खाने का जो विरोध किया है वह वैष्णव धर्म का ही प्रभाव है। कबीर शाक्तों के गाँव की अपेक्षा वैष्णव की झोंपड़ी को महत्ता देते हैं। उन्होंने शाङ्करवाद से जीव ब्रह्म की एकता और मायावाद लिया। बौद्ध-धर्म से सुन्न वा शून्य का विचार लिया। गोरख-पंथियों से हठयोग की साधना पाई। सूफियों की प्रेम-साधना की कलम उन्होंने वेदान्तवाद पर चढ़ाई। मूर्तिपूजा और अवतारवाद के खंडन में उनपर कट्टर मुसलमानों का प्रभाव दिखाई पड़ता है। कई लोग शब्द के मानने में ईसाई मत से उन्हें प्रभावित समझते हैं। कट्टर मुसलमानों के खंडन में वे शायद सूफी

कबीर के सिद्धान्त

संप्रदाय से ही प्रभावित हुए हों।

दार्शनिक विचार

दार्शनिक विचारों में तो कबीर उपनिषदों और शाङ्कर मत से ही प्रभावित प्रतीत होते हैं। उन्होंने जीव और ब्रह्म की एकता मानी है और संसार को भी ब्रह्म से भिन्न नहीं बताया। कबीर ने मायावाद का भी आश्रय लिया है। कबीर यद्यपि पढ़े लिखे नहीं थे—'मसि कागद छूओ नहीं, कलम गही नहिं हाथ',—तथापि वे बहुश्रुत थे। उन्होंने 'तत्त्वमसि' 'कनककुण्डल', 'समुद्र-तरङ्ग', 'कीट-भृङ्ग' आदि वेदान्त की शब्दावली का प्रचुरता से प्रयोग किया है। उनका ब्रह्म शब्द-रूप है और वह सब प्रकार के गुणों से परे है। उसके लिए कोई एक निश्चित गुण बतलाना उसको सीमित कर देना है। उसके लिए उपनिषदों की भाँति नेति-नेति ही कहा जा सकता है। न वह हलका है न वह भारी है, न वह भीतर है, न वह बाहर है, वह संख्या से भी परे है। उसके लिए साकार, निराकार, सगुण और निर्गुण शब्द भी लागू नहीं हो सकते। देखिए-

कोई ध्यावे निराकार को, कोइ ध्यावे आकारा।
वह तो इन दोउन ते न्यारा, जाने जाननहारा॥

वह सारे संसार में व्याप्त हो कर उसको अतीत करता है, उसके सिवाय और कुछ नहीं है; जो कुछ है वह सब बाजीगर का खेल है। केवल बाजीगर सच्चा है। संसार उसी परमात्मा से उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है।

साधो एक आप जग माहीं
दूजा करम भरम है किरतिम ज्यों दरपन में छाहीं।
जल तरंग जिमि जल ते उपजै फिर जल माहिं रहाई॥

कबीर ने परमात्मा और जीव की एकता मानते हुए—जब तक द्वैत-भाव मिटता नहीं तब तक के लिए—जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध प्रेमिका और प्रेमी का माना है। उन्होंने अपने को 'राम की बहुरिया' कहा है। आध्यात्मिक अनुभव का वर्णन प्रेम के ही रूपकों द्वारा हो सकता है।

कबीर ने ज्ञान को तो मुख्यता दी ही है किन्तु उन्होंने उसके साथ ही

भक्ति का भी महत्त्व स्वीकार किया है। कबीर ने राम नाम की ही महत्ता गाई है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी नाम को स्वयं राम से अधिक महत्ता दी है। किंतु कबीर ने दाशरथि राम को नहीं माना है। वे राम शब्द के उपासक हैं। ज्ञान और भक्ति के अतिरिक्त कबीर ने प्राणायाम और हठयोग की क्रियाओं को भी मन की शुद्धि के लिए साधन रूप से माना है। इस प्रकार कबीर मुसलमानी धर्म से प्रभावित होते हुए भी पूरी तौर से हिन्दू-संस्कृति में रँगे हुए थे।

धर्म के सम्बन्ध में कबीर के विचार बड़े उदार थे। वे राम और रहीम को एक मानते थे और दोनों को एक ही परमात्मा के भिन्न-भिन्न रूप समझते थे। देखिए—

दुइ जगदीश कहाँ ते आये कहु कौने भरमाया।
अल्ला राम करीम केशव हरि हजरत नाम धराया॥
गहना एक कनक ते गहना तामें भाव न दूजा।
कहन सुनन को दुइ कर राखे यक नमाज यक पूजा॥
वही महादेव वही मुहम्मद ब्रह्मा आदम कहिये।
कोई हिन्दू कोई तुरक कहावे एक जिमी पर रहिये॥
वेद किताब पढ़ैं वे कुतबा वे मौलाना वे पांडे।
विगत विगत के नाम धराये यक माटी के भांडे॥

कबीर ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता का उपदेश देते हुए दोनों में से ढोंग और मिथ्याडम्बर के हटाने के लिए बड़ी जोरदार आवाज उठाई है क्योंकि वे जानते थे कि यह वृथाडम्बर ही आपस में भेदभाव उत्पन्न कर रहा है। उन्होंने दोनों को ही खूब खरी खोटी सुनाई है।

सामाजिक साम्य

कबीर ने सब में एक परमात्मा के दर्शन करके ब्राह्मण और शूद्र में साम्य-भाव स्थापित करने का उद्योग किया है। इस सम्बन्ध में कबीर अपने समय से बहुत आगे थे।

गुप्त प्रकट है एकै मुद्रा। काको कहिए ब्राह्मन शुद्रा॥

कबीर के इसी साम्य-भाव के कारण उनके सिद्धान्तों का प्रचार तथाकथित नीच जातियों में अधिक हुआ।

संत कवियों की वाणी का प्रसार कविता द्वारा हुआ था क्योंकि उन दिनों लोगों के हृदय तक पहुँचने के लिए कविता ही भावाभिव्यञ्जना का माध्यम थी। कबीर की भी भाव-धारा कविता में ही प्रस्फुटित हुई, किन्तु उस कविता में कला की कृत्रिमता न थी। अकृत्रिमता ही उसकी कला है। कबीर ने कविता को साधन मात्र माना है, उसको साध्य नहीं बनाया है। जहाँ तक हृदय की सचाई, विचारों की गहराई और अनुभूति की तीव्रता का प्रश्न है वहाँ तक कबीर के कवित्व में संदेह नहीं किया जा सकता। यदि कुशल अभिव्यक्ति कला की कसौटी मानी जाय तो उनको हम एक उत्तम कलाकार भी कह सकते हैं। चाहे उनकी कविता में छन्दों के नियमों की अवहेलना हो, किन्तु उनके पद गाने की दृष्टि से बड़े सुन्दर हैं। नीचे के पद में हठयोग के सिद्धान्तों को बड़ी संगीतमय भाषा में रखा है—

कबीर का कवित्व

कैसे दिन कटिहै जतन बताए जइयो।
एहि पार गंगा वोहि पार जमुना॥
विचवा मढईया छवाए जइयो।

कबीर बहुश्रुत थे। सूआ सेमर, चातक की अनन्यता (जिस को गोस्वामीजी ने भी प्रेम का प्रतीक माना है) हंस का नीर-क्षीर-विवेक आदि कवि समयों से वे परिचित थे। कबीर के उपस्थित किये हुए रूपक और मानसिक चित्र बड़े उपयुक्त और सजीव हैं। उन्होंने केशव की भाँति अलङ्कारों और छन्दों की प्रदर्शिनी तो नहीं की है किन्तु उनकी कविता में बहाव के साथ स्वाभाविक रूप से आये हुए अलङ्कारों का अच्छा पुट है। उनकी कविता में श्लेष, यमक आदि शब्दालंकार और रूपक, उपमा, अन्योक्ति आदि बड़े सुन्दर अर्थालंकार हैं। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति प्रायः रूपकों और अन्योक्तियों में ही हुआ करती है। इसलिए इनके अलंकार केवल अलंकार नहीं हैं वरन् वे एक आवश्यकता की पूर्ति करते हैं। कबीर की एक सुन्दर अन्योक्ति देखिए—

काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी, तेरे ई नाल सरोवर पानी।
जल में उतपति जल में वास, जल में नलिनी तोर निवास॥

ना तलि तपत न ऊपर आगि, तोर हेतु कहु का सन लागि।
कहै कबीर जे उदिक समान, ते नहिं मुए हमारे जान॥

---

३१. सूरदास

किधौं सूर को सर लग्यौ, किधौं सूर की पीर।
किधौं सूर को पद लग्यौ, तन-मन धुनत सरीर॥

महात्मा सूरदास जी का जन्म सं० १५४० के लगभग बतलाया जाता है। इनके जन्म-स्थान के संबंध में दो मत हैं। एक मत के अनुसार इनका जन्म-स्थान देहली के निकट सीही ग्राम में है और दूसरे मत से आगरा के निकट रुनुकता (रेणुका क्षेत्र) में है।

जन्म और जीवन

इनकी जाति के संबंध में भी थोड़ा मतभेद है। कोई इनको सारस्वत ब्राह्मण मानते हैं और कोई साहित्य-लहरी के एक छन्द के आधार पर इन्हें चन्दबरदाई के वंशज ब्रह्मभट्ट बतलाते हैं। इस मत के अनुकूल इनके छः भाई और थे जो कि मुसलमानों के साथ लड़ाई में मारे गये थे। तब ये अंधे सूरदास बहुत दिन तक इधर-उधर फिरते रहे। पीछे ये गऊघाट में (यह रुनुकता के निकट ही है) रहने लगे। यहीं पर इनकी श्री महाप्रभु वल्लभाचार्यजी (सं० १५३५–१५८७) से भेंट हुई। उनसे दीक्षा ले कर उनकी आज्ञा से इन्होंने ब्रजभाषा में भगवत्-चरित्र का गान किया।

श्री बल्लभगुरु तत्त्व सुनायो, लीला भेद बताओ।

श्री वल्लभाचार्यजी की आज्ञा से ही इन्होंने श्रीमद्भागवत की कथा को पदों में गाया और वह ग्रन्थ सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सूरसागर में सवा लाख पद कहे जाते हैं; पर अब तक ५-६ हजार पदों से अधिक नहीं मिले। इस अमर ग्रन्थ के अतिरिक्त इनके सूरसारावली और साहित्य-लहरी ये दो ग्रन्थ और मिलते हैं। सूरसारावली एक प्रकार से सूरसागर की सूची और संक्षेप है और साहित्य लहरी में नायिका-भेद आदि रीति-ग्रन्थों के विषय हैं, किंतु इन पुस्तकों में भी अधिकांश पद सूरसागर के ही हैं। हरिवंश टीका,

ब्याहलो और नलदमयन्ती नाम के इनके तीन और ग्रन्थों का भी उल्लेख मिलता है, किंतु वे मिलते नहीं।

इनकी मृत्यु पारसौली ग्राम में हुई थी। मृत्यु के समय श्री गोस्वामी विट्ठलनाथ जी मौजूद थे। उस समय इन्होंने 'भरोसो दृढ़ श्रीचरनन केरो' वाला पद अपने गुरु की महिमा में गाया और उनसे पूछे जाने पर कि उस समय उनके नेत्रों की वृत्ति कहाँ थी, इन्होंने निम्नलिखित पद गा कर अपनी जीवन-लीला समाप्त की—

खंजन नैन रूप रस माते।
अतिसै चारु चपल अनियारे, पल पिंजरा न समाते॥
चलि चलि जात निकट स्रवनन के उलटि पलटि ताटंक फँदाते।
सूरदास अंजन गुन अटके, नतरु अबहिं उड़ि जाते॥

श्री वल्लभाचार्य के पुत्र गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने इनकी अष्टछाप में स्थापना की थी और उनके पुत्र गोस्वामी गोकुलनाथ जी ने अपने 'चौरासी वैष्णवों की वार्ता' में इनका जीवन वृत्तान्त लिखा है। सूरदास जी अंधे तो अवश्य थे, 'सूर कहा कहि दुविध आँधरो', किन्तु प्रश्न यह है कि ये जन्मान्ध थे अथवा पीछे से इनके नेत्र जाते रहे। इनके भक्त इन्हें जन्मान्ध बताते हैं, परन्तु इनके द्वारा किये गये प्राकृतिक विचित्रताओं तथा मानवीय हावभावों के ऐसे उत्कृष्ट वर्णन को देख कर इस कथन पर सहज प्रतीति नहीं होती। ऐसा कहा जाता है कि एक बार वे एक युवती को देख कर उस पर मुग्ध हो गये। बहुत देर तक टकटकी बाँधे उसकी ओर देखते रहे। अन्त में उस युवती ने निकट आ कर पूछा—महाराज, क्या आज्ञा है? सूरदास उस समय मन ही मन बड़े लज्जित हुए। उन्होंने यह दोष अपनी आँखों का समझ कर उस युवती से विनती की कि वह सुई द्वारा उन दोनों दोषी आँखों को फोड़ डाले। वचन-बद्ध युवती ने वैसा ही किया, तभी से सूरदास अंधे हो गये। यह मत अधिक विश्वसनीय प्रतीत होता है। कुछ लोगों का कथन है कि इन्होंने जानबूझ कर अपनी आँखें नहीं फुड़वाई मालूम पड़तीं, क्योंकि यदि ऐसा होता तो ये भगवान को अपने अंधे होने का उलाहना न देते।

मित्र सुदामा कीन अयाचक प्रीति पुरानी जानि ।
सूरदास सो कहा निठुरई नैननि हूँ की हानि ॥

यह भी किंवदन्ती है कि अंधे होने के कारण एक बार ये कुएँ में गिर पड़े थे। वहाँ से श्रीकृष्ण भगवान ने इनको निकाला था। इसी सम्बन्ध में यह दोहा प्रचलित है—

बाँह छुड़ाए जात हो, निबल जानि कै मोहि ।
हिरदय तैं जब जाउगे, मर्द बदौंगो तोहि ॥

इसी आशय का एक दोहा प्राकृत में भी है। इसलिए इसके सूरदास जी के जीवन की किसी वास्तविक घटना से सम्बन्धित होने में संदेह है।

इनकी दीक्षा वल्लभ-संप्रदाय की है। वल्लभ-संप्रदाय में भगवान की कृपा को मुख्यता दी गई है। भक्त को अपने कर्मों का इतना भरोसा नहीं होता जितना कि भगवान की कृपा का। इसी का नाम 'पुष्टि' है और इसीलिए यह पुष्टिमार्ग कहलाता है। इस संप्रदाय में बाल-कृष्ण की उपासना है। इसीलिए सूरदासजी के बाल-लीला-सम्बन्धी वर्णन बड़े सुन्दर हैं। इस संप्रदाय के दार्शनिक सिद्धान्त 'सिद्धाद्वैत' के नाम से प्रख्यात हैं। इसके अनुकूल जीव और संसार दोनों परमात्मा के अंश हैं। जीव में सत् और चित् तो हैं किन्तु आनन्द की कमी है। प्रकृति में चित् की भी कमी है। ब्रह्म पूर्ण सच्चिदानन्द है। यद्यपि उपासना में द्वैत भाव के बिना काम नहीं चलता तथापि ये कहीं कहीं जीव और ब्रह्म की एकता की ओर झुक गये हैं।

सूरदास जी के सिद्धांत और उनका भक्तिभाव

जौ लौं सत्यस्वरूप न सूझत ।
तौ लौं मनु मनि कंठ बिसारे फिरत सकल बन बूझत ॥

× × ×

एक नदिया एक नार कहावत मैलो नीर भरो
जब मिलि कै दोउ एक बरन भए सुरसरि नाम परो ।
एक जीव एक ब्रह्म कहावत सूरस्याम झगरो
अब की बेर मोहि पार उतारो नहिं पन जात टरो ॥

× × ×

जाय समाय 'सूर' महानिधि में, बहुरि न उलटि जगत महँ नाचै ॥

इनकी भक्ति सख्य-भाव की है। कहीं कहीं तो ये बड़े अक्खड़ बन जाते हैं, यहाँ तक कि भगवान से लड़ने को भी तैयार हो जाते हैं और कहीं-कहीं इतने दीन हो जाते हैं कि इनकी भक्ति दास्यभाव में परिणत हो जाती है। यहाँ दोनों ही प्रकार का एक-एक उदाहरण दिया जाता है—

आजु हौं एक एक करि टरिहौं।
कै हमही कै तुम हो माधव, अपुन भरोसे लरिहौं।
हौं तो पतित सात पीढ़िन कौ, पतितै ह्वै निस्तरिहौं।
अब हौं उघरि नचन चाहत हौं तुम्हैं बिरद बिनु करिहौं।

\+ \+ \+ \+

जैसे हि राखो तैसे हि रहौं।
जानत हो दुख सुख सब जन को मुख करि कहा कहौं॥

\+ \+ \+ \+

कमलनयन घनस्याम मनोहर अनुचर भयो रहौं।
'सूरदास' प्रभु जगत कृपानिधि तुम्हरे चरन गहौं॥

सूरदास जी अनुचर अवश्य थे किन्तु घर के मुँह लगे अनुचर थे, 'तुव प्रताप बदत न काहू निडर भये घर चेरे।' तुलसीदास जी निडर हो कर मर्यादा नहीं खोते थे। सूरदास जी अनन्य भक्त थे, वे अपनी अनन्यता में और किसी देवता को कुछ नहीं गिनते थे—'और देव सब रंक भिखारी त्यागे बहुत घनेरे'। वे कृष्ण भगवान को छोड़ कर किसी की भक्ति नहीं करना चाहते थे।

मेरो मन अनत कहाँ सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पंछी फिरि जहाज पै आवै॥
कमल नैन को छाँड़ि महातम और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो दुरमति कूप खनावै॥
जिन मधुकर अंबुज रस चाख्यो क्यों करील फल खावै।
सूरदास प्रभु कामधेनु तजि छेरी कौन दुहावै॥

भक्ति-भाव में सूरदास जी उद्धवजी के अवतार माने जाते हैं।

सूरदास जी का काव्य गीत-काव्य है। वैष्णव धर्म में गीतगोविंद के रचयिता जयदेव कवि गीत-काव्य के प्रथम आचार्य माने जाते हैं। इन्हीं की शैली को मैथिल कोकिल विद्यापति ठाकुर ने अपनाया है। ऐसा कहा जाता है कि महात्मा सूरदास जी ने हिन्दी में उसी शैली को अपना कर साहित्य और संगीत का एक अपूर्व सम्मिश्रण किया। किन्तु वास्तविक बात तो यह मालूम पड़ती है कि सूर ने जयदेव और विद्यापति के प्रभाव से व्रज के प्रचलित लोक-गीतों को साहित्यिक रूप दिया। गीत-काव्य के लिए माधुर्य्यमयी, सुकोमला व्रजभाषा ही उपयुक्त थी। गोस्वामी तुलसीदास जी को भी गीत-काव्य के लिए इसी का आश्रय लेना पड़ा था। यद्यपि सूरदास जी की भाषा व्रजभाषा ही है, तथापि इन्होंने फारसी, अरबी आदि भाषाओं के शब्दों को व्रजभाषा में ऐसा मिला लिया है कि वे भिन्न भाषा के नहीं प्रतीत होते : उदाहरणार्थ— मसकत, मुहकम, कुलहि इत्यादि। सूर ने गुजराती, बुंदेलखंडी आदि प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों का भी बड़ी कुशलता के साथ व्यवहार किया है। इनकी भाषा में कहीं-कहीं सलिता, सायर आदि प्राकृत के भी प्रयोग आये हैं।

सूरदासजी की शैली की विशेषताएँ

सूरदास जी ने अलंकारों का बड़े सुन्दर और स्वाभाविक ढंग से प्रयोग किया है। इनके अलङ्कार बड़े अनूठे और उपयुक्त हैं। सूर ने कृष्ण जी के सम्बन्ध में प्रयुक्त होने वाले अलङ्कारों की सार्थकता पर काव्यमय विवेचन करते हुए उनके द्वारा गोपियों की भावाभिव्यक्ति बड़े मार्मिक ढंग से कराई है।

> नँदनंदन के अंगअंग प्रति उपमा न्याय दई।
> आनन इन्दु वरन सम्मुख तजि करखे ते न नई॥
> निरमोही नहिं नेह, कुमुदिनि अन्तहि हेम हई॥

श्रीकृष्ण के मुख को इन्दुवरन बतलाते हैं। गोपियाँ उद्धव से कहती हैं कि उनके मुख की ओर वे कुमुदिनी की भाँति सदा देखती रहती थीं, खींचे से भी इधर उधर नहीं झुकती थीं, किन्तु कृष्ण जी ने चन्द्रमा का दूसरा धर्म भी निभाया यानी उनको पाले से मार दिया। चन्द्रमा को हिमकर कहते

ही हैं, गोपियों को कुमुदिनी कह कर उनकी कोमलता और सुकुमारता की भी व्यंजना कर दी। नेत्रों के सम्बन्ध में प्रचलित उपमानों की उपयुक्तता का विवेचन कर अन्त में मीन की उपमा को ठीक ठहराया क्योंकि वह पानी में डूबी रहती है 'सूरदास मीनता कछु इक जल संग न छाँडत'। इसके द्वारा अपने सदा रोते रहने की भी व्यञ्जना कर दी। बहुत कम स्थल ऐसे हैं जहाँ इनके अलंकार कृत्रिम से मालूम होते हों।

सूर ने शब्द-चयन में बड़ा कौशल दिखलाया है। कुछ शब्दों में बड़ी गहरी व्यञ्जना है, 'लादि खेप गुन ज्ञान जोग की ब्रज में आप उतारी', 'चाप काँख फिरत हो निर्गुन को यहाँ गाहक कोउ नाहीं', 'तब यह जोग मोट हम आगे हिये समुझि विस्तारा।' इन वाक्यों में खेप, चाप, काँख, मोट शब्दों द्वारा योग की स्थूलता, निरर्थकता और असारता का चित्र-सा खिंच जाता है। 'दादुर जल बिन जिये पवन भखि मीन तजै हठि प्रान' में दादुर और पवन-भखि अत्यन्त सार्थक हैं। पवन से तो प्राणायाम की व्यंजना होती है और दादुर से उद्धव की सारहीन टर-टर की। तुलसी की भाँति सूर ने भी गोरख-पंथ का पर्याप्त विरोध किया है।

सूर ने मुहावरों का भी अच्छा प्रयोग किया है। इनके द्वारा उनकी भाषा की सजीवता बढ़ गई है और भावाभिव्यञ्जना को अधिक शक्ति मिली है, 'जोग कथा ओढ़ें कि दसावें' में गोपियों की खीझ बड़ी शक्ति के साथ निकल पड़ी है। 'यह असीस हम देति सूर सुनु न्हात खसै जनि बार' में ब्रज गोपिकाओं की प्रेम की विवशता से भरी कोमलता और आत्मीयता हमारे सामने आकर खड़ी सी हो जाती है। गोपियों ने मथुरा को 'काजर की कोठरी' कहा है, काजर की कोठरी में कृष्ण और उद्धव के शरीर और मन की श्यामता पर एक मुहावरे के सहारे बड़ा सुन्दर व्यंग्य है।

वर्ण्य विषय

इन्होंने एक ही प्रसंग पर अनेक पद लिखे हैं। भक्ति के आवेश में वीणा के साथ गाते हुए जो सरस पद इस अन्ध कवि के मुख से निस्सृत हुए, उनमें पुनरुक्ति भले ही हो पर वे इतने मर्मस्पर्शी तथा हृदयहारी हैं कि अरसिक को भी एक बार

रसलीन कर देते हैं।

सूरदासजी ने यद्यपि थोड़े विषयों का वर्णन किया है तथापि जिन विषयों का इन्होंने वर्णन किया है, बड़े विस्तार से किया है। साथ ही साथ तारीफ की बात यह है कि एक ही बात को इन्होंने नये-नये रूप में देखा है, इसलिए इनके वर्णनों में अरुचि नहीं उत्पन्न होने पाती। नेत्रों के बारे में जितना इन महाकवि ने कहा है उतना शायद ही और किसी कवि ने कहा हो। इन्होंने आलम्बन के नेत्रों "रुचिर कमल मृग मीन मनोहर श्वेत अरुण अरु कारे" की अनुपम छवि का ही वर्णन नहीं किया है वरन् रूप-सागर में अवगाहन करने वाली दर्शक की सदा अतृप्त रहने वाली पिपासा भरी आँखों का भी बहुत ही हृदय-ग्राही वर्णन किया है। देखिए—

इन्दु चकोर, मेघ प्रति चातक जैसे धरन दियो।
तैसे ये लोचन गोपालै इकटक प्रेम पियो॥

यद्यपि इन्होंने प्रधानतया शृंगार और वात्सल्य का ही वर्णन किया है तथापि शांत, अद्भुत, हास्य और दो एक स्थलों में भयानक के सम्बन्ध में भी इन्होंने अपनी कवित्व-शक्ति का अच्छा परिचय दिया है। वात्सल्य और शृंगार में तो ये अपना सानी नहीं रखते; विशेषतः बाल-लीला, गोपी-विरह तथा कृष्ण द्वारा भेजे हुए उनके दूत ऊधो और गोपियों के संवाद-वर्णन में ये सरसता, स्वाभाविकता तथा उत्कृष्टता की चरम सीमा को लाँघ गये हैं।

ऊपर कहा गया है कि इनकी प्रतिभा का पूर्ण विकास वात्सल्य और शृंगार के ही वर्णन में हुआ है। बाल-लीला के वर्णन में संसार भर के कवियों

सूरदास जी का वात्सल्य और शृंगार

में (यद्यपि संसार भर के बारे में कोई बात कहना प्रतिवाद के भय से खाली नहीं है) शायद ही कोई कवि सूरदास जी की बराबरी कर सकता हो। यद्यपि ईसाइयों के रोमन कैथौलिक संप्रदाय में बालकृष्ण की उपासना की भाँति शिशु ईसा और माता मरियम की उपासना होती रही है तथापि शिशु ईसा का वर्णन कहीं भी इतने विस्तार और स्वाभाविकता के साथ नहीं आया। हाँ, इस उपासना से यूरोप की चित्रकला को अवश्य उत्तेजना मिली है। सूरदास

जी के श्रीकृष्ण शुद्ध राजसी आडम्बर-रहित बालक के रूप में आते हैं। सूरदास जी के वर्णनों में बालकों का साम्यभाव पूर्णतया प्रदर्शित है—'खेलत में को काको गुसैंया'। बालकों की परम शोभामयी अपूर्णता और उनके चलने के बाल-प्रयासों की मनोहर असफलता बड़े ही सुन्दर रूप में दिखाई गई है। बाल-प्रकृति का आदि से अन्त तक बड़ा सच्चा और सजीव चित्र खींचा गया है। बालकों का सोते-सोते मुसकरा देना भी सूरदास की 'पैनी दीठि' से नहीं बचा है—

कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, कबहुँ अधर फरकावैं।

दूध के दाँतों का निकलना, उसी समय भगवान का 'घुटरुवन चलना' इन सब बातों का बड़ा ही मनोहर वर्णन किया गया है। चलना सीखने में भगवान साधारण मनुष्यों के बालकों के से ही दिखाई पड़ते हैं—

सिखवत चलन यसोदा मैया।
अरबराई कर पानि गहावत, डगमगाइ धरती परै पैया।
× × +
घर आँगन अति चलन सुगम भयो देह देहरी में अटकावत।
गिरि-गिरि परत जात नहिं उलँघी, अति स्रम होत न धावत॥

बालकों की अनुकरणशीलता, उनकी बाल-अभिलाषा, स्पर्द्धा और महत्त्वाकांक्षाओं का भी बहुत ही सुन्दर वर्णन है जो पढ़ते ही बनता है—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी।
किती बार मोहिं दूध पिवत भई यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यों ह्वै है लाँबी मोटी॥
× + +
हरि अपने आगे कछु गावत।
तनक तनक चरनन सों नाचत मन ही मनहि रिझावत।
बाँह उचाई कजरी धौरी गैयन टेरि बुलावत॥

बच्चे अपनी सुन्दरता और अन्य बातों पर मन ही मन रीझा करते हैं। बाँह उठा कर गौओं को बुलाना कैसा सुन्दर बालोचित अनुकरण है।

बच्चे अपने आप नाचते-गाते हैं, इस बात को 'हरि अपने आगे कछु गावत' में कैसे सुन्दर रूप से बतलाया है। इसी प्रकार भगवान की गो-दोहन सीखने की इच्छा, उनकी गो-दोहन में असफलता, माखन-चोरी, मिट्टी खाना आदि बाल-लीलाओं का बड़ा ही विशद वर्णन किया गया है। यशोदा मैया की वात्सल्यमयी चिंता बड़ी मर्मस्पर्शिनी है। भगवान अपने पिता माता के पास पहुँच जाते हैं और राजसी ठाट-बाट से रहते हैं। तब भी यशोदा मैया देवकी को संदेशा भेजे बिना सन्तोष नहीं करतीं—

सँदेसो देवकी सौं कहियो।
हौं तो धाय तिहारे सुत की, कृपा करत ही रहियो॥
तुम तो टेव जानत ही ह्वैहो, तऊ मोहिं कहि आवै।
प्रात उठत मेरे लाल-लड़ैतहि, माखन रोटी भावै॥

इसी प्रकार सूरदास जी का प्रेम-वर्णन भी बहुत ही उत्कृष्ट है। ऊपर की पंक्तियों में 'हौं तो धाय तिहारे सुत की' कह कर यशोदा ने अपनी अधिकार-हीनता बतलाते हुए भी कृष्ण की चिंता में अपने को अधिक प्रमाणित किया है और एक प्रकार से कृष्ण के चले जाने की खीझ को मिटाया है और साथ में 'चार्ज' भी सिर पर सौंप दिया है। भगवान कृष्ण की बाल-लीला बड़े ही स्वाभाविक रूप से प्रेम-क्रीड़ा में परिणत हो जाती है। फिर उसी प्रेम में संयोग का हासोल्लास और वियोग की विषम-वेदना उपस्थित हो जाती है। गोपियों का प्रेम चाहे स्वार्थमय हो, परन्तु है सच्चा। कृष्ण भगवान की विरह-वेदना बड़ी तीव्र थी। विरह के लिए दूर और निकट का प्रश्न न था, उनका दुःख तो यह था कि 'ऊधो, अब नहीं स्याम हमारे। मधुबन बसत बदलिगे वे माधव मधुप तिहारे'। वे श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य की उपासिका न थीं वरन् उनके माधुर्य्य पर मुग्ध थीं। ज्ञान वैराग्य द्वारा वे भगवान के निर्गुण रूप की उपासना नहीं करना चाहती थीं, वे तो यह भी नहीं जानती थीं कि वह निर्गुण कौन से देश का निवासी है। वे तो कान्ह के ऊपर मुग्ध थीं। वे अपने हृदय की एकनिष्ठता से प्रेरित हो ऊधो को फटकारती हुई कहती हैं "रहु रे मधुकर मधु मतवारे। कहा करौं निर्गुण लैकै हौं जीवहु कान्ह हमारे"। भगवान से वे हीठने का सा

भय नहीं करती थीं, वे उनसे प्रेम करना चाहती थीं । वियोग में ही वे संयोग समझती थीं। वियोग के पागलपन के आगे उनके लिए योग हेय था—

मधुकर कौन मनायो मानै ?
सिखवहु तिनहुँ समाधि की बातें जे हैं लोग सयाने।
हम अपने ब्रज ऐसहि बसिहैं, विरह-बाय बौराने ॥

वास्तव में ऊधो-गोपी-संवाद निर्गुण और सगुण उपासना का विवाद है। जहां गोपियों का मन लग गया वहाँ से हट नहीं सकता, 'मन नाहीं दस बीस'। यह प्रेम की अचलता और दृढ़ता है। मनमोहन गोपियों के मन से निकाले नहीं निकलते, क्योंकि वे बांके हैं। बांकापन सौंदर्य का द्योतक है। 'उर में माखन-चोर गड़े। अब कैसेहु निकसत नहिं ऊधो ! तिरछे है जु अड़े।' कैसी सुन्दर उक्ति है ! भगवान ने त्रिभंगीपन की सार्थकता दिखा दी है।

सूरदास जी का महत्त्व इसी बात में है कि उन्होंने लोगों का ध्यान भगवान के सौन्दर्य और माधुर्य की ओर आकर्षित किया। हतोत्साह और

सूरदास जी का महत्त्व

परास्त हिन्दू जाति कुछ अपनापन रखना चाहती थी; दर्शन शास्त्र की जटिल समस्याओं और निर्गुण ब्रह्म के शुष्क ज्ञान की ओर उनका मस्तिष्क नहीं झुक सकता था। यह बात तभी होती है जब कि हृदय में उत्साह होता है। सौन्दर्य का आकर्षण मरते हुए को भी जिला देता है। सौन्दर्य के शर्करावेष्टन में उन्होंने धर्म के तत्त्व को हिन्दू जाति के शरीर में प्रवेश करा कर उसमें एक नई स्फूर्ति उत्पन्न कर दी और इस प्रकार उसमें एक धार्मिक स्वतंत्रता का भाव स्थापित हो गया।

यद्यपि यह सत्य है कि बहुत से लोगों में शर्करा के बहिरावेष्टन से शर्करा ही की चाट पड़ गई और वे धर्म के तत्त्व को भूल गये; तथापि वैष्णव कवियों के हृदय से निकली हुई प्रेम-धारा ने सहस्रों मनुष्यों के जीवन में एक अलौकिक परिवर्तन उपस्थित किया और उनके हृदय में त्याग की भावना जागरित कर उनको सांसारिक भावनाओं से मुक्ति प्रदान की और उन्हें ब्रह्मानन्द में मग्न कर दिया।

———

३२. रामचरित-मानस

वन राम रसायन की रसिका रसना रसिकों की हुई सफला।
अवगाहन मानस में करके जन मानस का मल सारा टला॥
बनी पावन भाव की भूमि भली हुआ भावुक भावुकता का भला।
कविता करके तुलसी बिलसे कविता लसी पा तुलसी की कला॥

जिस प्रकार गुणशील-संपन्न सन्तति से कुल का नाम उज्ज्वल होता है, उसी प्रकार कवि की अमर कृति से उसका नाम दीप्त हो जाता है। महात्मा तुलसीदास को हिंदी काव्य गगन में पूर्ण शशी का जो स्थान मिला है वह रामचरितमानस के स्निग्ध शीतल प्रकाश के ही कारण है। यह ग्रंथ-रत्न हिंदी-साहित्य का ही नहीं वरन् सारे संसार के साहित्य का मुख उज्ज्वल कर रहा है। इसमें काव्य-कला के विमल स्वरूप की झाँकी मिलती है। कला आनन्द का विषय है। उसका उद्‌गम स्थान हृदय है। उसमें आन्तरिक भावों की अभिव्यक्ति (प्रकटीकरण) द्वारा सौंदर्य की सृष्टि की जाती है। कला की ये सब बातें रामचरित-मानस में भरपूर हैं। इस ग्रन्थ-रत्न का उदय ही हृदय के आन्तरिक सुख के लिए हुआ—'स्वान्तःसुखाय तुलसी रघुनाथगाथा भाषा-निबन्धमतिमंजुलमातनोति'। यह न 'यशसे' और न 'अर्थकृते' लिखी गई। इसके लेखक के आश्रयदाता कोई लौकिक राजा नहीं, वरन् स्वयं मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान रामचन्द्र हैं जिनके पुण्य चरित्र भारतीय पारिवारिक जीवन के लिए आदर्श हैं और जिनके प्रति कवि की अनन्य भक्ति थी। भक्ति भी ऐसी थी जो किसी अर्थ-लाभ अथवा वैभव-लिप्सा की गन्ध से दूषित न थी। इसके लेखक कवि-कुल-कमल-दिवाकर गोस्वामी तुलसीदासजी जैसे आदर्श भक्त थे वैसे ही वे सूक्ष्मदर्शी प्रतिभाशाली कवि थे। उत्तम से उत्तम सामग्री कुशल से कुशल भावुक कलाकार के हाथ में आई। सब बानिक बन जाने पर भी यह दिव्य कृति हिंदी साहित्य की मुकुट मणि क्यों न बनती?

भाषा और भावों के सामंजस्य दिखलाने, लोक-संग्रह और मर्यादावाद के उच्च आदर्श उपस्थित करने, नीति के विवेचन और मानवीय प्रकृति के

रहस्योद्घाटन में यह ग्रन्थ अद्वितीय है। यह भक्तिरसामृत से भरपूर सप्तसोपान-विभूषित रामचरितमानस वास्तव में मानसरोवर है। इसमें सहृदय रसिक काव्य-मर्मज्ञ मरालों के लिए अनेकों मौक्तिक भरे हुए हैं। इस महाकाव्य में स्थान-स्थान पर खंड-काव्य का पदलालित्य, भावावेश और रचना-चातुर्य है और महाकाव्य का सा तारतम्यमय विस्तार है। इसका एक एक पद नपा-तुला है। मतिराम की नायिका की भाँति इसको 'ज्यों-ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि, त्यों त्यों खरी निकरै सी निकाई।' इसमें सौंदर्य का सच्चा स्वरूप मिलता है। जितनी बार पढ़ा जाय उतनी ही नवीनता मिलती है। अब यहाँ पर मानस की विशेषताओं का कुछ दिग्दर्शन कराया जाता है।

भाषा को भावों का शरीर बतलाया गया है। शब्द वही सुन्दर कहे जा सकते हैं, जिनमें उनकी आत्मा—अर्थ—की अभिव्यक्ति सहज में हो जावे, उनकी आन्तरिक शक्ति, उनका प्रकाश छलकने लगे; भाषा को न जानने वाला भी भावों को समझ जावे और जो जानने वाले हैं उनके सामने चित्र सा खिंच जावे। गोस्वामी जी

भाषा और भाव का सामंजस्य

वर्षा का वर्णन करते समय ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं कि मानो वर्षा प्रत्यक्ष रूप से हो रही हो। 'घन घमंड नभ गरजत घोरा' के सुनते ही बादल घिरे से दिखाई देने लगते हैं और उनकी कड़क का भान होने लगता है। वर्षाकाल के वर्णन में बादलों के लिए मेघ, घन और वारिद तीन शब्दों का प्रयोग किया गया है, लेकिन तीनों का अपने-अपने उपयुक्त स्थान में। जहाँ पर 'डरपत मन मोरा' है वहाँ तो 'घन घमंड' और 'घोरा' शब्दों का प्रयोग किया है; जहाँ 'गरजत लागत परम सुहाए' कहा है वहाँ 'मेघ' शब्द कहा है और जहाँ मोरों के नाचने का वर्णन है, वहाँ 'वारिद' जैसा कोमल शब्द रखा है। वसंत-वर्णन में कैसे सुन्दर संगीतमय शब्दों का प्रयोग किया है। 'चातक कोकिल कीर चकोरा, कूजत विहँग नचत मन मोरा।' में स्वयं शब्द ही कूजने और नाचने लगते हैं। 'गुंजत भृंगा' में भृंग और गुंजन की गूँज एक साथ मिल कर माधुर्य का उत्पादन करती है। 'कंकण किंकिणि नूपुर धुनि सुनि' में कैसा शब्दों का चमत्कार है। 'नूपुर धुनि' में छोटे-छोटे शब्दों की अनुप्रासमय आवृत्ति में

कंकण और किंकिणि की धीरे-धीरे विलीन होती हुई झंकार-सी सुनाई पड़ती है। जहाँ पर युद्ध का वर्णन आता है वहाँ कठोरतासूचक शब्दों का प्रयोग हुआ है।

> भए क्रुद्ध जुद्ध विरुद्ध रघुपति त्रोन सायक कसमसे।
> कोदंड धुनि अति चंड सुनि मनुजाद सब मारुत ग्रसे॥

इस विराट ग्रन्थ में जैसा भाषा का चमत्कार है वैसी ही भावों की भी उत्कृष्टता है। एक से एक अनुपम भाव मौजूद हैं, जो मनुष्य की प्रत्येक

भावों की उत्कृष्टता

स्थिति के लिए लाभदायक होते हैं। 'होइहै सोइ जो राम रचि राखा' में यदि भाग्यवाद है तो 'कादर मन कहँ एक अधारा, दैव दैव आलसी पुकारा' में पुरुषार्थ है। ज्ञानियों के लिए मायावाद का प्रतिपादन किया है और उसी के साथ 'मन मोदक नहिं भूख बुताई' में व्यावहारिकता का प्रेम दिखाया है। 'लिखत सुधाकर लिखि गा राहू' में भाग्य की आकस्मिक विपरीतता का कैसा सुन्दर चित्र खींचा है! 'पराधीन सपने सुख नाहीं' और 'सब ते अधिक जाति अपमाना' में स्वाधीनता तथा जाति-प्रेम का अत्यन्त मार्मिक परिचय दिया है। 'जे न मित्र दुख होहिं दुखारी, तिनहि विलोकत पातक भारी' में मित्रता की महिमा बड़े जोरदार शब्दों में गाई है। 'परहित सरिस धर्म नहिं भाई, पर-पीड़ा सम नहिं अधमाई' में सब पुराणों का सार और शास्त्रों का निचोड़ रख दिया है। दुख-सुख के तुलसीदास जी ने बड़े ही सजीव चित्र खींचे हैं। जब दशरथ जी पर कैकेयी की राम-वनवास-सम्बन्धी वर-याचना का वज्रपात हुआ तब तुलसीदास उनके मुख से कुछ कहलाते नहीं हैं, वरन् दशरथ जी की अवस्था का बड़ा स्वाभाविक वर्णन कर देते हैं; शायद ऐसा वर्णन कोई अभिनय-कुशल नाटककार भी न करता।

> गयउ सहमि कछु कहि नहिं आवा। जनु सचान बन झपटेउ लावा।
> बिबरन भयउ निपट महिपालू। दामिनि हनेउ मनहुँ तरु तालू॥
> माथे हाथ मूँदि दोउ लोचन। तनु धरि सोच लागु जनु सोचन।
> मोर मनोरथ सुरतरु फूला। फलत करिनि जनु हनेउ समूला॥

सिर पर हाथ रख कर आँख मूँद लेने का वर्णन कैसा स्वाभाविक है ! सचान (बाज) और दामिनि की उपमा कितनी सजीव है ! एक साथ शीघ्रता, आकस्मिकता और सर्वनाश का चित्र खिंच जाता है।

नाटककार का कौशल उसके चरित्र-चित्रण और चरित्र के क्रमशः परिवर्तन दिखाने में पाया जाता है। रामचरित-मानस में चरित्र-चित्रण के लिए एक से एक उत्तम चरित्र भरे पड़े हैं। दशरथ में सत्य-संधता के साथ पुत्र-वत्सलता की कैसी सुन्दर खींचातानी दिखाई है ? पुत्र-प्रेम-वश दशरथ कैकेयी की कुटिलता में पूर्ण विश्वास नहीं करते। वे कैसे दीनभाव से कहते हैं—

चरित्र-चित्रण

प्रिया हास रिस परिहरहु, माँगु विचारि विवेक।

फिर वे असमंजस में पड़े हुए व्यक्ति की भाँति महादेव जी से विनय करते हैं:—

सुमिरि महेशहिं कहहिं निहोरी, बिनती सुनहु सदाशिव मोरी।
आशुतोष तुम औढर दानी, आरत हरहु दीन जन जानी॥

आजकल के नाटकों में अन्तर्द्वन्द्व और मानसिक संघर्ष को बड़ा महत्त्व दिया जाता है। देखिए गोस्वामी जी ने कौशल्या का असमंजस और भाव-संघर्ष कैसे सुन्दर रूप में दिखाया है।

राखि न सकहि न कहि सक जाहू, दुहूँ भाँति उर दारुन दाहू।
धरम सनेह उभय मति घेरी, भइ गति साँप छछूँदर केरी॥
राखउँ सुतहि करउँ अनुरोधू, धरम जाइ अरु बंधु विरोधू।
कहउँ जान बन तौ बड़ हानी, संकट सोच विकल भइ रानी॥

इस संशय में आलोक आ जाता है और फौरन निश्चय हो जाता है।

बहुरि समुझि तिय धरमु सयानी, राम भरत दोउ सुत सम जानी।

और वह कह देती हैं कि 'पितु आयसु सब धरम क टीका।'

सुमित्रा का त्याग लक्ष्मण जी की भ्रातृभक्ति के सर्वथा अनुकूल है।

तुमरेहि भाग रामु बन जाहीं, दूसर हेतु तात कछु नाहीं।

रामचन्द्र जी को वनवास, हे लक्ष्मण, तुमको उनकी सेवा करने का अवसर देने के लिए ही दिया गया है।

नाटककार के लिए चरित्र का क्रमशः परिवर्तन दिखाना चरित्र-चित्रण से भी अधिक महत्त्व रखता है। कैकेयी-मंथरा-संवाद में गोस्वामी जी ने मनोविज्ञान का सूक्ष्म परिचय दिया है। बड़े ही कौशल के साथ उन्होंने कैकेयी का परिवर्त्तन दिखाया है। मंथरा कुछ कहती नहीं है, सिसकती है। जब सिसकना बन्द नहीं होता तब कैकेयी के मन में शंका होती है, वह राम की कुशल पूछती है। मंथरा बड़ी चतुरता से उत्तर देती है—'रामहि छाँड़ि कुशल केहि आजू' और सौतिया डाह को जाग्रत करती है।

पूत विदेस न सोच तुम्हारे। जानति हहु बस नाह हमारे।

कैकेयी इस भुलावे में न आ कर नीति का आश्रय लेती है—

जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई।

इस पर मंथरा उपेक्षापूर्ण निस्वार्थता के साथ स्पष्टवक्ता होने की बात चलाती है, ठकुरसुहाती बात कहने को बुरा कहती है और अपने मन्द भाग्य को दोष देती है—

कोउ नृप होउ हमैं का हानी। चेरि छाँड़ि नहिं होउब रानी।

उदासीनता में निःस्वार्थता दिखाई देती है; निःस्वार्थता सत्य और निष्पक्षता की कसौटी है। इसका बड़ा प्रभाव पड़ता है। मंथरा चुप हो जाती है। कैकेयी बार-बार पूछने लगती है। मंथरा बड़ा दिखावटी संकोच कर उत्तर देती है। इसी प्रकार कैकेयी में क्रमशः परिवर्त्तन हो जाता है।

यद्यपि रामचरितमानस नाटक के तौर पर नहीं लिखा गया तथापि इसमें नाटक के सब गुण हैं। ऐसी चरित्र-चित्रण-कुशलता शायद ही किसी नाटक में होगी। लक्ष्मण-परशुराम तथा रावण-अङ्गद आदि संवादों की सजीवता रामचरित-मानस के नाटकत्व को और भी निखार देती है।

इन सब बातों के साथ गोस्वामी जी ने अपने रामचरितमानस में लोक संग्रह और मर्यादावाद का बड़ा ऊँचा आदर्श रक्खा है। स्वेच्छाचार का घोर

उच्च आदर्श

विरोध किया है; 'मारग सोई जा कहँ जो भावा' ऐसी स्वतन्त्रता को बुरा कहा है। यह स्वेच्छाचार का विरोध प्रजा के लिए ही नहीं है, वरन् राजा लोग भी नियम-मर्यादा से

बँधे थे। प्रजा को सुखी रखना ही राजा का धर्म बतलाया गया है। 'जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी, सो नृप अवसि नरक अधिकारी'। इसीलिए सचिव वैद्य और गुरु को सत्य बोलने के लिए पूरी स्वतन्त्रता दे रक्खी है—

सचिव, वैद्य, गुरु तीन जो, प्रिय बोलहिं भय आस।
राज धरमु तनु तीन कर, होहि बेगही नास॥

रामचरितमानस के समाज में ब्राह्मण और गुरुओं का पूरा आदर है। रामचन्द्र जी विश्वामित्र के पैर दबाते हैं। जब गुरु वसिष्ठ श्रीरामचन्द्र ए जाते हैं तब वे कितनी विनय से उनका स्वागत करते हैं—

गहे चरन सिय सहित बहोरी, बोले राम कमल कर जोरी।
सेवक सदन स्वामि आगमनू, मंगल-मूल अमंगल-दमनू॥

श्रीरामचन्द्र के युवराज बनाये जाने के संबंध में राजा दशरथ सब से पहले गुरु वसिष्ठ से सलाह करते हैं। केवल गुरु जी ही नहीं बुलाये जाते वरन् 'सचिव महाजन सकल बुलाये'; कोई बात नीति के विरुद्ध नहीं होती। लंका जीत लेने पर श्रीरामचन्द्र जी अपने सहायकों को भूल नहीं जाते। 'प्रति उपकार करौं का तोरा, सम्मुख होइ न सकै मन मोरा', 'तुम्हरे बल मैं रावण मारा' इत्यादि वाक्यों द्वारा वे वानरों के प्रति कृतज्ञता प्रकाशित कर उनको गौरव देते हैं। हिंदू-धर्म की जो कुछ मर्यादा है उसका मानस में पूर्णतया पालन किया गया है।

इस ग्रन्थ-रत्न ने हिन्दू-आदर्शों, हिन्दू-भावों और हिन्दू-संस्कृति की रक्षा कर एवं हिन्दू-धर्म के भिन्न-भिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित कर हिन्दू-धर्म

हिन्दी-साहित्य में मानस का स्थान

में अद्वितीय स्थान पाया है। जिस प्रकार हिन्दू-धर्म में इसका स्थान अद्वितीय है उसी प्रकार हिन्दी साहित्य में भी कोई ग्रन्थ इसकी समता नहीं कर सकता। समुद्र की भाँति यह ग्रन्थ अपने विस्तार में जैसा व्यापक है वैसा ही इसका भाव-गांभीर्य भी अथाह है। मानव-जीवन का कोई ऐसा कोना नहीं जिसको इसने आलोकित न किया हो। सूर, कबीर, देव, बिहारी, भूषण और मतिराम सभी महानुभावों ने अपनी-अपनी सूक्तियों से हिन्दी-भाषा की शोभा

बढ़ाई है; सब में अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं; किन्तु यदि हम ऐसे ग्रन्थ की तलाश करना चाहें जिसने सारे मानव-जीवन को परिवेष्टित कर लिया हो तो हमको रामचरित-मानस का ही नाम लेना पड़ता है। मानव-हृदय के अगाध समुद्र में पैठने वाले हिन्दी-कवियों में सूर और तुलसी ही अग्रगण्य हैं। यह अवश्य माननी पड़ेगी कि सूरदास वात्सल्य के वर्णन में संसार के साहि अद्वितीय ठहरेंगे, शृंगार-वर्णन में भी सूरदास जी ने कलम तोड़ दी है; भाषा का माधुर्य भी अनुपम है, किन्तु उनका वृत्त संकुचित है। तु रामायण में यह बात नहीं है। उसमें कोई बात छोड़ी नहीं गई अ बात को उठाया गया है, उसे पूर्णतया अलंकृत कर दिखाया गया है और शील, लज्जा और प्रेम, सत्य और पुत्र-प्रेम, आदि भावों का सं खा कर मामव-हृदय का मार्मिक ज्ञान उपस्थित किया गया है। श्री राम की का मर्यादा-पालन, धैर्य और अनुपम त्याग, दशरथ जी की आत्मबलिदान करने वाली सत्यपरायणता, भरत का संन्यास, लक्ष्मण की भ्रातृ-भक्ति, हनुमान का सेवा-धर्म, मंथरा का कौटिल्य, कैकेयी का तिरियाहठ, सीता का सतीत्व, रावण का घातक अभिमान, सब बातें किस एक ग्रन्थ में मिल सकती हैं! रामचरित का औरों ने भी वर्णन किया है, किन्तु उनमें इतनी हृदय की आन्तरिकता नहीं। कोई अलंकारों के प्रवाह में बह गये तो कोई छंदों के जाल में फँस गये। मूल नायक के चरित्र-सौंदर्य को जैसा रामचरित-मानस में दिखाया गया है वैसा कहीं नहीं। तुलसीदास जी ने जो कहना चाहा, उसे दृढ़ता और प्रभाव के साथ कहा, जो बात दिखानी चाही वह सफलता-पूर्वक दिखा दी, काव्य-परिपाटी का पालन किया, रसों और अलंकारों का स्वाभाविकता से प्रयोग किया, किन्तु उनके कारण मूलभावों का बलिदान नहीं किया। मानव-चरित्र की सूक्ष्म से सूक्ष्म रेखा पर प्रकाश डाला, धर्म और मर्यादा की रक्षा की, सिद्धान्तों का उद्घाटन किया और उत्तमोत्तम सूक्तियों द्वारा जीवन की प्रत्येक स्थिति के लिए उपदेश दिया। इसलिए यह ग्रन्थ-रत्न हिन्दी-साहित्य का मुकुटमणि गिना जाता है।

ना
पूछती
आजू

यद्यपि हिन्दी साहित्य के प्रारंभिक काल में वीर कवियों का भीमगर्जन ही अधिकतर सुनाई दिया, तथापि उन वीर कवियों की कविता में जातीयता की भावना या किसी महान् उद्देश्य की प्रेरणा का सर्वथा अभाव था। वे राजाश्रित कवि अपने नायक के प्रेम, युद्ध और कीर्ति के वर्णन में ही, चाहे वह उसके अनुरूप हो अथवा न हो, अपनी प्रतिभा का उपयोग करते रहे।

हिन्दू शक्ति के ह्रास होने के पश्चात् जब देश मुसलमानों के शासन में आ गया, जब देशी रजवाड़ों ने विदेशियों को आत्म-समर्पण कर दिया, तब इन वीरगाथाओं की रचना में शिथिलता आ गई। जनता आतंकित और हताश हो कर आत्म-विस्मृत सी हो गई थी। उस हताश जनता को अब भगवान् का ही आश्रय था। जनता के हृदय को सँभालने और लीन रखने के लिए कविगण भक्ति की चतुर्मुखी धारा बहाने लगे। एक ओर कबीर आदि संत कवि एकतारा बजा कर उपदेश देने लगे—"रहना नहिं देस बिराना है" और जायसी आदि प्रेम-मार्गी कवि इस लोक में काल्पनिक प्रेम-आख्यानों द्वारा अव्यक्त ईश्वर के पाने का मार्ग-प्रदर्शन करते हुए "राख उठाय लीन्ह एक मूठी, दीन्ह उड़ाय पिरथवी झूठी" की घोषणा करने में तत्पर हो गये। दूसरी ओर महात्मा सूरदास आदि कृष्णभक्त कवि कृष्ण-लीला के माधुर्य रस में बह कर तीनों लोकों के वैभव को भगवान की एक-एक मुसकान पर वारने लगे। इसी प्रकार रामभक्त तुलसी विष्णु भगवान् के अवतार अयोध्यापति रामचन्द्र की लोक-संग्रह-कारी कथा को चित्रित कर इस जीवन से मुक्त होने की आशा करने लगे।

इस समय के कुछ बाद सांसारिक कवि कृष्णभक्तों की राधा और कृष्ण की लीलाओं में सांसारिक वासनामय प्रेम के हाव-भाव खोजने लगे। वे रति-रंग में डूबने में ही अपने जीवन की सार्थकता समझने लगे। तत्कालीन विलासी राजाओं की परितृप्ति और अनुमोदन के लिए पिष्ट-पेषित उक्तियों को नये-नये रूप में रचा जाने लगा। सूर और तुलसी ने यद्यपि मानव जीवन के स्वस्थ पक्ष की ओर ध्यान आकर्षित किया था तथापि उनके चरित्रनायक 'विधि हरि शम्भु नचावन हारे' दिव्य पुरुष थे। उनकी विजय से आशा का संचार होता था किन्तु मानव-गौरव नहीं बढ़ता था। इस प्रकार यद्यपि उस समय

तक हिन्दी-काव्य अपनी उत्कृष्टता की चरम सीमा को पहुँच चुका था, पर उसमें युद्ध, भक्ति और प्रेम के अतिरिक्त और कोई भाव नहीं दिखाई देता। किसी भी कवि को जातीय जीवन का आदर्श न सूझा, किसी की कविता में जातीयता का राग या जातीयता की भावना नहीं मिलती।

भूषण ही हिन्दी-साहित्य में पहले ऐसे कवि हैं, जिन्होंने जातीय या राष्ट्रीय भावना से प्रेरित हो कर काव्य-रचना की। वे भी राजाश्रित कवि थे, पर जिस तरह उनके नायक शिवाजी और छत्रसाल राष्ट्र के नायक थे, राष्ट्रीय या जातीय चेतना की प्रतिमूर्ति थे, वैसे ही भूषण ने भी उनके राष्ट्रीय या जातीय यशःशरीर का ही चित्रण किया है; उनके वैयक्तिक जीवन या उनके प्रेम-व्यापार पर भूषण ने एक पद, एक पंक्ति भी नहीं लिखी। उन्होंने अपने नायक की प्रशंसा केवल इसलिए की कि "हिंदुवान द्रुपदि की इज्जति बचैवे काज" ही उसने रण ठाना था, क्योंकि "राज मही सिवराज बली हिंदुवान बढ़ाइबे को उर ऊटे", क्योंकि "जहान हिन्दुवान के उबारिबें" में ही वह वीर खौल उठता था।

जातीयता

अपने नायक की विजयों को भूषण उनकी वैयक्तिक विजय नहीं मानते अपितु हिन्दुओं की विजय मानते हैं—"संगर में सरजा सिवाजी अरि सैनन को, सारु हरि लेत हिन्दुवान सिर सारु दै।" भूषण ही ऐसे कवि थे, जिन्होंने सबसे पहले यह घोषणा की—"आपस की फूट ही तें सारे हिन्दुवान टूटै"; जिन्हें उस समय के हिन्दू-राजाओं की असहायावस्था चुभती थी, विशेषतः महाराणा प्रताप के वंशज उदयपुर के राणा की, अतएव वे कहते थे—'राना रह्यो अटल बहाना करि चाकरी को बाना तजि भूषण भनत गुन भरि कें'; जिन्होंने शिवाजी के बाद छत्रसाल बुन्देला की केवल इसलिए प्रशंसा की थी कि उन्होंने 'रोप्यो रन ख्याल ह्वै के ढाल हिंदुवाने की।'

सारांश यह कि भूषण की कविता में जातीयता की भावना सर्वत्र व्याप्त है और वह तत्कालीन वातावरण तथा हिन्दुओं की मानसिक अवस्था की सच्ची परिचायक है। भूषण की वाणी हिन्दू जाति की वाणी है। हो सकता है भूषण की जातीयता में भारतीयता का भाव उतना न हो जितना हिन्दूपन या हिन्दू

धर्म का था, पर उस समय हिन्दूपन का संदेश ही एक प्रकार से जातीयता का संदेश था। उस समय मुसलमान ही विदेशी और अत्याचारी थे।

भूषण की कविता की दूसरी विशेषता उसकी ऐतिहासिकता है। यद्यपि उनका ग्रन्थ प्रबंध-काव्य नहीं है और उसमें तिथि और संवत् के अनुसार घटनाओं का क्रम नहीं है, तथापि उसमें शिवाजी-सम्बन्धी प्रायः सब मुख्य राजनीतिक घटनाओं का—उनकी मुख्य-मुख्य विजयों का—उल्लेख है। ऐतिहासिक घटनाओं के सम्बन्ध में उनकी सत्य-प्रियता बहुत प्रशंसनीय है। किसी भी घटना में भूषण ने तोड़-मरोड़ नहीं की तथा अपनी ओर से कुछ जोड़ा नहीं। दान और आतंक के वर्णन को छोड़ कर कहीं अतिशयोक्ति या अत्युक्ति से काम नहीं लिया। अत्युक्ति और अतिशयोक्ति अलंकारों के उदाहरणों में तो यह आवश्यक ही था। सर्वश्री जदुनाथ सरकार, किनकेड, पारसनीस तथा तेखुस्कर आदि आधुनिक महाराष्ट्र-ऐतिहासिकों की पुस्तकों से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो उन विद्वानों ने कई स्थानों पर भूषण के पद्यों का अनुवाद कर के ही रख दिया हो*। इन ऐतिहासिकों ने शिवाजी के दान और आतंक के जो विवरण दिये हैं उन्हें देख कर भूषण के वर्णन को अत्युक्ति-पूर्ण नहीं कहा जा सकता। भूषण की कविता में से ऐतिहासिक घटनाओं के उल्लेख-युक्त पद्यों को छाँट कर यदि तिथि-क्रम से रख दिया जाय तो शिवाजी की अच्छी खासी जीवनी तैयार हो सकती है। भूषण के पहले किसी कवि ने ऐतिहासिकता का ऐसा पालन नहीं किया।

ऐतिहासिकता

भूषण की कविता की तीसरी विशेषता है, उसकी मौलिकता और उसका सरल भाव-व्यंजना से युक्त होना। यद्यपि काल-दोष से भूषण को रीतिबद्ध ग्रन्थ-रचना करनी पड़ी परन्तु उस रीतिबद्ध ग्रन्थ-रचना में भी भूषण ने अपनी मौलिकता और सरल भाव-व्यंजना का परित्याग नहीं किया। मौलिकता के कारण ही उन्होंने

मौलिकता और सरलता

---

* देखिए, हिन्दी भवन, प्रयाग, द्वारा प्रकाशित भूषण-ग्रन्थावली की श्री देवचन्द्र नारंग द्वारा लिखी भूमिका।

तत्कालीन शृङ्गार-प्रणाली को छोड़ कर नये रस और नई प्रणाली को अपनाया। मौलिकता के कारण ही उनके वर्ण्य विषय और वर्णन-शैली, उनकी अलंकार-योजना तथा उनकी भाषा, सब में अनूठापन है।

भूषण के वर्ण्य विषय वही पिष्टपेषित विषय, नायिका के नख-शिख आदि, नहीं थे अपितु उनके वर्ण्य विषय थे—शिवाजी के युद्ध, शिवाजी का यश, शिवाजी का दान तथा शिवाजी का आतंक। उनकी सारी कविता में ये ही चार विषय पाये जाते हैं। युद्ध-वर्णन में कुछ स्थानों पर भूषण ने वीरगाथा-काल के कवियों की तरह अमृतध्वनि छंद तथा अपभ्रंश शब्दों की बहुलता रक्खी है, पर साधारणतया उन्होंने सवैया और मनहरण कवित्त आदि छन्दों का बड़ी सफलता से प्रयोग किया है।

दिल्ली-दल दले सलहेरि के समर सिवा,
भूषण तमासे आय देव दमकत हैं।
किलकति कालिका कलेजे को कलल करि,
करिकै अलल भूत भैरों तमकत हैं॥
कहुँ रुंड मुंड कहुँ कुंड भरे स्रोनित के,
कहूँ बखतर करी झुंड झमकत हैं।
खुले खग्ग कंध धरि ताल गति बंध पर,
धाय धाय धरनि कबंध धमकत हैं॥

नायक के यश-वर्णन के उद्देश्य से ही भूषण ने ग्रन्थ-रचना प्रारंभ की थी। सौभाग्य से महाकवि भूषण को शिवाजी जैसा नायक तथा प्रतापी मुगल सम्राट् औरंगजेब जैसा प्रतिनायक भी मिल गया था। भूषण यह भी समझते थे कि यदि नायक का प्रतिपक्षी महान् हो, अमित पराक्रमी हो, तो उसको विजय कर नायक भी अमित यश का भागी हो सकता है। अतः उन्होंने औरंगजेब के पराक्रम और प्रताप के वर्णन में कमी नहीं की। वे प्रायः पहली पंक्तियों में औरंगजेब के पराक्रम का वर्णन कर अंतिम पंक्तियों में उस पर विजय पाने वाले अपने नायक शिवाजी का उत्कर्ष दिखाते हैं। भूषण जहाँ शिवाजी को 'सरजा' की उपाधि से भूषित करते हैं वहाँ औरंगजेब को 'मदगल गजराज' का गौरव

देते हैं। जहाँ 'म्लेच्छन को मारिबे को तेरो अवतार है' कह कर शिवाजी की प्रशंसा करते हैं वहाँ वे औरंगजेब को 'कुम्भकन्न असुर औतारी' कहते हैं।

औरंगजेब के अतिरिक्त शिवाजी को अकेले ही अन्य अनेक मुसलमान बादशाहों और उनकी छत्र-छाया में बसने वाले राजपूतों तथा पश्चिमी तट पर बसी हुई अन्य विदेशी जातियों से लड़ना पड़ता था; उन सब का परिगणन कर अंतिम पंक्ति में "फिर एक ओर सिवराज नृप एक ओर सारी खलक" कह कर भूषण ने शिवाजी के अनन्त साहस का सुन्दर चित्र खींचा है।

शिवाजी के दान का वर्णन भी भूषण ने अनूठा किया है और शिवाजी के आतंक का वर्णन तो बहुत ही ओजस्वी, प्रभावोत्पादक और सजीव है। सहसा आक्रमण कर अपने आतंक से ही शत्रुओं को किंकर्त्तव्यविमूढ़ कर देना शिवाजी की युद्ध-नीति थी; अतः शिवाजी के आतंक का वर्णन भूषण ने केवल वाणी-विलास अथवा अर्थप्राप्ति के हेतु नहीं किया, अपितु नायक की नीति सफल करने निमित्त, शिवाजी की धाक चारों ओर फैलाने के लिए, फलतः विपक्षियों को विचलित करने के लिए किया है। भूषण इसमें इतने सफल हुए हैं कि कई समालोचकों का मत हो गया है कि भूषण वीर रस से अधिक भयानक रस में विशेषता रखते थे।

नीचे दिया गया पद शिवाजी के आतंक और भूषण की वर्णनशैली को अच्छा व्यक्त करता है—

चकित चकत्ता चौंकि चौंकि उठै बार-बार
दिल्ली दहसति चितै चाह करषति है।
बिलखि बदन बिलखात बिजैपुरपति,
फिरति फिरंगिनी की नारी फरकति है॥
थर थर काँपत कुतुबशाह गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
राजा सिवराज के नगारन की धाक सुनि,
केते पातसाहन की छाती दरकति है॥

उनकी अलंकार-योजना में भी यही विशेषता है कि उसमें नायक-नायिका

के नख-शिख के सौंदर्य को व्यक्त करने वाली अलंकृत उक्तियों का पिष्ट-पेषण नहीं, न केवल शब्दों का इंद्रजाल है, अपितु सीधे सरल शब्दों में शुष्क ऐतिहासिक तथ्यों को अलंकारों द्वारा पाठक के मन में अंकित करने का सफल प्रयत्न है।

औरङ्गजेब ने और सब हिन्दू राजाओं को वश में कर लिया था, पर केवल शिवाजी ऐसे थे, जिनसे वह कर न वसूल कर सका। इस ऐतिहासिक तथ्य को कवि ने भ्रमर और चंपा के कैसे अच्छे उपमा-मिश्रित रूपक द्वारा प्रकट किया है—

कूरम कमल कमधुज है कदम फूल,
गौर है गुलाब राना केतकी विराज है।
पाँडर पँवार जूही सोहत है चंदावत,
सरस बुँदेला सो चमेली साज बाज है॥
भूषन भनत मुचकुन्द बड़गूजर है,
बघेले बसंत सब कुसुम-समाज है।
लेई रस एतेन को बैठ न सकत अहै,
अलि नवरङ्गजेब चंपा सिवराज है॥

भ्रमर सभी पुष्पों का रस लेता है, पर चंपा पर उसकी तीव्र गंध के कारण नहीं बैठ सकता। इस पद्य में औरङ्गजेब को भ्रमर और शिवाजी को—जिनका औरङ्गजेब कभी रस न ले सका—चंपा बनाना कैसा उपयुक्त है। चम्पा के पास भ्रमर का न आना एक दोष माना जाता है, किन्तु भूषण के पारस स्पर्श से दूषण भी भूषण बन गया है। जयपुर-महाराज को कमल और राणा को केतकी बनाना भी कम संगत नहीं है। भारत के राजपूत-राजाओं में सब से अधिक रस या सहायता मुगल-सम्राट् को जयपुर-नरेश रूपी कमल से ही मिली थी। ऐसे ही राणा-रूपी कंटकयुक्त केतकी का रस लेने में औरङ्गजेब रूपी भ्रमर को पर्याप्त कष्ट उठाना पड़ा था।

शिवाजी को रात दिन बीजापुर के सुलतान एदिलशाह, गोलकुंडा के सुलतान कुतुबशाह तथा मुगल-सम्राट् औरङ्गजेब से लोहा लेना पड़ता था। इनमें पहले दो तो विवश हो कर शिवाजी को कर देने लग गये थे, तीसरे को

भी शिवाजी ने खूब नीचा दिखाया था। इस ऐतिहासिक तथ्य की पौराणिक कथा से समता प्रकट कर कवि ने व्यतिरेक का क्या ही अच्छा उदाहरण दिया है—

एदिल कुतुबशाह औरंग के मारिबे को;
भूषण भनत को है सरजा खुमान सों।
तीनपुर त्रिपुर को मारे सिव तीन बान,
तीन पातसाही हनीं एक किरवान सों॥

सूरत जैसे प्रसिद्ध व्यापारिक शहर को लूट कर और जला कर शिवाजी ने मुगल सल्तनत को खूब नीच दिखाया था। सूरत के लूटने और जलाये जाने का हाल सुन कर औरंगज़ेब क्रोध से जल भुन गया था। यहाँ कवि ने कैसा असंगति अलंकार का चमत्कार दिखाया है—

सूरत जराई कियो दाह पातसाह उर,
स्याही जाय सब पातसाह मुख झलकी।

इस तरह हम देखते हैं कि भूषण की अलंकार-योजना में पिष्टपेषण नहीं, क्लिष्ट कल्पना नहीं, पर है सरलता तथा मौलिकता।

वर्ण्य विषय और अलंकार-योजना के अतिरिक्त भूषण की भाषा में भी मौलिकता है। वीर-गाथा-काल से काव्य-भाषा—पिंगल—का आधार ब्रज भाषा ही थी। उसमें वीर-रसोपयोगी वर्णन के लिए अपभ्रंश मिश्रित राजस्थानी का पर्याप्त प्रयोग किया जाता था। पर उसके पीछे कृष्ण-भक्त तथा रीति-काल के कवियों के समय ब्रजभाषा पर्याप्त मधुर और शुद्ध हो गई। शृंगारी वर्णनों के लिए ब्रजभाषा को और भी अधिक सरस बनाने का प्रयत्न किया गया; उसकी कर्कशता को सप्रयास दूर किया गया, उसके स्थान पर कोमलकांत-पदावली प्रयुक्त होने लगी, जो कि वीर रस के लिए सर्वथा अनुपयुक्त थी। इस कारण भूषण को अपनी भाषा अपने आप तैयार करनी पड़ी।

भाषा

सुदूर महाराष्ट्र देश में अपनी कविता का प्रचार करने के लिए उन्हें अपनी कविता की भाषा को खिचड़ी बनाना आवश्यक हो गया। पर उस

खिचड़ी में भी ओज की कमी नहीं है । उनकी भाषा का सौंदर्य तो केवल इसी में है कि उसे पढ़ कर या सुन कर पाठकों और श्रोताओं के हृदय में वीरों के आतंक, युद्ध के लोमहर्षण दृश्य, रणचंडी-नृत्य इत्यादि के चित्र खिंच जाते हैं । रस के अनुकूल शब्दों में भेरी-रव की विकट ध्वनि लक्षित होती है । भूषण ने अपनी भाषा को सर्व-सुलभ बनाने के लिए शुद्ध संस्कृत शब्दों के साथ शुद्ध विदेशी शब्दों को मिलाने में भी संकोच नहीं किया । "ता दिन अखिल खलभलैं खल खलक मैं" तथा "जिनकी गरज सुन दिग्गज बेआब होत मद ही के आब गरकाब होत गिरि हैं" आदि पद्यांशों में संस्कृत, देशज तथा विदेशी शब्दों का जोड़ देखने लायक है । इसी अनुप्रास-योजना के लिए भूषण ने 'शिवाजी गाजी' का भी प्रयोग किया है, यद्यपि 'गाजी' शब्द साधारणतया काफिरों पर विजय प्राप्त करने वालों के लिए ही प्रयुक्त होता है ।

उपरिलिखित तीनों विशेषताओं—जातीयता की भावना, ऐतिहासिकता और मौलिकता तथा सरल भाव-व्यंजना—के अतिरिक्त महाकवि भूषण में एक

निर्लोभिता

और विशेषता है; वह यह कि धन के लोभ से भूषण ने अपनी कविता को, अपनी प्रतिभा को, दूषित नहीं किया । प्राचीनकाल से अनेक हिन्दी कवि, और रीतिकाल में तो प्रायः सभी प्रमुख कवि, अपने विलासी आश्रयदाताओं की मनस्तृप्ति के लिए कलुषित प्रेम की शत-सहस्र उद्‌भावनाएँ करके देवी भारती का भंडार भरने के स्थान पर उसे कलंकित कर रहे थे । इसी को देख कर गोस्वामी तुलसीदास ने अनेक वर्ष पहले कहा था—

कीन्हें प्राकृत जन गुण गाना, सिर धुनि गिरा लागत पछिताना ।

इसी बात को अनेक वर्षों के बाद भूषण ने दूसरे शब्दों में इस प्रकार दुहराया—

ब्रह्म के आनन तें निकसे तें अत्यन्त पुनीत तिहूँ पुर मानी ।
राम युधिष्ठिर के बरने बलमीकिहू व्यास के अंग सुहानी ॥
भूषण यों कलि के कविराजन राजन के गुण गाय नसानी ।
पुन्य-चरित्र सिवा सरजै सर न्हाय पवित्र भई पुनि बानी ॥

मानवता के दर्शन करा कर और उनकी वीरोचित कष्ट-सहिष्णुता का परिचय दे कर उनके प्रति हमारी श्रद्धा भावना को जाग्रत किया ; उनके हृदय की मूक-वेदना को मुखरित कर उस शब्द को आकाश-वाणी यंत्र (Radio) की भाँति झोंपड़ियों से महलों तक पहुँचाया और महलों में सोने वालों को झोंपड़ियों के स्वप्न दिखला कर उनकी सहानुभूति को उद्बोधित किया।

प्रेमचन्द जी मानवता के कवि थे। मानवता उनके लिए किसी जाति विशेष या श्रेणी विशेष में सीमित न थी। उन्होंने किसी व्यक्ति को हिन्दू होने के कारण अच्छा और मुसलमान होने के कारण बुरा नहीं दिखलाया। कबीर की भाँति दोनों में जहाँ उनकी बुराई देखी बुराई की और भलाई देखी तो बड़ाई की। सच तो यह है कि मुंशी जी का ध्यान बुराइयों की अपेक्षा भलाइयों की ओर अधिक गया।

मुंशी प्रेमचन्द जी महान कलाकार थे। वे कला को कला के लिए मानने वालों में न थे। उनकी कला लोक-हित और जनता की मंगल-कामना को लक्ष्य बना कर अवतरित हुई थी। उनके उपन्यासों में कोई न कोई लोक-संग्रहात्मक उद्देश्य रहता था। इसलिए उनके सम्बन्ध में यह भी कहा गया है कि वे कहीं-कहीं उपन्यासकार न रह कर उपदेशक का रूप धारण कर लेते हैं, यह बात कहीं-कहीं तो किसी अंश में सत्य है, किन्तु सत्काव्य की भाँति उनके उपन्यासों में भी उपदेश की व्यञ्जना ही रहती है। उनके उपन्यास ऐसे नहीं हैं जो मन को कोरा छोड़ दें। वे विचारोत्तेजक हैं। वे हम को समाज की किसी समस्या की ओर ले जाते हैं। 'सेवासदन' में सामाजिक अत्याचार द्वारा स्त्रियों के पतन तथा वेश्याओं के सुधार की समस्या है। 'प्रेमाश्रम' में घरेलू कलह तथा जमींदार और काश्तकार के संबंध का प्रश्न है। 'रंगभूमि' में राष्ट्रीयता का रूप और अहिंसात्मक आन्दोलन का औपन्यासिक चित्र दिखाया गया है। 'कायाकल्प' में मरणोत्तर जीवन का प्रश्न है। 'गबन' में स्त्रियों के आभूषण-प्रेम से जो हानि होती है उसका अच्छा चित्रण है। सरकारी गवाह बनाने में पुलिस के हथकंडों का भी अच्छा दिग्दर्शन कराया गया है। 'कर्मभूमि' में घर और बाहर का संघर्ष है जिसमें कार्य-क्षेत्र प्रबल सिद्ध होता है और पुत्र के

कार्यक्षेत्र में पिता के भी सम्मिलित हो जाने से घर और बाहर का समझौता हो जाता है। 'गोदान' में किसानों के कर्ज की समस्या है और उनके ग्रामीण और शहरी जीवन की तुलना भी की गई है। मुंशी जी ने सुधार के सभी पहलुओं पर प्रकाश डाला है। मृतक-भोज, बेमेल विवाह, अछूतोद्धार, शराबबन्दी, दहेज आदि सभी समस्याओं को अपने विवेचन का विषय बनाया है। वे उन सुधारकों में नहीं थे जो भूसी के साथ गेहूँ भी फटक देते हों। हिन्दू समाज की बुराइयों के उद्घाटन के साथ उसकी भलाइयों की ओर भी उनका ध्यान गया है। सम्मिलित कुटुम्ब के वे पक्ष में थे। एक कहानी में वे लिखते हैं कि जब दोनों भाई शामिल थे वे किसान थे, जब अलग हो गये मजदूर बन गये।

इन उपन्यासों की समस्याएँ यद्यपि सामयिक हैं तथापि उन में हम एक शाश्वत पुकार का परिचय पाते हैं जिस के कारण वे कृतियाँ अमर रहेंगी। मानव-समाज की समस्याओं का रूप बदलता रहता है किन्तु मूल में वे एक सी ही रहती हैं। प्रेमचन्द जी वर्तमान के सहारे मानवता और न्याय के चिरन्तन सत्य की ओर झुके हैं। सब समस्याओं का हल मानवता में है। मुंशी जी ने उसी मानवता की प्रतिष्ठा करनी चाही है।

उनकी कहानियों में भी हम वर्णन के सौन्दर्य के अतिरिक्त मानव-हृदय की विशालता का परिचय पाते हैं। बड़े घर की बेटी, पंच-परमेश्वर, मुक्तिमार्ग, आत्माराम, इस सम्बन्ध में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। बहुत-सी कहानियाँ जीवन की झाँकी-मात्र हैं। जैसे—शतरंज के खिलाड़ी। खेल का वर्णन बड़ा सजीव और चित्रोपम है। खिलाड़ियों की तन्मयता उल्लेखनीय वस्तु है। कुछ लोगों का कथन है कि मुंशी प्रेमचन्द जी ने कहानी के क्षेत्र में उपन्यासों की अपेक्षा अधिक सफलता प्राप्त की है। यह कथन निर्विवाद नहीं है। इस धारणा का एक कारण यह है कि उपन्यास के विस्तार की स्वतंत्रता पा कर वे अपने को संयम में नहीं रख सके हैं। वे आन्दोलनों के प्रवाह में स्वयं बह से गये हैं; वहीं उनके उपन्यासों में शैथिल्य आ गया है। वे अन्विति (Unity) का भी निर्वाह नहीं कर सके हैं। कथा-प्रवाह की कई धाराएँ फूट पड़ती हैं, जिनकी आधिकारिक कथा से संगति नहीं हो पाई है। भाषा में भी

शैथिल्य आ गया है और व्यंग्यात्मक शैली को छोड़ कर वे प्लेटफार्म की उपदेशात्मक शैली का अनुकरण करने लगे हैं।

कहानी के छोटे आकार ने उनको संयम की सीमा के भीतर ही रक्खा है। वे उन मनुष्यों की भाँति हैं जो नियम और सीमा के बंधन में बँध कर तो अपने को संयत रख सकते हैं और उन्मुक्त वातावरण में पहुँच कर दौड़ लगाने लग जाते हैं। कहानी में उसके छोटे आकार के कारण वे अन्विति और एकतथ्यता को अच्छी तरह निभा सके हैं। कहानी में उनकी कला कविता के अधिक निकट आजाती है और उसके द्वारा उन्होंने बड़े सुन्दर मनोवैज्ञानिक तथ्यों का भी उद्घाटन किया है और वे कहानी के छोटे मुँह से बड़ी-बड़ी बातें कह सके हैं। उनकी कहानियों में भाषा भी अधिक चुस्त बनी रह सकी है। जो लोग कहानी या उपन्यास में संगठन की परवाह नहीं करते उनके लिए मुंशी प्रेमचन्द उपन्यासकार के ही रूप में अधिक सफल हुए हैं।

सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलनों का जैसा सुन्दर चित्रण उन्होंने किया है वैसा बहुत कम उपन्यासकारों ने किया है। जो लोग सामाजिक या राजनीतिक चेतना जाग्रत करने को ही अधिक महत्त्व देते हैं उनके लिए मुंशी जी के उपन्यासों का बहुत अधिक मूल्य है। मुंशी जी की कहानियाँ बिहारी के दोहों की भाँति देखने में छोटी होती हुई गम्भीर घाव करती हैं और उनके उपन्यासों का प्रभाव कबीर के पदों का सा है। वे कला में इतने पूर्ण नहीं हैं, किन्तु अपने प्रभाव में अधिक व्यापक हैं। कला के पारखियों के लिए मुंशी जी कहानियों में अधिक सफल हुए हैं। राष्ट्रीयता को अधिक महत्त्व देने वालों की दृष्टि से मुंशी जी अपने उपन्यासों में अधिक उत्कृष्टता प्राप्त कर सके। यह बात नहीं है कि मुंशी जी अधिक सुगठित उपन्यास नहीं लिख सकते थे। 'निर्मला' इसका अच्छा उदाहरण है। किन्तु नैतिकता और प्रभावोत्पादन के प्रवाह में वे अपने को मुश्किल से ही संयत रख सकते थे। इसीलिए कुछ लोग उनको उपन्यासों में असफल बतलाते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द जी ने उपन्यासों में केवल जैसा का तैसा वर्णन नहीं किया है; उन्होंने सच्चे कलाकार की चुनाव-शक्ति से काम लिया है। इसी के कारण

वे यथार्थवाद और आदर्शवाद का सुन्दर समन्वय कर सके हैं। सच्चा कलाकार बीभत्स में से भी सौन्दर्य की सृष्टि कर सकता है। संसार गुण-दोष, पाप-पुण्य, पतझड़ और वसन्त, करुणा-क्रन्दन और हास-विलास का छायालोकमय मिश्रण है। प्रेमचन्द जी ने संसार के कालिमामय दृश्यों की उपेक्षा नहीं की किन्तु उनका चित्रण इतना गहरा नहीं किया जिससे कि उनके अन्तस्तल में स्थित उज्ज्वल प्रकाश के कण छिप जायँ। उन्होंने मानव-जीवन के प्रकाशमय कणों को कालिमा में विलीन नहीं किया वरन् उनको ऊपर ला कर थोड़ा चमका दिया है। उन्होंने दुर्बलताओं में भी सत्य और सुन्दर की खोज की है। उनको मानव-हृदय की श्रेष्ठता में अटल विश्वास था; किन्तु जहाँ पर अत्याचरियों के अत्याचार का प्रश्न था, वहाँ वे उनके उद्घाटन में वास्तविकता की बीभत्सता से नहीं घबराये। पुलिस वालों के अत्याचार, घूसखोरी, जमीदारों की धौंस, बेगार और डाँट-डपट के विरुद्ध वे सदा लिखते आये हैं। यही उनका यथार्थवाद समन्वित आदर्शवाद है।

मुंशी जी केवल यथार्थ का ही वर्णन नहीं करते किन्तु शक्य और सम्भव के घेरे में वे थोड़े बहुत सामाजिक प्रयोग कर उनका शुभाशुभ फल दिखला देते हैं और सुधारक के कार्य-क्रम की ओर संकेत कर देते हैं। 'प्रेमाश्रम' के माया-शंकर जी अपने किसानों को ही जमीन का मालिक बना देते हैं, "मैं अपनी प्रजा को अपने अधिकारों के बन्धन से मुक्त करता हूँ, वह न मेरे असामी हैं, न मैं उनका ताल्लुकेदार हूँ। वह सब सज्जन मेरे मित्र हैं, मेरे भाई हैं, आज वे अपनी जोत के स्वयं जमीदार हैं"। 'सेवासदन' में भी एक प्रकार का सामाजिक प्रयोग है। इसमें वे आदर्शवाद की ओर कुछ ज्यादा झुके हुए मालूम होते हैं। 'प्रेमाश्रम' तथा 'कर्मभूमि में अछूतोद्धार और मन्दिर-प्रवेश की समस्या को भी लाये हैं। प्रेमचंद जी के उपन्यासों में उनकी लगन और हृदय की सचाई का पूरा परिचय मिलता है। इसलिए वे हमारे हृदय के अधिक निकट आते हैं।

मुंशी जी का जीवन के प्रति एक उदार दृष्टिकोण था। वे जीवन को उसकी प्राकृतिक छटा में देखना चाहते थे। वे 'गोदान' के एक प्रमुख पात्र मिस्टर मेहता से कहलाते हैं, "मैं प्रकृति का पुजारी हूँ और मनुष्य को उसके प्राकृतिक

रूप में देखना चाहता हूँ। जो रोने को कमजोरी और हँसने को हलकापन समझते हैं उनसे मेरा मेल नहीं। जीवन मेरे लिए आनन्दमय क्रीड़ा है।" जीवन के प्रति यह दृष्टिकोण उनके मानसिक स्वास्थ्य का परिचायक है।

मुंशी जी के उपन्यास बड़े सुन्दर मनोवैज्ञानिक अध्ययन हैं। उनको मानव-हृदय के अन्तस्तल की दुर्बलताओं का पता था और वे ऊँचे और नीचे उद्देश्यों को भली भाँति समझते थे। हृदय के कपाट खोल कर उसकी झाँकी करा देने में वे बड़े कुशल थे; मानसिक शिथिलता और दृढ़ता के अवसरों को वे पहचानते थे। 'गोदान' और 'गबन' में ऐसे मानसिक शैथिल्य के अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

मुंशी प्रेमचन्द जी जिस प्रकार अपनी सूक्ष्मदृष्टि और हृदय की सचाई के कारण सफल उपन्यासकार बने वैसे ही उनका भाषा पर अधिकार उनकी सफलता में सहायक हुआ। उनकी भाषा का सबसे बड़ा गुण उसकी अकृत्रिमता है; वह आडम्बर शून्य है किन्तु गौरव से भरी है। जिस प्रकार उनके भावों में हिन्दू मुसलिम ऐक्य की शुभाकांक्षा रहती है वैसे ही उनकी भाषा में हिन्दी उर्दू का सुखद सम्मिश्रण है। उर्दू की मुहावरे-दानी का उन्होंने पूरा-पूरा लाभ उठाया और वे हिन्दी में भी उर्दू का-सा लोच और चलतापन उत्पन्न कर उसकी शुद्धता स्थिर रखने में सफल हुए हैं। जिस हिन्दुस्तानी के लिए लोग गरमागरम प्रस्ताव पास करते हैं उसका उन्होंने क्रियात्मक प्रयोग करके दिखला दिया। जहाँ पर मुसलमान पात्रों से कुछ कहलाया है, उनकी हिंदी ने उर्दू का रूप ले लिया है। मुंशी प्रेमचन्द जी ने मुहावरों के बड़े सफल प्रयोग किये हैं। उन्होंने शहर के मुहावरों का ही प्रयोग नहीं किया है वरन् गाँव के मुहावरों को भी साहित्यिक प्रतिष्ठा दी है। 'घर में घी आँख आँजने तक को नहीं है', 'उसका रोआँ रोआँ प्रसन्न हो गया' इत्यादि में भावों की कितनी सुन्दर एवं शक्ति-पूर्ण अभिव्यञ्जना है।

प्रेमचन्द जी की भाषा की यह विशेषता है कि वह पात्रानुकूल बदलती गई है। इसीलिए वे अपने उपन्यासों में नाटकीय ढंग लाने में बड़े सफल हुए हैं। उनके कथोपकथन बड़े ही सजीव हैं। उनके पात्रों की भाषा उनकी

भाषा से भी कुछ अधिक चलती हुई है। यद्यपि कहीं-कहीं, जहाँ उन्होंने मुसलमानों से और विशेष कर पुलिस अफसरों से वार्तालाप कराया है वहाँ, उनकी भाषा अधिक उर्दू मय बन गई है; यहाँ तक कि वह केवल हिंदी जानने वालों के लिए दुरूह भी हो गई है। इस सम्बन्ध में कुछ लोगों का आक्षेप है कि यदि कोई चीनी पात्र हो तो क्या वे चीनी भाषा में वार्तालाप कराएँगे। यह बात को बढ़ा कर कहना है। हिंदी और उर्दू में इतना अंतर नहीं है जितना कि हिन्दी और चीनी में। उर्दू हिन्दी की ही विभाषा है। चीनी तो आर्यभाषा भी नहीं है।

मुंशी प्रेमचन्द जी बड़ी गूढ़ बात को सरल भाषा में कह सकते थे। उनमें आडंबर और पांडित्य-प्रदर्शन का अभाव था। देखिए निष्काम कर्म का कैसे सरल और सुन्दर शब्दों में उपदेश देते हैं—

"भैया कोई काम सवाब समझ कर नहीं करना चाहिए। दिल को ऐसा बना लो कि काम में वही मजा आवे जो गाने या खेलने में। कोई काम इसलिए करना कि उससे नजात मिलेगी, रोजगार है।"

गाँवों की हीन और संपन्न अवस्थाओं के भी उन्होंने बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। ऐसे चित्र 'प्रेमाश्रम' और 'गोदान' में प्रचुरता से मिलते हैं। गाँवों का प्रकृति-वर्णन भी बड़ा ही सुन्दर किया है।

"फागुन अपनी झोली में नवजीवन की विभूति ले कर आ पहुँचा। आम के पेड़ दोनों हाथों से बौर की सुगंध बाँट रहे थे और कोयल आम की डालियों में छिपी हुई संगीत का गुप्तदान कर रही थी।"

मुंशी जी ने कहीं-कहीं भाषा को ऐसा समस्त और सुगठित बनाया है कि उनके कथन सूक्तियाँ बन गये हैं। उनकी उपमाएँ बड़ी नवीन और फबती हुई होती थीं जो उनकी सूक्ष्म दृष्टि का परिचय देती हैं, 'अब इस घर से गोदावरी का स्नेह उस पुरानी रस्सी की तरह था जो बार-बार गाँठ देने पर भी कहीं न कहीं से टूट जाती है।' उनकी भाषा में मधुर हास्य और व्यंग्य के भी अच्छे छींटे रहते थे। सारांश यह कि उपन्यास की भाषा के लिए जो जो गुण चाहिएँ वे उनकी भाषा में थे। इसके साथ उनमें सच्चे कलाकार का सहृदयतापूर्ण

दृष्टिकोण था । इसी कारण वे जनता के गले का हार बन गये हैं । मुंशी जी हिंदी-साहित्य की अमर विभूतियों में से हैं । उन पर हिंदी भाषा-भाषियों को गर्व है ।

---

३८. हिन्दी नाट्य-साहित्य को प्रसाद जी की देन

हिन्दी के नाट्य-साहित्य का इतिहास यथार्थतः भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र से ही आरंभ हुआ है । उनसे पूर्व कुछ नाटक लिखे तो गये, पर वे नाम के नाटक थे । हरिश्चन्द्र से पूर्व के नाटकों में देव का 'देव माया प्रपंच,' ब्रजवासी-दास तथा महाराजा जसवंतसिंह के 'प्रबन्ध चंद्रोदय' के अनुवाद तथा बनारसीदास जैन का 'समयसारनाटक' छन्दोबद्ध आध्यात्मिक कविताएँ मात्र हैं । ठीक हरिश्चन्द्र युग में आगरा के राजा लक्ष्मणसिंह और अलीगढ़ के तोताराम ने क्रमशः 'शकुन्तला' तथा 'केटोकृतान्त' के अनुवाद करके हिन्दी को दिये थे । भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र अपने पिता को प्रथम मौलिक नाटककार मानते थे । उन्होंने 'नहुष' नाटक लिखा था । यह नाटक ब्रजभाषा में लिखा गया था । भारतेन्दु जी ने नाटकों को प्रबल प्रेरणा दी; उनके समय में कितने ही नाटककार हुए । इस काल के नाटकों में प्राचीन और अर्वाचीन नाटक-पद्धतियों की सन्धि मिलती है । इस समय चरित्र के निरूपण की ओर दृष्टि तो गई पर वे उतने मनोवैज्ञानिक नहीं हो सके, साँचे में ढले हुए आदर्श की भाँति ही उनको उपस्थित किया गया । हाँ इस काल में कुछ रूपक ऐसे लिखे गये जिनमें तत्कालीन अवस्था का चित्रण किया गया । यह चित्रण यथार्थ को वास्तव रूप में नहीं रख सका । सामग्री की दृष्टि से तो यह यथार्थ रहा, पर निरूपण और शैली में वह आदर्श टाइप का हो गया । चित्रण और अभिव्यक्ति का धरातल उथला था । विचार की गहनता से अधिक भावावेशों का प्राधान्य था, भावावेशों का मूल भी जीवन के आधार-स्रोत से नहीं था, अपितु क्षणिक उत्तेजनाओं से उत्पन्न बुद्‌बुदों के समान था । टेकनीक में भी भ्रम पर्याप्त मिलता है, एक अनिश्चितता है ।

दूसरा युग हरिश्चन्द्र और प्रसाद काल के बीच का सन्धि-युग है। इस युग में द्विजेन्द्रलाल राय और जी० पी० श्रीवास्तव के नाटकों की धूम रही। इसमें नाटक रंगमंच की ओर पहले से कुछ विशेष आकर्षित हुए। इनका प्रधान गुण पात्रों में वैज्ञानिक रूपरेखा का आधार था। नाटककार पात्रों को चरित्र के रूप में देखने-समझने लगे थे, पर इन चरित्रों का प्रेरणा-केन्द्र फिर भावुकता रही। पहले काल का भावावेश कुछ गंभीर और स्तब्ध (Crystalize) हो कर सुगठित हो गया था, और उसका उद्रेक केवल बाह्य स्थितियों की प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं रह गया था, प्रत्येक अभिव्यक्ति और आचरण का मूल चरित्र के व्यापक निजी तत्त्व में आबद्ध हो गया था। इस प्रकार अब नाटकों में कथानक के विकास के साथ सुसम्बद्ध पात्र-विकास भी हो उठा था; पात्र जीवन के अनुकूल हो उठे थे, वे आदर्शोन्मुख रहते हुए भी यथार्थ की ओर अग्रसर हो रहे थे। नाटकीय शैली में पाश्चात्य-प्रभाव से हुआ संशोधन स्थिर रूप ग्रहण कर चुका था। बंगाल और फ्रांस के प्रभाव से हिन्दी का कलाकार क्षुब्ध हो रहा था। इस समय बाबू जयशंकर प्रसाद जी हिंदी साहित्य में आये।

'प्रसाद' अत्यन्त प्रतिभाशाली व्यक्ति थे। इन्होंने अपनी कला के प्रखर प्रकाश से द्विजेन्द्र तथा अन्य बंगाली नाटककारों के प्रभाव को एक दम मन्द कर दिया। द्विजेन्द्र में नाटककार की ही प्रतिभा थी जो ऐतिहासिक वृत्ति से बद्धमूल थी। उनकी ऐतिहासिक वृत्ति उतनी शोधोन्मुख नहीं थी, जितनी विशदीकरण की ओर थी। उसमें चित्रण तो था, व्याख्या नहीं थी। 'प्रसाद' में नाटककार की आत्मा तो थी ही, पर कवित्व उससे भी प्रबल था। उसके साथ ही पुरातत्त्वज्ञ की सी खोजवृत्ति भी थी, और व्याख्यावृत्ति का भी उदय उनमें दिखाई देता है। उनके पुरातत्त्वज्ञान ने उन्हें द्विजेन्द्र से अधिक भारतीय मौलिक अवस्था और व्यवस्था को समझने की क्षमता प्रदान की। द्विजेन्द्र जहाँ बंकिमचन्द्र के औपन्यासिक युग के नाटककार बने, भारतीय संस्कृति की सतह के संघर्ष को खोल कर उपस्थित करने वाले; वहाँ प्रसाद ने रवीन्द्र युग की प्रेरणाओं को हिंदी में नाटक के रूप में प्रस्तुत कर दिया, जिसमें उन्होंने रवीन्द्र से भी अधिक ऐतिहासिक विशेषता प्रस्तुत कर दी। प्रसाद की देश-भक्ति ने

सांस्कृतिक चेतना का रूप लिया था। उनके नाटकों में द्विजेन्द्र के पात्र-चित्रण का, जिसमें भावुकता विद्यमान है, रवीन्द्र के दार्शनिक विचारों का, जिनमें चाहे उनकी सी सात्विकता और सुसंबद्धता नहीं; और राखाल वंद्योपाध्याय की अनूठी ऐतिहासिक चित्रकारिता का, जो अच्छे से अच्छे पुरातत्त्व-विशारद को सी ऐतिहासिकता के समकक्ष ठहर सकती है; अभूतपूर्व सम्मिश्रण है। राखाल बाबू के उपन्यासों से अपने नाटकीय कथा-वस्तु के लिए प्रेरणा ले कर अपनी खोज और कल्पना से प्रसाद ने उसे कुछ और ही रूप प्रदान कर दिया। अपनी विलक्षण प्रतिभा और कला से उन्होंने अपने नाटकों में सामयिक अभिव्यंजनावाद के साथ-साथ रहस्यवाद की गहनशीलता का विचित्र चमत्कार दिखाया है।

प्रसाद ने कितने ही नाटक लिखे, जिनमें 'अजातशत्रु', चंद्रगुप्त और 'स्कंदगुप्त' प्रधान हैं। 'ध्रुवस्वामिनी', 'जनमेजय का नागयज्ञ', 'विशाख' और 'राज्यश्री' उनकी रचनाओं में दूसरा स्थान पाते हैं। कुछ छोटे नाटक और हैं। 'कामना' उनका बड़ा नाटक है, पर काल्पनिक है। 'एक घूँट' एकांकी है। प्रायः उनके नाटकों की वस्तु बौद्धकालीन इतिहास से सम्बन्ध रखती है। उनमें बौद्धकाल के उदय, मध्य और अंत तक के चित्र आ गये हैं। किन गुणों से बौद्धधर्म उदय हुआ और चमका वह 'अजातशत्रु' में है। उसके ह्रास-कालीन वृत्ति के चित्र 'स्कंदगुप्त', 'विशाख' और 'राज्यश्री' में मिलते हैं। इन नाटकों के द्वारा भारतीय राजनीति और राज्यव्यवस्था का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक रूप भी उन्होंने प्रस्तुत किया। इसका उत्कर्ष 'चंद्रगुप्त' में सर्वाधिक है। 'जनमेजय का नागयज्ञ' में भारतीय इतिहास के जातीय द्वन्द्व और संघर्ष का चित्र है। उसका अभी समीचीन रूप से अध्ययन नहीं हुआ। उसमें प्रसाद की जातीय संघर्ष की व्याख्या और व्यवस्था है, जो आज भी राजनीतिज्ञों को कुछ सहायक हो सकती है। यथार्थ में प्रसाद के नाटक पात्र-चित्रण या पुनर्निर्माण के चित्र नहीं, वे आज की उन समस्याओं के लिए हल और सुझाव भी देते हैं। किन्तु इतने घोर बौद्धिक युग में भी उन पर बुद्धिमत्ता-पूर्वक विचार नहीं हुआ है। 'ध्रुवस्वामिनी' में स्त्री की समस्या पर प्राचीन इतिहास की क्रांतिकारिणी साक्षी दी गई है। 'एक घूँट' में स्वतन्त्र प्रेम पर व्यंग्य है। 'कामना'

में कवि ने घोर पदार्थवाद के रूप और उसकी देन की कटु आलोचना की है। इस प्रकार इस नाटककार ने युग के साथ युग-युग को समुपस्थित कर दिया है। अतः जहाँ तक कथावस्तु का सम्बन्ध है, यही नाटककार है जिसने हिन्दी नाटक साहित्य को अभिनव-योजना और ऐतिहासिक ठोस आधार पर खड़ा किया।

चरित्रों की सृष्टि में भी प्रसाद जी बड़े सिद्ध दिखाई देते हैं। उन्होंने देवसेना, कल्याणी, अलका जैसे मानवता के गौरव स्वरूप, त्याग, तप और काव्यमय पात्रों की कल्पना की है, तो साथ ही प्रपंचबुद्धि भट्टारक आदि क्रूर षड्यंत्री पात्रों की भी, जो मानवता के अभिशाप कहे जा सकते हैं, रचना की है। सब अपने अपने व्यक्तित्व में पूर्ण हैं—'सुधा सराइय अमरता गरल सराइय मीचु'। सिकन्दर और चंद्रगुप्त जैसे महत्त्वाकांक्षी और दांड्यायन जैसे सांसारिक वैभव की उपेक्षा करने वाले पात्र भी उनके ही नाटकों में मौजूद हैं।

यही पहला नाटककार है जिसने नाटकों का साहित्यिक धरातल अनायास ही ऊँचा कर दिया, और उसमें अध्ययन की सामग्री की प्रचुरता कर दी, भाषा और भाव दोनों का रूप निखार दिया। भावों में रंगीनी, दार्शनिकता और ओज के साथ अभिव्यञ्जनावादी शैली का सौंदर्यमय चमत्कार प्रसाद के संवादों में ही मिलेगा। उन्होंने भाषा को भी उसी के योग्य शक्ति प्रदान कर दी। यही कारण है कि कई आलोचक कहते हैं कि प्रसाद जी की भाषा रंगमंच के योग्य नहीं है। साधारण जन उसे नहीं समझ सकेगा। वास्तव में भाषा की उतनी दुरूहता नहीं है, जितनी भावों की उच्चता है, और उस भाव के धरातल को प्रस्तुत करने में युग की रहस्यवादी टेकनीक को प्रसाद जी ने नाटकों में भी उतार लिया है। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि जब सहृदयों को उनके नाटक इतने प्रिय और इतने आकर्षक लगते हैं, उनमें कोई रंगमंच सम्बन्धी त्रुटि भी दृष्टि-गोचर नहीं होती, तब उनके नाटक में कमी नहीं, रंगमंच ही उसके योग्य नहीं बन सका, यथार्थ में हिन्दी में अपना रंगमंच है ही नहीं। तभी हिंदी में साहित्यिक नाटक की प्रधानता हो गई।

प्रसाद जी ने नाटकीय टेकनीक का एक मार्ग सुनिश्चित कर दिया। हिन्दी के नाटककारों ने बाद में उन्हीं का अनुसरण किया है। अतः ऊँची

कथा के नाटकों का प्रवर्त्तन करने और उनमें मनोवैज्ञानिक चित्रण को प्रधानता देने का श्रेय प्रसाद जी को है । जो कार्य उपन्यासों में प्रेमचन्द ने किया वही प्रसाद ने नाटकों में किया । 'एक घूँट' के द्वारा उन्होंने 'एकांकी' नाटकों का भी विधिवत् सूत्रपात हिन्दी में कर दिया ।

इनके बाद नाटककारों में बौद्धिकता तो विशेष आ गई, पर वह गरिमा और सौंदर्य नहीं आ सका । फलतः नाट्य साहित्य में प्रसाद जी अब भी अद्वितीय ही हैं । बड़े नाटकों के लिए प्रसाद जी के नाटक आज भी आदर्श बने हुए हैं ।

---

३९. ब्रजभाषा और खड़ी बोली

हिन्दी की पाँच मुख्य उपभाषाएँ हैं; राजस्थानी, अवधी, ब्रजभाषा, बुन्देलखंडी और खड़ी बोली । पाँचों ही उपभाषाएँ भिन्न-भिन्न प्रांतों में बोली जाती हैं । यद्यपि प्राचीन चारण तथा मीरा आदि कवियों की कविता में राजस्थानी का पर्याप्त पुट था, और प्रेममार्गी तथा रामभक्त कवियों ने अवधी को अपनाया, पर हिन्दी में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान ब्रजभाषा का रहा और पीछे से खड़ी बोली का हुआ । बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ होने से कुछ काल पूर्व तक तो ऐसा था कि खड़ी बोली गद्य की भाषा थी और ब्रजभाषा पद्य की । उसके पश्चात् बोलचाल और कविता की भाषा का विच्छेद दूर करने के लिए खड़ी बोली में भी कविता होने लगी । इन उपभाषाओं के संबंध में दो मुख्य प्रश्न हैं । पहला ऐतिहासिक, अर्थात् इन दोनों उपभाषाओं की उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से हुई, अथवा एक दूसरी से । और दूसरा है सापेक्षित महत्त्व का, अर्थात् गद्य और पद्य के माध्यम होने के लिए किसकी किस में विशेष क्षमता है ?

ऐतिहासिक विवेचना के पूर्व इनके स्वरूप भेद पर यदि थोड़ा प्रकाश डाल दिया जाय तो अनुपयुक्त न होगा । साधारण जनता की बोलचाल के संबंध से ब्रजभाषा आगरा, मथुरा, एटा और अलीगढ़ के

ऐतिहासिक : जिलों तथा धौलपुर और ग्वालियर राज्यों के कुछ भागों में बोली जाती है और खड़ी बोली देहली, मेरठ, बुलंदशहर

के आसपास बोली जाती है । ब्रजभाषा का केन्द्र मथुरा है और खड़ी बोली का केन्द्र है मेरठ। ब्रजभाषा और खड़ी बोली के रूप में भी अनेक भेद हैं। ब्रजभाषा में पुंल्लिंग संज्ञाएँ, विशेषण और संबंध कारक सर्वनाम ओकारान्त होते हैं, जैसे—घोड़ो, घेरो, छोटो, बड़ो, मेरो, तेरो, हमारो इत्यादि । खड़ी बोली में ये सब आकारान्त होते हैं; जैसे—घोड़ा, घेरा, छोटा, बड़ा, मेरा, तेरा इत्यादि । ब्रजभाषा का बहुवचन बनाने के लिए अंत में 'न' का प्रयोग होता है; जैसे—पंडितन, किताबन, दिनन इत्यादि । खड़ी बोली में बहुवचन सानुस्वार 'ओ' लगने से बनता है, जैसे—पंडितों, किताबों, दिनों । खड़ी बोली में साधारण क्रिया का एक ही रूप होता है; जैसे—आना, जाना, करना । ब्रजभाषा में साधारण क्रिया के तीन रूप होते हैं; एक 'नो' से अंत होने वाला, जैसे—आनो, जानो, करनो, धरनो, इत्यादि; दूसरा 'न' से अंत होने वाला, जैसे—आवन, जावन, लेन, देन; और तीसरा 'बो' से अंत होने वाला जैसे—आइबो, जाइबो, करिबो इत्यादि ।

ब्रजभाषा और खड़ी बोली के कारक चिह्न भी कुछ भिन्न होते हैं । कर्म में ब्रजभाषा में 'को' 'कौ' दोनों होते हैं, खड़ी बोली में केवल 'को' होता है । करण में ब्रजभाषा में 'सौं' और 'तें' का व्यवहार होता है, खड़ी बोली में केवल 'से' का प्रयोग होता है । खड़ी बोली में अपादान कारक में ब्रजभाषा के 'तें' और 'सौं' के स्थान में 'से' होता है । सम्बन्ध कारक में ब्रजभाषा में केवल 'के' का व्यवहार होता है और खड़ी बोली में 'का', 'के', 'की' का प्रयोग होता है ।

बहुत से लोगों को यह भ्रम है कि खड़ी बोली का जन्म ब्रजभाषा से हुआ है । इन भाषाओं की उपर्युक्त भिन्नताएँ ही इस बात की द्योतक हैं कि इनका इतिहास भिन्न है । इन उपभाषाओं का विकास भी प्रायः एक ही काल में हुआ है । खड़ी बोली का सब से पहला रूप अमीर खुसरो (सं० १२६५-१३२१) की कविता में मिलता है । उदाहरणार्थ पतंग की पहेली लीजिए—

एक कहानी मैं कहूँ सुन ले मेरे पूत ।
बिना परों वह उड़ गया, बाँध गले में सूत ॥

इन पर एक दूसरे का प्रभाव अवश्य पड़ा। ब्रजभाषा की उत्पत्ति शौरसेनी अपभ्रंश से तथा खड़ी बोली की उत्पत्ति शौरसेनी तथा पंजाबी और पैशाची के गड़बड़ अपभ्रंश से कही जाती है। खड़ी बोली उर्दू से भी नहीं निकली, क्योंकि इसमें उर्दू से पूर्व कविता होना आरंभ हो गया था। यह बात अवश्य है कि भारत की राजधानी देहली के निकट की भाषा होने के कारण मुसलमानों ने इसको अपनाया और वे लोग इस को सारे भारतवर्ष में फैलाने में सहायक हुए। उन्होंने ही अपने सुभीते के लिए इसमें फारसी और अरबी के शब्दों का समावेश कर इसको उर्दू का रूप दिया। उर्दू में जमीन खड़ी बोली की रही और बेल-बूटे फारसी और अरबी के निकाल दिये गये।

यद्यपि प्रारंभिक काल में खड़ी बोली में कविता बहुत कम हुई, तथापि उसका नितांत अभाव न रहा। अमीर खुसरो, रहीम खानखाना, जटमल और सीतल कवि ने खड़ो बोली में अच्छी कविता की है। मुंशी सदासुखराय, इंशाअल्लाखाँ, लल्लूलाल और सदल मिश्र प्रारम्भिक काल के गद्य-लेखकों में प्रधान हैं।

सापेक्षित महत्त्व

इतिहास ही वस्तु की उपयोगिता वा अनुपयोगिता को सिद्ध कर देता है। समय बड़ी कसौटी है। ब्रजभाषा में गद्य लिखा गया किंतु उसकी बेल बढ़ी नहीं। थोड़ी ही बढ़ कर मुरझा गई। गोस्वामी गोकुलनाथ जी की वैष्णव वार्त्ताओं और टोकाओं से अधिक उसका विस्तार न हुआ। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि जब वैष्णव वार्ताएँ लिखी गईं तब गद्य का युग न था, तथापि जब गद्य का युग आया तब भी वह गद्य के लिए न अपनाई गई।

साधारण भावों के प्रचार के लिए ब्रजभाषा में प्रान्तीयता थी। उसका कारोबार से सम्बन्ध नहीं रहा। उसमें व्यापार और व्यवहार के संस्कार नही बने। बोलचाल की भाषा के रूप में खड़ी बोली का क्षेत्र अधिक व्यापक हो गया था। यह सब होते हुए भी ब्रजभाषा में कविता की बेल खूब फली-फूली। ब्रजभाषा में कविता की भाषा होने की योग्यता थी। उसके शब्दों में माधुर्य था, अनुप्रास था। 'माय री साँकरी गली में पायँन काँकरी चुभति है

वाले पनघट की पनिहारी के वाक्यों ने फारस के कवि को आश्चर्य-चकित कर दिया था। कृष्ण-काव्य के लिए तो वह विशेष रूप से उपयुक्त थी। शृंगार और वात्सल्य के लिए जितने माधुर्य की आवश्यकता है वह उसमें भरपूर है। इसमें जो लालित्य है वह खड़ी बोली के वर्णन में नहीं आ सकता।

विनय और दीनता के लिए भी व्रजभाषा बड़ी उपयुक्त है। 'सूरदास द्वारे ठाड़ो आँधरो भिखारी' की सी दीनता और किसी भाषा में मुश्किल से मिलेगी। दैन्य तथा शृङ्गार और वात्सल्य के कोमल भावों के लिए अवधी के भक्त गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी दोनों गीतावलियों और विनयपत्रिका में व्रजभाषा को ही अपनाया था। सूफी कवियों ने भी अपनी आध्यात्मिक कविता में लालित्य लाने के लिए व्रजभाषा के 'पिया' 'दरस' आदि शब्दों को अपनाया।

खड़ी बोली वास्तव में खड़ी है, उसमें एक प्रकार की उद्दण्डता, दृढ़ता, व्यापकता और कठोरता के व्यावहारिक गुण हैं, इसलिए उसका व्यवहार की भाषा होना निर्विवाद है। गद्य की साहित्यिक भाषा खड़ी बोली ही है। इसी रूप में इसने राष्ट्र-भाषा-पद पाया है। अब प्रश्न यह है कि खड़ी बोली कविता की भाषा बन सकती है या नहीं ? खड़ी बोली कविता की भाषा होनी चाहिए इस बात में बहुत कम मतभेद है; जहाँ तक हो सके गद्य और पद्य एक ही भाषा में होना उपयुक्त है। परन्तु खड़ी बोली कविता की भाषा हो सकती है इसमें मतभेद के लिए काफी स्थान है। एक दल तो इसको बिलकुल नीरस मानता है और एक दल का मत है कि जो होना चाहिए वह हो सकता है। जो उचित है, करणीय है, वह शक्य भी है। यह बात अवश्य है कि व्रजभाषा में जो लोच और लचक है वह खड़ी बोली में नहीं। व्रजभाषा के कवि को शब्दों की तोड़ मरोड़ और रूपान्तर करने की अधिक क्षमता रहती है, खड़ी बोली में ऐसा करना खटकता है, किन्तु खड़ी बोली नितान्त लालित्य-रहित नहीं है।

रहीम ने मालिनी छन्द में बड़ी लालित्यमयी रचना की है और वे खड़ी बोली में संस्कृत छन्दों के प्रयोग के एक प्रकार से पथप्रदर्शक बने हैं। इसको मान लेने का यह अर्थ नहीं है कि खड़ी बोली में सभी प्रकार की कविता

हो सकती है। कविता के लिए कुछ गौरवशालिनी भाषा की आवश्यकता है। भावों की जाग्रति के लिए कुछ ऐसे मँजे हुए शब्दों की आवश्यकता है जिनके पीछे इतिहास लगा हो। अब भाषा को गौरवशालिनी बनाने के लिए लोग प्रायः संस्कृत के शब्दों का प्रयोग करते हैं। कोई कोई क्रियाएँ खड़ी बोली की और शब्द व्रजभाषा के रखते हैं। संस्कृत और व्रजभाषा के शब्द जब तक उचित मात्रा में रहते हैं तब तक तो माधुर्य के वर्धक होते हैं; किन्तु 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का नियम यहाँ पर भी लागू होता है। उस उचित मात्रा को निर्धारित करने में ही कवि का कौशल है। इस प्रकार खड़ी बोली जनता की व्यापक भाषा होने के कारण कविता की भाषा बनने का अधिकार रखती है और यदि शब्दों का चुनाव अच्छा किया जाय तो वह अधिकार भली प्रकार निभाया जा सकता है, और आजकल अधिकांश कवियों ने निभाया भी है। श्री सुमित्रानन्दन पंत की निम्नलिखित कविता व्रजभाषा के सर्वश्रेष्ठ मधुर उच्चारण वाली रचनाओं से टक्कर ले सकती है—

> पावस ऋतु थी, पर्वत-प्रदेश; पल पल परिवर्तित प्रकृति वेश
> मेखलाकार पर्वत अपार, अपने सहस्र दृग सुमन फाड़
> अवलोक रहा है बार बार; नीचे जल में निज महाकार—
> जिस के चरणों में पला ताल, दर्पण सम फैला है विशाल।

---

४०. मातृभाषा का महत्त्व

जिस भाषा को मनुष्य स्वाभाविक अनुकरण द्वारा बाल्यकाल से सीखता है उसे हम उसकी मातृ-भाषा कहते हैं। इसी बात को हम दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि जिस भाषा को हम माता की गोद में सीखते हैं वही हमारी मातृभाषा है।

मातृभाषा शब्द में माता शब्द को अधिक महत्त्व दिया गया है और यह उचित भी है। यद्यपि हमारे जन्म का कारण माता और पिता दोनों ही हैं तथापि हमारे शरीर में अधिकांश भाग माता का होने से एवं उसके द्वारा

हमारा भरण पोषण होने के कारण माता की ही महत्ता है। इसीलिए जन्मभूमि को भी मातृभूमि कहते हैं, पितृभूमि नहीं कहते (अमेरिका, जर्मनी, रूस आदि देशों में चाहे जो कुछ हो, किन्तु भारतवर्ष में ऐसा नहीं कहते)। भारतवर्ष में माता शब्द को बड़ा पवित्र माना गया है। माता शब्द में एक साथ स्नेह, आदर और आश्रयदातृत्व के भाव लगे हैं। माता शब्द के सुनते ही इन भावों की जाग्रति हो जाती है और एक आनन्द का अनुभव होने लग जाता है। मातृभाषा के साथ भी यही भाव लगे हुए हैं।

हमारा प्रारंभिक ज्ञान मातृभाषा द्वारा ही होता है और हम अपने भावी ज्ञान को भी, वह हमें चाहे जिस भाषा द्वारा प्राप्त हो, मातृभाषा द्वारा प्राप्त किये हुए ज्ञान के आलोक में ही देखते हैं। मातृभाषा हमारे बाल्यकाल की भाषा होने के कारण हमारे मानसिक संस्थान का अंग बन जाती है। मनुष्य चाहे जितना विदेशी रंग में रँगा हो किन्तु सच्चे हर्ष और घोर विपत्ति के अवसर पर वह मातृभाषा में ही बोलता है। कहा जाता है कि एक जासूस को किसी विशेष व्यक्ति की जाति और जन्मभूमि का पता नहीं चलता था। इस समस्या को हल करने के लिए उसने अपने गुरुदेव की शरण ली। उन्होंने सलाह दी कि रात्रि को जब वह व्यक्ति घर लौटता हो उसकी पीठ में अचानक एक घूँसा मारना और देखना कि वह किस भाषा में बोलता है। जिस भाषा में वह अपने आहत होने का भाव प्रकाशित करे उसी को उसकी मातृभाषा समझना। इस कथा में बहुत कुछ मनोवैज्ञानिक तथ्य है। भय हमको अपने स्वजनों की ओर खींचता है। हमारी मातृभाषा के साथ आत्मरक्षा के भाव लगे हुए हैं। जिस समय हमारी आत्मरक्षा का संकटमय अवसर आता है हम प्रायः अपनी मातृभाषा का ही प्रयोग करते हैं।

मातृभाषा के साथ हमारे बाल्यकाल की मधुर स्मृतियाँ जुड़ी होती हैं, इस कारण वह बड़ी मनोहर मालूम होती है, उसे बोलने और सुनने के लिए हमारे मुख और कान की पेशियाँ अभ्यस्त हो जाती हैं, और उसके उच्चारण वा श्रवण में हमको न्यूनातिन्यून प्रयास ही नहीं पड़ता वरन् एक प्रकार का अपूर्व सुख प्राप्त होता है। जो आनन्द हमको अपनी मातृभाषा के गायन में

आता है वह किसी दूसरी भाषा के गायन में नहीं आता।

मातृभाषा के शब्दों में हमारी जातीय संस्कृति का इतिहास छिपा रहता है। उसके द्वारा हम अपने घरवालों और जातिवालों के साथ एक सम्मिलित सूत्र में बँध जाते हैं और हम उनके हृदय तक अपनी बात पहुँचा सकते हैं। जिस प्रकार तिलक छाप आदि बाह्य चिह्न धार्मिक समूहों को संगठित रखने में सहायक होते हैं उसी प्रकार मातृभाषा अपने व्यवहार करने वालों में एक अलक्षित प्रेम-भाव उत्पन्न कर देती है। मातृभाषा का प्रचार जातीय गौरव को बढ़ाता है। उस का व्यवहार करते हुए हम को यह अनुभव होने लगता है कि हमारी कुछ निजी संपत्ति है। मातृभूमि से हमको बांधे रखने तथा "जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी" का भाव उत्पन्न करने में भी मातृभाषा विशेष रूप से सहायक होती है। मातृभाषा द्वारा शिक्षितों-अशिक्षितों और गरीबों तथा अमीरों के बीच का अन्तर मिट जाता है। जब हम अपनी मातृभाषा में बात-चीत करने लग जाते हैं तब अपने लोगों को अपने मालूम होने लगते हैं। उनके साथ हमारा सहकारिता का भाव बढ़ जाता है। आजकल जो विचार और क्रिया में विच्छेद है वह मातृभाषा का समुचित आदर न होने के कारण ही है। विचार पढ़े लिखे लोगों के हाथ में है जो प्रायः मातृभाषा से विमुख रहते हैं और क्रिया प्रायः मातृभाषा-भाषी अनपढ़ों के हाथ में है। इसी विचार और क्रिया के विच्छेद के कारण बहुत सी सामाजिक सुधार संबंधिनी योजनाएँ निष्फल हो जाती हैं।

भारतवर्ष में जो मौलिकता का अभाव है उसका बहुत कुछ कारण भी यही है कि हमारी शिक्षा का माध्यम हमारी मातृभाषा नहीं है। हम विचार और किसी भाषा में करते हैं और शिक्षा दूसरी भाषा में। इसलिए हमारी शिक्षा हमारे मानसिक संस्थान का अंग नहीं बनने पाती। इसीलिए वर्तमान शिक्षा द्वारा प्राप्त ज्ञान फलता-फूलता नहीं है। उस ज्ञान का अपने देश-भाइयों को भी हम लाभ नहीं दे सकते। ज्ञान मनन से बढ़ता है और मनन के लिए पारस्परिक आदान-प्रदान आवश्यक है। यह आदान-प्रदान और विचार-विनिमय जितना व्यापक मातृभाषा द्वारा हो सकता है उतना दूसरी भाषा द्वारा नहीं।

हर्ष की बात है कि सिद्धान्ततः मातृभाषा का महत्त्व स्वीकार कर लिया गया है। राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं को उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने के प्रयत्न किये जा रहे हैं। यह देश के लिए शुभ लक्षण है। अभी अध्यापकों का अँग्रेजी के माध्यम से पढ़ाने का अभ्यास नहीं छूटा है, किन्तु अब वह धीरे-धीरे छूट जायगा और नये संस्कार बन जायेंगे। उपयुक्त साहित्य भी तैयार हो रहा है। इसके प्रस्तुत हो जाने पर मातृभाषा द्वारा अध्ययन में कठिनाई न होगी।

मातृभाषा माता के दूध के समान पवित्र और स्वास्थ्यवर्धक है, माता के समान ही हमारी गुरु है और उसी के समान स्नेहमयी है।

मातृभाषा का व्यवहार ज्ञान के विस्तार तथा उसमें मौलिकता उत्पन्न करने में एवं जातीय जीवन की वृद्धि में सबसे अधिक सहायक होता है। मातृभाषा की उन्नति सब प्रकार की उन्नति का मूल है, क्योंकि भाषा की उन्नति के साथ विचार में स्पष्टता आती है और विचार की वृद्धि होती है। विचार ही सारी क्रियाओं का मूल-स्रोत है। यदि विचार में शक्ति और स्पष्टता है, तो हमारी क्रियाओं का प्रवाह अकुंठित रूप से बहता रहेगा और हम उत्तरोत्तर उन्नति करते जाएँगे।

---

४१. राष्ट्रभाषा का स्वरूप

बहुत वाद-विवाद के पश्चात् हिन्दी राजभाषा घोषित हो चुकी है। यद्यपि उसको अपना कार्यभार पूर्णरूपेण सम्हालने में देर है और उसको १५ वर्ष के पश्चात् तिथि वाली चैक (Post-dated cheque) मिली है तथापि अब उसकी और किसी भाषा से प्रतिद्वन्द्विता का प्रश्न नहीं रहा। उसका अधिकार निर्विवाद है। उसका यह नैतिक अधिकार क्रमशः व्यवहार की वास्तविकता में परिणत होता जायगा। अंग्रेजी हमारी राज-भाषा थी किन्तु राष्ट्र-भाषा न बन सकी। हिन्दी के लिए ऐसी बात नहीं है। वह देश की ही भाषा है। उसका देश में ही विकास हुआ है और उसका देश की प्रायः सभी

भाषाओं से सम्बन्ध है। हिन्दी बहुत अंश में राजभाषा बनने से पूर्व ही राष्ट्र-भाषा बन चुकी थी। अब उस पर राजकीय मुहर छाप भी लग गई है।

राष्ट्रभाषा के स्वरूप पर विचार करने से पूर्व हमको राष्ट्रभाषा की आवश्यकताएँ जान लेनी चाहिएँ। वे इस प्रकार हैं :—

१. उस भाषा को देश के अधिकांश निवासी बोलते हों। यदि बोलते न भी हों तो उस भाषा का देश की अन्य भाषाओं से घनिष्ठ पारिवारिक सम्बन्ध हो। उसमें भविष्य के लिए अधिक व्यापक होने की सम्भावना हो।

२. वह सरल हो।

३. उस भाषा में राजनीतिक, शिक्षा-सम्बन्धी, धार्मिक और सामाजिक व्यवहार के संचालन की क्षमता हो।

४. वह देश की संस्कृति और सभ्यता की परिचायक हो।

हिन्दी इन सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करती है और पूरी करने की क्षमता रखती है। और सब आवश्यकताओं की तो वह अपने स्वभाव और संगठन से पूर्ति करती ही है किन्तु तीसरी आवश्यकता की पूर्ण पूर्ति में कुछ न्यूनता समझी जा सकती है। तीसरी आवश्यकता की कमी के लिए हिन्दी दोषी नहीं वरन् वे लोग दोषी हैं जो देश के भाग्य-विधाता थे और जिन्होंने उसे राजनीतिक और शिक्षा सम्बन्धी क्षेत्रों में पनपने का अवसर नहीं दिया। बिना पानी में पैर दिये तैरना नहीं आता। भाषा की शब्दावली इतनी गढ़ी नहीं जाती जितनी कि व्यवहार में विकसित होती है; फिर भी तात्कालिक व्यवहार के लिए भी कुछ प्रारम्भिक सामग्री होनी चाहिए। उस सामग्री की तैयारी हो रही है और उसका प्रयोग में आना प्रारम्भ भी हो गया है। प्रयोग ही शब्दा-वली को परिमार्जित और चलन योग्य बनायेगा।

हमारी राष्ट्रभाषा के दो रूप हैं; एक जन साधारण के व्यवहार की भाषा का और दूसरा राजकाज तथा शिक्षा की भाषा का। यद्यपि इन दोनों रूपों में विशेष अन्तर नहीं है और न होना चाहिए तथापि इनमें कुछ भिन्नता का होना स्वाभाविक है। जन साधारण के व्यवहार की भाषा सरल से सरल बनाई जा सकती है। यद्यपि प्रान्तों में पारस्परिक व्यवहार स्थानीय भाषाओं में ही

चलता रहेगा तथापि कुछ ऐसे सार्वजनिक कार्य हैं—जैसे कि नेताओं और उच्चपदाधिकारियों के भाषण, महत्त्वपूर्ण निर्माण-कार्य सम्बन्धी सिनेमा फिल्में, यात्रियों के पारस्परिक विचार विनिमय तथा अन्तर्प्रान्तीय व्यापार—जिनके लिए प्रान्तों में जनसाधारण के लिए भी राष्ट्रभाषा का चलता ज्ञान वांछनीय होगा। राजकाज, विशेष कर केन्द्रीय राजकार्य, से परिचित रहने के लिए और उच्च शिक्षा की पुस्तकों से लाभान्वित होने के अर्थ राष्ट्रभाषा की विशेष आवश्यकता होगी। अब हम दोनों रूपों पर पृथक् पृथक् विचार करेंगे।

पहले हम जन साधारण के व्यवहार की राष्ट्रभाषा के रूप पर विचार करेंगे। सरलता इसका विशेष गुण होना चाहिए। यद्यपि तद्भव शब्द तत्सम शब्दों से सरल होते हैं तथापि अन्तर्प्रान्तीय व्यवहार के लिए तत्सम शब्दों का या उन तद्भव रूपों का, जो तत्सम के निकटतम हों व्यवहार वांछनीय होगा क्योंकि तत्सम शब्दों का सब भाषाओं में प्रायः एक सा रूप रहता है। तद्भव रूप भिन्न भिन्न प्रान्तों में अलग अलग होता है। तत्सम शब्दों में कुछ सरल और प्रचलित होते हैं और कुछ क्लिष्ट और अप्रचलित। (हमको सरल और प्रचलित शब्दों को ही यथासम्भव अपनाना चाहिए)। उर्दू के शब्द जो हिंदी में विशेष चलन पा गये हैं, जैसे हलवाई, बाजार, पुल, शीशा, शीशी, चमचा, चश्मा, असबाब, सामान, तकल्लुफ, डाकखाना, तमाशा, हाल, मिसिल, अर्जी, पुर्जा, परवाह, गन्दा, गरज, गरीब, जागीर, इमारत, गर्दन, गिरवी, जगह, जमीन आदि सहज में भाषा से निकाले नहीं जा सकते। इनमें से कुछ तो दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में भी, जैसे गुजराती, बँगला, मराठी आदि भाषाओं में, व्यवहृत होते हैं। ऐसे शब्दों को तो हमें अपनी भाषा में स्थान देना ही पड़ेगा। यही हाल अंग्रेजी के प्रचलित शब्दों का भी है, किन्तु उनका अनावश्यक प्रयोग वांछनीय नहीं है। 'मैं ईवनिंग में डेली वाक करने जाता हूँ' अथवा 'वह स्टडीज़ में इतना एबसौर्ब्ड रहता है कि अपनी बौडी की एबसोल्यूटली कोई केयर ही नहीं करता" ऐसी भाषा राष्ट्रभाषा के लिए गौरव का विषय नहीं हो सकती। जो शब्द चलन में आ गये हैं उनमें से भी हमें आवश्यक शब्द लेने चाहिएँ और उनको अपनी भाषा के ढाँचे में

ढाल लेना वांछनीय होगा। दूसरी भाषा के शब्दों के अपनाने में हमको सदा यह ध्यान रखना चाहिए कि हम अपनी भाषा की प्रकृति के विरुद्ध न चले जायँ। विदेशी शब्दों के अतिरिक्त हमें अन्य प्रान्तीय भाषाओं के शब्दों को भी जो हमारी भाषा में घुल मिल सकें और जो किसी विशेष भाव को व्यक्त करने के लिए उपयुक्त हों अपनाना चाहिए जिससे कि दूसरे प्रान्त वालों को भी यह गौरव का अनुभव हो सके कि उनकी भाषाएँ राष्ट्रभाषा के निर्माण में योग दे रही हैं। राष्ट्रभाषा केवल हिन्दी भाषियों की ही नहीं वरन् सारे देश की है। अन्य प्रान्तवालों को अपनाने के लिए हमें अपने व्याकरण के नियमों की कड़ाई की किसी अंश में उपेक्षा करनी पड़ेगी। हम यह तो नहीं चाहते कि वह टकसाली भाषा से गिर जाय किन्तु उसको संस्कृत की भाँति अगतिशील न बना देना चाहिए। अपनी भाषा के साहित्य में हमको अन्य प्रान्तों से सम्बन्ध रखने वाली प्राकृतिक दृश्यावलियों, वीर-गाथाओं और परम्पराओं को भी स्थान देना चाहिए जिससे कि अन्य प्रान्त वाले हमारी भाषा के साथ अपनत्व का अनुभव कर सकें।

राजकाज और उच्च शिक्षा सम्बन्धी कार्यों की भाषा अपेक्षाकृत कुछ कठिन होगी। किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि वह लोकभाषा से दूर पड़ जाय और बिलकुल दूसरी भाषा सी जान पड़े। पारिभाषिक शब्दावली का सारे देश के लिए प्रमाणीकरण आवश्यक है क्योंकि जब तक हमारी शब्दावली सारे देश में न समझी जायगी तब तक न तो वैज्ञानिक क्षेत्रों में सहकारिता ही सम्भव हो सकेगी और न विद्यार्थी ही यथोचित लाभ उठा सकेंगे। पारिभाषिक शब्दावली के निर्माण में हमको नीचे लिखी बातों का ध्यान रखना चाहिए।

१. पारिभाषिक शब्दावली का आधार अधिकतर संस्कृत तत्सम शब्द होने चाहिएँ। संस्कृत शब्दों में प्रत्यय लगा कर उनको विभिन्न रूप सुविधा के साथ दिये जा सकते हैं। यह सुविधा साधारण भाषा में कम रहती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि साधारण भाषा के जो शब्द व्यवहार में आ निकले हैं, जैसे बिजली के गरम और ठंडे तार, उनका नितान्त बहिष्कार कर दिया जाय। हमको मजदूरों की भाषा को भी मान देना आवश्यक होगा क्योंकि विज्ञान को

व्यावहारिक बनाने के लिए सिद्धान्त और व्यवहार के बीच की खाई को कम करना पड़ेगा।

२. पारिभाषिक शब्दों को गढ़ने की अपेक्षा वर्तमान साहित्य में प्रचलित शब्दों का प्रमाणीकरण अधिक श्रेयस्कर होगा। जो वैज्ञानिक साहित्य हिन्दी तथा अन्य प्रान्तीय भाषाओं में रचा जा चुका है उसको हमें एकदम निरर्थक नहीं बना देना है। जनता उन ग्रन्थों की शब्दावली से किसी अंश में परिचित भी हो चुकी है। इसके लिए हमें न केवल हिन्दी के ही वैज्ञानिक ग्रन्थों का अवलोकन करना होगा वरन् अन्य प्रान्तीय भाषाओं का भी पुस्तक भण्डार खोजना पड़ेगा।

३. तर्क शास्त्र, राजनीति शास्त्र, गणित, ज्योतिष आदि विज्ञानों की शब्दावली हमको यथासम्भव प्राचीन ग्रन्थों से लेनी चाहिए क्योंकि उनमें इन शास्त्रों से सम्बन्धित बहुत-कुछ मूल्यवान ज्ञान वर्तमान है।

४. वैज्ञानिक शब्दावली को चलन देने से पूर्व प्रयोग में भी ला कर देख लेना चाहिए कि वह प्रयोग में कहाँ तक उपयुक्त बैठती है?

५. हमको नये शब्दों के अनोखेपन से न घबराना चाहिए। शब्द प्रचलित हो जाने पर वे अजनबी नहीं रहते और उनकी विरूपता भी अभ्यास के कारण सुडौल बन जाती है। अंग्रेजी शब्दों के भी शाब्दिक अर्थ विचित्र होते हैं किन्तु चलन उनमें नये रूढ़िगत अर्थ उत्पन्न कर देता है।

शब्द-निर्माण किसी व्यक्ति विशेष के बस का काम नहीं है। इसके लिए बड़ी समितियों के बनाने की आवश्यकता है। इन समितियों में विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं का प्रतिनिधित्व होना चाहिए। हमको यह भी देखना चाहिये कि ये शब्द-कोश केवल अलमारी की शोभा ही न रहें। प्रत्येक भाषा में उनका उपयोग हो और उनके आधार पर वैज्ञानिक साहित्य का निर्माण हो।

सक्षेप में हम यह कह सकते हैं कि हमारी राष्ट्रभाषा को, चाहे वह जन-साधारण के व्यवहार की हो और चाहे वह राजकीय और शिक्षासम्बन्धी व्यवहार की हो, गतिशील होना चाहिये। उसको विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं से सम्पर्क स्थापित करना चाहिये और बिना अपनी संस्कृति और प्रकृति के विरुद्ध गये दूसरी भाषा

के शब्दों को अपनी प्रकृति के अनुकूल चोला पहना कर अपनाना चाहिए। राजकीय और शिक्षा सम्बन्धी कार्यों के लिए उसे संस्कृत के तत्सम शब्दों का अधिक सहारा लेना पड़ेगा। फिर भी उसे दुरूहता से बचाना हमारा कर्तव्य होगा। राष्ट्रभाषा का क्षेत्र जितना व्यापक होगा उतना ही उसे दूसरी भाषाओं के साथ समझौता करना पड़ेगा। किन्तु इतना ध्यान रखना होगा कि इस समझौते में वह अपना असली रूप न खो दे।

---

४२. देवनागरी लिपि की श्रेष्ठता और उसकी कुछ न्यूनताएँ

राष्ट्र में एकसूत्रता स्थापित करने के अर्थ जाति, संस्कृति और धर्म की एकता की अपेक्षा सामूहिक हित और भाषा की एकता अत्यन्त आवश्यक है। भारतवर्ष में हितों की एकता प्रायः है ही और किसी अंश में सांस्कृतिक एकता भी है; हिन्दुओं में तो सांस्कृतिक एकता है ही, किन्तु मुसलमानों की भी बहुत सी सांस्कृतिक बातें हिंदुओं से मिलती जुलती हैं, जैसे जमीन पर बैठना, हाथ से खाना, नमाज के पहले हाथ पैर धोना तथा जूते उतार कर मस्जिद में जाना। किंतु भाषा का भेद अधिक है।

सांस्कृतिक भेद होते हुए भी एक राष्ट्र-भाषा का होना सुलभ है। जब भिन्न-भिन्न प्रांतों के लोग अंग्रेजी जैसी विदेशी भाषा के द्वारा विचार-विनिमय कर सकते हैं, तब हिंदी जैसी व्यापक स्वदेशी भाषा द्वारा विचारों का आदान-प्रदान कोई असम्भव बात नहीं। हिन्दी और उर्दू में भाषा का विशेष भेद नहीं; सरल हिंदी और सरल उर्दू करीब-करीब एक रूप हो जाती हैं, भेद केवल लिपि का रह जाता है। गुजराती, बँगला, मराठी, पंजाबी आदि की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तो एक ही है और उनकी वर्णमाला भी प्रायः एक सी है, किंतु उनमें भी लिपि का भेद बहुत कुछ अन्तर डाले हुए है। यदि लिपि का भेद मिट जाय तो इन भाषाओं का करीब-करीब चालीस या पैंतालीस

प्रतिशत और कहीं-कहीं उस से भी अधिक अंश समझ में आने लगे। उदाहरण के लिए शरद् बाबू के 'पल्ली समाज' से एक अवतरण उसके हिन्दी अनुवाद के साथ दिया जाता है। अनुवाद के बिना भी देवनागरी अक्षरों में लिखे हुए बँगला के वाक्य बहुत कुछ समझ में आ जाते हैं।

'एई कुँयापुरेर विषयटा अर्ज्जित हइबार सम्बन्धे एकटा इतिहास आछे, ताहा एखाने बोला आवश्यक। प्रायः शत वर्ष पूर्वे महाकुलीन बलराम मुखुय्ये (मुखुज्जे) ताँहार मित्र बलराम घोषाल के सङ्गे करिया विक्रमपुर हइते एदेशे आशेन। मुखुय्ये शुधू कुलीन छिलेन ना, बुद्धिमान ओ छिलेन।'

'इस कुआँपुर गाँव की जायदाद (विषय शब्द संस्कृत में जायदाद के अर्थ में आता है) की कमाई के (अर्ज्जित हइबार, अर्ज्जित भी संस्कृत शब्द है) सम्बन्ध में एक इतिहास है, जो यहाँ देना आवश्यक है। प्रायः सौ वर्ष पहले महाकुलीन बलराम मुखर्जी अपने मित्र बलराम घोषाल को साथ लेकर (सङ्गे, इसको हिन्दी वाले सहज में समझ सकते हैं) विक्रमपुर से यहाँ (एदेशे) आये थे। मुखर्जी केवल (शुधू) कुलीन ही नहीं थे वरन् बुद्धिमान भी थे।' गुजराती, पंजाबी और मराठी से भी ऐसे ही उदाहरण दिये जा सकते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि लिपि का प्रश्न कितने महत्त्व का है।

राष्ट्रलिपि के सम्बन्ध में हिन्दी उर्दू का झगड़ा मिटाने के लिए कुछ लोग रोमन लिपि की शरण लेना चाहते हैं। इस प्रकार देवनागरी लिपि के मुकाबले में फारसी लिपि, जिसको उर्दू ने अपनाया है, और रोमन लिपि, जिसको अंग्रेजी ने अपनाया है, प्रतिद्वन्द्विता में आती हैं। यहाँ पर दो प्रश्न हैं, एक वर्णमाला का और दूसरा लिपि का।

संस्कृत से निकली हुई सभी प्रांतीय भाषाओं की वर्णमाला एक सी है। रोमन और फारसी लिपि की अपेक्षा वे लोग देवनागरी लिपि को सुगमता के साथ अपना सकते हैं। इसके अतिरिक्त ध्वनियों का संबंध भाषा से है। देश के लोगों के मुखावयवों की बनावट और उच्चारण शक्ति के ही अनुकूल वर्णमाला का विकास होता है। फारसी और रोमन लिपियों का जन्म इस देश की भाषाओं की आवश्यकताओं के अनुसार नहीं हुआ था। इसके अतिरिक्त

वे देवनागरी वर्णमाला की अपेक्षा विकास क्रम में कहीं पीछे हैं और वे इतनी वैज्ञानिक भी नहीं हैं।

वर्णमाला वही विकसित समझी जायगी जिसमें ध्वनियाँ विश्लिष्ट हों, अर्थात् जिसमें एक ध्वनि के साथ और ध्वनियाँ न मिली हों, एक ध्वनि के लिए एक ही वर्ण हो और एक वर्ण एक ही ध्वनि का द्योतक हो। शब्दों से ही वर्ण निकले हैं। कमल, ककड़ी, कटहल, कठपुतली, कबूतर आदि शब्दों में से, 'क' की ध्वनि, जो सब में शामिल है, अलग हुई होगी। संस्कृत वर्णमाला ही ऐसी वर्णमाला है जिसमें ध्वनियाँ बिलकुल अलग हो गई हैं। फारसी तथा रोमन लिपियों में एक ध्वनि के साथ कई ध्वनियाँ मिली रहती हैं और उनमें यह भी नहीं पता चलता कि पहली ध्वनि प्रधान है या दूसरी। फारसी लिपि में 'अ' को 'अलिफ' से लिखते हैं। 'अलिफ' में आखिरी 'अ' के अतिरिक्त चार ध्वनियाँ हैं, अ+ल्+इ+फ्। 'ज' को 'जीम' से लिखा जाता है, 'ब' को 'बे' से और 'ल' को 'लाम' से। इन तीनों व्यंजनों में भिन्न-भिन्न स्वरों और व्यञ्जनों का सहारा लिया गया है, 'जीम' में 'ई' और 'म' का, 'बे' में ब के साथ 'ए' का और 'लाम' में ल के साथ 'आ' और 'म' का। अलिफ, बे, जीम यूनानी एल्फा, बीटा, गामा के ही रूपान्तर हैं। 'दाल' में 'द' के साथ 'आ' और 'ल' हैं। यह यूनानी डेल्टा का दूसरा रूप है। अंग्रेजी में इसके अनुरूप डी D है। 'स्वाद', 'ज़्वाद', 'ते' आदि सब की अलग-अलग बनावट है। इस प्रकार फारसी लिपि, और रोमन लिपि भी, उस प्रारम्भिक अवस्था में ही हैं जिसमें ध्वनियों का पूरा विश्लेषण नहीं हुआ।

हम संस्कृत की वर्णमाला की सी एकसूत्रता इनमें नहीं देखते। संस्कृत के व्यञ्जनों के उच्चारण में स्वर का सहारा लिया जाता है, लेकिन वह सिर्फ 'अ' है जो वर्णमाला का पहला अक्षर है। फारसी लिपि में एक ध्वनि के लिए कई वर्णों का प्रयोग होता है। 'त' के लिए 'ते' और 'तोये', 'स' के लिए 'सीन', 'स्वाद' और 'से' का प्रयोग होता है।

इसके अतिरिक्त जहाँ 'स' और 'त' के लिए इतनी भरमार है वहाँ य, ए और ई के लिए केवल 'ये' है और 'ओ' तथा 'औ' के लिए 'अलिफ' और

'वाव' से काम लिया जाता है जो 'अव' की भी ध्वनि देता है। 'अवध' को ओध, औध और अवध तीनों ही पढ़ सकते हैं।

रोमन वर्णमाला के संगठन में भी सिद्धान्त की एकता नहीं है। P (पी), Q (क्यू), R (आर), S (एस), T (टी), W (डब्ल्यू) आदि सभी का संगठन भिन्न भिन्न है। P में 'प' के लिए 'ई' की सहायता ली गई है, R में 'आ' की और S में 'ए' की। रोमन वर्णमाला में तो और भी गड़बड़ी है। H, R, S, L, M, N में आखिरी ध्वनि की प्रधानता है और P, K, G, B, D, T, V आदि में पहली ध्वनि को मुख्यता दी गई है।

रोमन वर्णमाला में भी एक ही ध्वनि के लिए कई वर्णों का प्रयोग होता है। क के लिए K और C दोनों का प्रयोग होता है, ज के लिए G और J दोनों ही काम में आते हैं। C स की भी ध्वनि देता है और क की भी। इसी प्रकार G ज की भी और ग की भी। इसके अतिरिक्त C और G की ध्वनियों का क और ग की ध्वनि से कोई सम्बन्ध नहीं है। रोमन की जो अन्तर्जातीय लिपि बनी है उसमें ध्वनियाँ कुछ व्यवस्थित हो गई हैं। एक ध्वनि के लिए एक ही वर्ण निश्चित कर दिया गया है। रोमन लिपि के स्वर भी एक सी ध्वनि नहीं देते। A की ध्वनि जो Man (मैन) में है वह Car (कार) में नहीं है। ई की ध्वनि Net (नेट) में तो Men (मेन) की सी है किन्तु Jerk (जर्क) और Clerk (क्लर्क) में अ की सी है। U की ध्वनि Put (पुट) में तो उ की है और But (बट) में अ की। सारांश यह कि रोमन लिपि में ध्वनियों की निश्चितता नहीं है।

रोमन और फारसी लिपियों में कोई क्रम भी नहीं है। इतना भी नहीं कि स्वर एक जगह हों और व्यञ्जन एक जगह। इसके विपरीत संस्कृत वर्णमाला में स्वर और व्यञ्जनों को ही अलग नहीं किया गया वरन् वर्णों को उच्चारण-स्थान के स्वाभाविक क्रम के अनुकूल वर्गों में विभाजित किया गया है। पहले कंठ, तालु, मूर्धा, दाँत और ओष्ठों के स्वाभाविक क्रम से कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग और पवर्ग पाँच वर्ग किये गये हैं। इन वर्गों में भी एक सा ही क्रम है; दूसरे और चौथे वर्ण महाप्राण हैं, अर्थात् उनमें 'ह' का योग रहता है, जैसे

ख, घ, छ, भ। पाँचवाँ वर्ण सभी का अनुनासिक होता है। वर्गों का क्रम भी मुखावयवों के क्रम के अनुकूल है। कंठ्य वर्ण पहले आते हैं, दन्त्य त थ आदि और औष्ठ्य प फ ब आदि पीछे आते हैं। ऐसा सुन्दर वैज्ञानिक क्रम और किसी वर्णमाला में नहीं मिलेगा। इस वर्णमाला में एक ध्वनि के लिए एक ही वर्ण है और एक वर्ण एक ही ध्वनि का द्योतक है।

संस्कृत वर्णमाला में जो लिखा जायगा वही पढ़ा जायगा। अगर हमारा उच्चारण ठीक हो तो लिखने में भूल हो ही नहीं सकती। इस में स्वरों के लिए अलग अलग मात्राएँ स्पष्ट और निश्चित हैं। रोमन लिपि में Hare को हेअर हारे और हरे तीनों ही पढ़ सकते हैं। Danka के डाँका और डंका दोनों ही उच्चारण हो सकते हैं। Prasad को प्रसाद पढ़िए चाहे प्रासाद। Hat को हट, हाट और हैट तीनों ही रूपों में देख सकते हैं।

इन लिपियों द्वारा संयुक्ताक्षरों का भी ठीक-ठीक उच्चारण नहीं हो सकता। उर्दू वाले प्रकाश और चन्द्र को प्रायः परकाश और चन्दर ही कहते हैं। हिंदी में ऐसी बात नहीं है। हिंदी में कुरानशरीफ तक की आयतें ज्यों की त्यों उतारी जा सकती हैं। एक बार महामना पंडित मदनमोहन मालवीय ने देवनागरी लिपि में लिखी हुई अरबी की आयतों का परिशुद्ध उच्चारण करके सुनने वालों में यह भ्रम पैदा कर दिया था कि वे अरबी जानते हैं। लेकिन फारसी अक्षरों में आलू बुखारे को उल्लू बेचारे (अगर नुक्ते न लगे हों) पढ़ना असंभव नहीं और फिर अदालती कागजों की शिकस्त लिखावट में तो अपने लिखे को आप न बाँच सकने की लोकोक्ति चरितार्थ हो जाती है। फारसी और रोमन लिपियों की ध्वनियों में निश्चितता लाने के लिए जो चिह्न बनाये गये हैं उनका छापे में चाहे प्रयोग हो सके किन्तु लिखावट में तो उनका प्रयोग अपवाद स्वरूप ही होता है।

रोमन लिपि के पक्ष-समर्थकों का कथन है कि प्रामाणिक रोमन Standard Roman लिपि में ये कठिनाइयाँ नहीं हैं। उसमें एक अक्षर एक ही ध्वनि का द्योतक होता है और प्रायः सभी ध्वनियाँ प्रकाशित की जा सकती हैं, यहाँ तक कि संस्कृत भी बड़ी सुगमता के साथ लिखी जा सकती है। प्रामाणिक

रोमन लिपि को स्वीकार करने में तीन कठिनाइयाँ हैं। पहली तो यह कि चाहे प्रामाणिक रोमन लिपि में एक अक्षर की एक ही ध्वनि हो तथापि हम यह नहीं भूल सकते कि उसी रूप और नाम के अंग्रेज़ी वर्णमाला के अक्षर की दो ध्वनियाँ हैं। और इस में भ्रम हो जाने की सम्भावना है। दूसरी बात यह है कि संस्कृत या हिन्दी लिखने के लिए प्रामाणिक रोमन लिपि में जितने संकेतों की आवश्यकता पड़ेगी उनको देखते हुए रोमन लिपि का यह दावा गलत हो जायगा कि उसमें छब्बीस अक्षरों से ही काम चल जाता है। जहाँ पर रोमन लिपि को इस बात का श्रेय दिया जाय कि उसमें वर्णमाला के अक्षरों की संख्या कम है वहाँ उसके साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ देवनागरी के एक अक्षर 'ख' से काम चल सकता है वहाँ रोमन के तीन अक्षर (KHA) लगेंगे। 'खबर' लिखने में देवनागरी में तीन अक्षरों से काम चल सकता है, रोमन में (KHABARA) सात अक्षर लगते हैं। इस तरह से स्थान और कागज अधिक लगेगा। एक उदाहरण और लीजिए—

मे	रा	घो	ड़ा	भा	ग	ग	या	
M	E	R	A	G	H	O	R	A
B	H	A	G	A	G	A	Y	A

रोमन लिपि के पक्ष में यह बात अवश्य कही जा सकती है कि उसमें लिखने से योरोप वाले भी हमारी पुस्तकों को समझ सकेंगे, किंतु योरोप वालों की भाषा हमारी भाषा से इतनी भिन्न है कि उनको उससे कोई लाभ नहीं। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि योरोप वाले नहीं तो मुसलमान और अन्य प्रांत के लोग समझ सकेंगे। किन्तु जब हमारे देश में एक वैज्ञानिक लिपि है जो अन्य प्रान्तों की लिपियों से मिलती है तो हम उसे छोड़ कर दूसरे देश की लिपि को अपना कर केवल हठधर्मी का परिचय देंगे।

देवनागरी वर्णमाला की वैज्ञानिकता को सभी भाषा-विज्ञान-वेत्ता स्वीकार

करते हैं। अब प्रश्न यह होता है कि संस्कृत वर्णमाला का प्रयोग तो गुजराती, बँगला और गुरुमुखी में भी होता है फिर देवनागरी को ही क्यों मुख्यता दी जाय ? इसका एक मुख्य कारण तो यह है कि प्रायः सभी प्रांतों में संस्कृत के ग्रन्थों में अधिकतर देवनागरी अक्षरों का ही प्रयोग होता है। यह एक प्रकार से संस्कृत की निजी लिपि बन गई है। मराठी में तो देवनागरी लिपि का ही प्रयोग होता है। इसके अतिरिक्त सौंदर्य, सरलता और त्वरालेखन की दृष्टि से भी देवनागरी लिपि और लिपियों की अपेक्षा श्रेष्ठतर है। इसमें अन्य लिपियों से मिलने वाले वर्णों का आधिक्य है। जैसे बँगला के अ, उ स्वर और क, घ, ठ, थ, द, ध, न, फ, म, य, ल, स, व्यञ्जन बहुत कुछ मिलते हैं। इसी प्रकार गुरुमुखी के अ, उ, क, ग, च, छ, ज, ट, ठ, ड, म, र, ल, में बहुत समानता है। गुजराती और देवनागरी अक्षरों में अधिकतर शिरोरेखा का ही भेद है। अ, इ, ए, स्वर तथा ख, च, ज, झ, ठ, ब, ल, व्यञ्जनों को छोड़ और वर्णों में थोड़ा ही अन्तर है।

हिन्दी की शिरोरेखाएँ त्वरालेखन में चाहे थोड़ी बाधा डालें किंतु सौंदर्य को बहुत कुछ बढ़ा देती हैं और शब्द भी अलग-अलग स्पष्ट दिखाई देते हैं। बँगला में शिरोरेखा है किन्तु ग, प, आदि कुछ अक्षरों में नहीं है। नागरी लिपि में बँगला लिपि की अपेक्षा संयुक्ताक्षर कम विकृत होते हैं और वे अपने मूल रूप की पहचान लिये हुए हैं। देवनागरी अक्षरों का लिखना अधिक सरल है और स्वरालेखन में भी देवनागरी लिपि किसी से पीछे नहीं रहती। उसके टाइपराइटर भी बन गये हैं और हाथ से लिखने में भी उसमें बहुत कलम नहीं उठानी पड़ती। रोमन की भाँति इसकी लिखने और पढ़ने की लिपियाँ अलग नहीं हैं। देवनागरी लिपि के प्रचार से भाषा की विविधता की कठिनाई बहुत अश में दूर हो जायगी।

नागरी लिपि में जहाँ सब प्रकार की वैज्ञानिकता है वहाँ कुछ न्यूनताएँ भी हैं जो सहज में दूर हो सकती हैं। ख में प्रायः र और व का भ्रम हो जाता है, पर ख का दूसरा चिह्न बन सकता है। ऋ की ध्वनि और रि में बहुत भेद नहीं है। ऌ की तरह ऋ भी उड़ सकती है, लेकिन ऋण आदि शब्द जो पहले

से प्रचलित हैं उनके सम्बन्ध में कुछ कठिनाई पड़ेगी। वे संधियों के नियमों में भी आगये हैं। विदेशी नये शब्दों में अनुनासिक प्रायः अनुस्वार से लिखा जाता है। हिन्दी में अनुस्वार से भी काम लिया जाता है और संस्कृत के कायदे से पञ्चम अक्षर से भी। संस्कृत का कायदा वैज्ञानिक अवश्य है किन्तु सरलता के लिए वह छोड़ा जा सकता है। क्ष, त्र, ज्ञ, में मूल अक्षर पहचाने नहीं जाते किंतु क्ष और ज्ञ की ध्वनि भी अलग है। त्र को ऐसे रूप में भी लिखा जा सकता है जिसमें मूलवर्ण विकृत न हों। क्त को हम क्त के रूप में लिख सकते हैं। व और ब के लिखने में प्रायः गड़बड़ी हो जाती है, व के लिए दूसरा चिह्न बन सकता है।

नागरी वर्णमाला में कुछ ध्वनियों की कमी भी है। फारसी की फ़े, क़ाफ़, ग़ैन आदि की ध्वनियाँ नहीं हैं। उनकी पूर्ति फ, क, ग के नीचे बिन्दी लगाने से हो सकती है। देवनागरी लिपि में ए और ऐ के बीच की ध्वनि, जो Man, can में है, नहीं है। इसी प्रकार ओ और औ के बीच की ध्वनि का, जो College में है, अभाव है। पर इन के लिए चिह्न बन गये हैं। ओ और औ के बीच की ध्वनि के लिए ॉ का प्रयोग होने लगा है। College को कॉलेज लिखेंगे। ए और ऐ की बीच की ध्वनि के लिए भी मात्रा को कुछ बल दे दिया गया है।

टाइप राइटर और प्रेस की सुविधा के लिए कुछ और भी सुधार सुझाये गये हैं लेकिन वे अनावश्यक से हैं। यह ठीक है कि हिन्दी टाइप-राइटर में ए, ओ, ई की मात्राएँ लगाने में अड़चन पड़ती है और प्रेस में देवनागरी के लिए बहुत से 'केसों' को काम में लाना पड़ता है, किंतु जब काम चल रहा है तब अनावश्यक परिवर्तन करना वाञ्छनीय नहीं। महाप्राण वर्ण, जिनमें ह की ध्वनि रहती है, उड़ाये जा सकते हैं और अल्प प्राणों पर कोई चिह्न लगा कर व्यक्त किये जा सकते हैं जैसे ख को कऽ घ को गऽ करके लिखना सम्भव है (संस्कृत में अ के लोप का चिह्न ऽ क आदि के आगे लगा कर लिखते हैं)। लेकिन यह सुधार उतना आवश्यक नहीं जितना कि बीच की ध्वनियों की पूर्ति।

इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ के अक्षरों को उड़ा कर टाइप की बचत के लिए अ पर ही इनकी मात्राएँ लगा कर काम चलाने की सलाह दी जाती है। काका कालेलकर जी इसके बहुत पक्ष में हैं और महाराष्ट्र में इसका प्रयोग भी होने लगा है। इस पद्धति से इ को अि और ई को अी लिखेंगे। सुधारकों का कहना है कि जब 'अ' पर ओ की मात्रा लगाई जा सकती है तो इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, की मात्रा क्यों न लगाई जाय ? अपरिवर्तनवादी लोगों का कहना है कि ओ, और औ संयुक्त स्वर हैं, इ, उ मूल स्वर हैं; इसके अतिरिक्त इ के स्थान पर अि लिखने में अधिक स्थान लगेगा; और कंपोज़ करने में भी हाथ दो बार उठाना पड़ेगा। अतः समय और स्थान अधिक लगेगा।

नागरी लिपि पहले से पूर्ण और वैज्ञानिक है। थोड़े से परिवर्तनों से उसकी कमियों को दूर करके वह सारे भारतवर्ष की राष्ट्र-लिपि बनाई जा सकती है। इतना ही नहीं उसमें विश्व-लिपि होने की क्षमता है। इस पूर्णतया वैज्ञानिक लिपि को छोड़ कर रोमन लिपि को अपनाना मूर्खता होगी। तुर्की ने यदि रोमन लिपि को अपनाया तो कोई आश्चर्य नहीं, क्योंकि उसकी लिपि इतनी वैज्ञानिक न थी और तुर्की के योरोप में होने के कारण उसका चलन कुछ युक्ति-संगत भी हो सकता है। किन्तु भारत में तो रोमन लिपि को स्वीकार करना कञ्चन के स्थान में काँच और हाटक के स्थान में फाटक (फटकन) लेना कहा जायगा।

---

४३. हिन्दी भाषा और साहित्य पर विदेशी प्रभाव

जब दो जातियाँ परस्पर संपर्क में आती हैं तब दोनों की भाषा, भावों, विचारों तथा रीति-नीति का विनिमय ऐसी विलक्षण रीति से होने लगता है कि उन जातियों की भाषा, सभ्यता तथा संस्कृति में बड़े-बड़े परिवर्तन हो जाते हैं। कभी-कभी तो विजयी जातियाँ शक्तिमती होती हुई भी अपनी अल्पसंख्या अथवा बर्बरता के कारण विजित जातियों की बहु-संख्या में विलीन हो जाती हैं, और अपना संपूर्ण अस्तित्व खो कर विजित जाति की सभ्यता आदि ग्रहण कर लेती हैं। भारत पर आक्रमण करने वाली हूण,

कुषाण और ऋषिक आदि अनेक जातियों की ऐसी ही अवस्था हुई थी। पर साधारणतया विजयी जातियों को विजित जातियों के ऊपर अपनी सभ्यता लादने में अधिक सफलता मिलती है। जिसके हाथ में सत्ता है, जिसके पास धन-बल है, वही गुण-संपन्न समझा जाता है। विजेता प्रायः अपनी विजय को स्थायी बनाने के लिए भी विजित जातियों की संस्कृति और भाषा की हत्या किया करते हैं, तथा विजित जाति के कई लोग विजेताओं के कृपा पात्र होने के लिए हर एक बात में उनका अनुकरण करना प्रारम्भ करते हैं। अतएव विजित जातियों की भाषा और संस्कृति पर विजेताओं की भाषा और संस्कृति का पर्याप्त प्रभाव पड़ता है।

हिन्दी भाषा की उत्पत्ति जब से हुई तब से दो प्रकार की विदेशी जातियाँ भारत में आईं—(१) उत्तर पश्चिम से आने वाली मुसलमान जातियाँ (२) समुद्र-मार्ग से आने वाली यूरोपीय जातियाँ। अतएव हिन्दी पर विदेशी भाषाओं का जो प्रभाव पड़ा, उसे दो श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है—मुसलमानी प्रभाव, तथा यूरोपीय प्रभाव। मुसलमान तथा अंगरेज दोनों के शासक होने के कारण प्रायः एक ही ढंग का शब्द-समूह इनकी भाषाओं से हिन्दी में आया है। वह शब्द-समूह या तो विदेशी संस्थाओं जैसे कचहरी, फौज, स्कूल, धर्म आदि से संबंध रखता है अथवा विदेशी प्रभाव के कारण आई हुई नई वस्तुओं के नाम हैं, जैसे नये पहनावे, खाने, यंत्र तथा खेल आदि के नाम।

हिन्दी भाषा पर मुसलमानी प्रभाव

ईसा की सातवीं शताब्दी से भारत पर पश्चिमी द्वार से मुसलमानों के आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे और १००० ई० के लगभग जब अपभ्रंश भाषा से जुदा हो कर हिन्दी अपनी अलग सत्ता बनाने लगी थी, उस समय पंजाब के बहुत से भाग पर फारसी बोलने वाले तुर्कों ने अपना कब्जा कर लिया था। तभी से मुसलमानों का सम्पर्क प्रारम्भ हुआ और हम देखते हैं कि थोड़े ही काल में अनेक विदेशी शब्द हिन्दी में प्रयुक्त होने लगे। यहाँ तक कि हिन्दी के सर्व प्रथम महाकाव्य कहाने वाले 'पृथ्वीराज रासो' में अनेक विदेशी शब्द मिलते

हैं। ई० ११६३ से भारत का शासन-सूत्र मुसलमानों के हाथ में चला गया और उसके बाद लगभग ६०० वर्ष तक हिन्दी-भाषा-भाषी जनता पर विशेषतया उस प्रान्त पर जो हिन्दी का उत्पत्ति-स्थान कहा जा सकता है, मुसलमानों के भिन्न-भिन्न राजवंशों का राज्य रहा। अतः इस समय सैकड़ों विदेशी शब्द गाँवों की बोली तक में घुस आये। इन मुसलमान शासकों के राज्य की सीमा ज्यों-ज्यों बढ़ती जाती थी, त्यों-त्यों हिन्दी का प्रचार भी बढ़ता जाता था, पर उस हिन्दी में विदेशी शब्दों का पर्याप्त समावेश होता गया। इसके अतिरिक्त खुसरो, कबीर, रहीम आदि अनेक मुसलमानों ने हिन्दी में कविता की। उनकी कविता में स्वभावतः कुछ विदेशी शब्द आ जाते थे। कबीर ने जहाँ "है कोई दिल दरवेश तेरा" आदि सूफी सिद्धान्तों से मिश्रित जनसुलभ गीत लिखे हैं, वहाँ हिर्स (लालसा), नफ्स (कामवासना), अजाब-सवाब (पाप-पुण्य), महबूब (प्रेम-पात्र) तथा हाहूत, लाहूत, मलकूत आदि जैसे कठिन विदेशी शब्दों का भी प्रयोग किया है। ऐसे ही कवयित्री ताज का निम्नलिखित पद्य इस बात को और भी स्पष्ट करता है कि हिन्दी कविता में विदेशी शब्दों की कितनी प्रचुरता हो गई थी—

सुनो दिलजानी मेरे दिल की कहानी, तुम
दस्त ही बिकानी बदनामी भी सहूँगी मैं।
देव पूजा ठानी मैं नमाज हू भुलानी, तजे
कलमा कुरान सारे गुनन गहूँगी मैं।
स्यामला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये
तेरे नेह दाग मैं निदाघ हो दहूँगी मैं।
नन्द के कुमार कुरबान ताँड़ी सूरत पै
ताँड़ नाल प्यारे हिन्दुवानी हो रहूँगी मैं।

ये विदेशी शब्द केवल मुसलमान कवियों की कविता में ही नहीं पाये जाते अपितु श्रुति-सम्मत हरिभक्ति-पथ के प्रदर्शक रामधन तुलसी जैसे महाकवि की विशुद्ध हिन्दी कविता भी इन विदेशी शब्दों के प्रभाव से मुक्त नहीं रह सकी। 'उमरदराजी' 'गरीब निवाज', 'गनी गरीब' 'पायमाल' आदि अनेक

शब्द उसमें पाये जाते है। तुलसी ने 'सवार' शब्द का भी प्रयोग किया है, 'खर को असवार'। वैसे तो खर शब्द भी फारसी का है किन्तु यह संस्कृत में भी मिलता है। 'संतन को कहा सीकरी सों काम' कह कर मुसलमान बादशाहों के निमंत्रण को अस्वीकार करने वाले अष्टछाप के कवियों में प्रमुख सूरदास की कविता में भी 'मसाहत', 'मुहकम', 'जियान' आदि विदेशी शब्द दृष्टिगोचर होते हैं। उसके बाद रीतिकाल के विलासी कवियों ने तो राजाओं की विलास-सामग्री का वर्णन करने के लिए अनेक विदेशी शब्द अपनाये। कविवर पद्माकर की निम्नलिखित पंक्तियों पर गौर कीजिए—

गुलगुली गिलमैं गलीचा हैं गुनी जन हैं,
चाँदनी है चिक है चिरागन की माला है।
कहैं पद्माकर त्यों गजक गिजा है सजी
सेज है सुराही है, सुरा है और प्याला है।

स्वर्गीय पं० पद्मसिंह जी शर्मा के शब्दों में 'भाषा के परखैया' बिहारी की कविता में शबीह, चश्मा, गरूर, फानूस, इजाफा, पायंदाज आदि विदेशी शब्दों की भरमार दिखाई जा सकती है। हिन्दुओं के प्रतिनिधि कवि भूषण के भीम गर्जन में तो तसबीह, नकीब, कौल, जसन, तुजुक, खबीस, जरबाफ, खलक, कलल, दराज, गनीम, औसान आदि अनेक विदेशी शब्द रसानुकूल ऐसे फिट बैठ गये हैं कि उनको जुदा ही नहीं किया जा सकता। और तो और हिन्दी को हिन्दी नाम और हमारी मातृभूमि को हिन्दुस्तान नाम भी तो विदेशी भाषा से ही प्राप्त हुए। आधुनिक काल के हिन्दी-गद्य में इन विदेशी शब्दों की इतनी प्रचुरता हो गई है कि आज इन विदेशी शब्दों से मिश्रित भाषा को कई सज्जन हिन्दी कहने से कतराते हैं, वे उसे 'उर्दू' नाम दे कर हिन्दी से जुदा ही कर देते हैं। किन्तु बहुत प्रयत्न करने पर भी हलवाई के स्थान में कान्दविक और सुराही को उदकी नहीं कहेंगे और न दवात को कोई मसिपात्र कहना पसन्द करेंगे। चाकू के लिए छुरी का प्रयोग पंडित लोग ही करेंगे। इसी प्रकार दर्जी, दर्द, दिल, आदि शब्दों का बहिष्कार करना कठिन है।

मुसलमानी काल में जो विदेशी शब्द हिन्दी में आये, वे फारसी,

अरबी तथा तुर्की से आये कहे जा सकते हैं। हिंदी में प्रचलित इन विदेशी शब्दों में सबसे अधिक संख्या फारसी शब्दों की है, क्योंकि समस्त मुसलमान शासकों ने, चाहे वे किसी भी नस्ल के क्यों न हो, फारसी को ही दरबारी तथा साहित्यिक भाषा की तरह अपना रक्खा था। अरबी तथा तुर्की आदि के जो शब्द हिन्दी में मिलते हैं वे फारसी से हो कर ही हिन्दी में आये हैं।

यूरोपीय भाषाओं का हिन्दी पर प्रभाव

यूरोपीय जातियाँ १५०० ई० के लगभग से भारत में आनी प्रारंभ हो गई थीं, पर १७५७ ई० तक उनका कार्य-क्षेत्र समुद्र-तटवर्ती प्रदेश में ही रहा, हिंदी-भाषा-भाषी प्रदेश से उनका विशेष संपर्क नहीं हुआ; अतएव प्राचीन हिन्दी-पद्य में यूरोपीय शब्द शायद ढूँढने पर भी न मिलें। परन्तु १७५७ ई० के लगभग भारत का भाग्य पलटने लगा। छः सौ वर्षों से भारत पर शासन करने वाली मुसलमान जातियों के हाथ से भारत का शासन-सूत्र फिसलने लगा, उसके स्थान पर भारत का मानचित्र लाल रंग से रँगा जाने लगा; और कुछ दिन बाद से अंग्रेजी राज-भाषा ही नहीं हुई, अपितु हमारी शिक्षा-दीक्षा की भाषा भी हो गई। कई स्थानों पर छोटे-छोटे अबोध बच्चों की शिक्षा का प्रारंभ तक अंग्रेजी में होने लगा। अंग्रेजी पढ़ा लिखा व्यक्ति ही शिक्षित समझा जाने लगा और जो जितनी अच्छी अंगरेजी बोल लेता वह उतना ही अधिक शिक्षित माना जाने लगा। फलतः गत सवा सौ वर्षों में हिन्दी के शब्द समूह पर अंग्रेजी भाषा का पर्याप्त प्रभाव पड़ा।

पढ़े-लिखों की भाषा का तो कहा ही क्या जाय, वह तो आधी तीतर आधी बटेर हो गई है; कितने ही अंग्रेजी-पढ़े व्यक्ति तो इस प्रकार की भाषा बोलते हुए मिलते हैं—मैं इस प्वायंट (Point) पर यील्ड (yield) नहीं कर सकता, मेरा तो फर्म (firm) कविन्वक्शन (conviction) है कि मेरी स्टेटमेंट (statement) ट्रुथ (truth) पर बेस्ड (based) है; पर अनपढ़ लोगों और सुदूर देहात की भाषा में भी अनेक अंगरेजी शब्द आज घर कर चुके हैं। वे हमारी भाषा के ही अंग बन गये हैं। अस्पताल, अफसर, अप्रैल, अगस्त, आर्डर, इंच, इनकम टैक्स, एजेंट, इंस्पैक्टर,

कलक्टर, कमिश्नर, कम्पनी, कमेटी, कापी, कंट्रोल, कांग्रेस, कालिज, कोलतार, कोइला, कोट, कौंसिल, गजट, गार्ड, गिलास, चाक, चेअरमैन, जज, जंपर, जेल, ट्रंक, टिकिट, टेलीफोन, डबल, डिस्ट्रिक्ट बोर्ड, ड्रिल, थर्ड, थर्मामीटर, दर्जन, दराज, नैकटाई, नोट, नम्बर, निकर, नोटिस, पलटन, प्लस्तर, पुलटिस, पुलिस, प्रेस, प्लेट, प्लेटफार्म, पैसा, प्रेसीडेंट, फर्मा, फर्स्ट, फिटन, फर्लांग, फार्म, फीस, फुटबाल, फोटो, बटन, बैंक, बनियाइन, बुरुश, बूट, ब्रेक, बैरंग, बोर्डिंग, मशीन, मजिस्ट्रेट, मास्टर, मानीटर, मिनट, मिल, मेंबर, मैनेजर, रजिस्टर, रूल, रेल, रोलर, लैंप, लाइसैंस, लेक्चर, वारंट, वालंटियर, वोट, वायसराय, समन, संतरी, स्टेशन, सरकस, सर्टिफिकेट, सूटकेस, सैकंड, सोडावाटर, सीमेंट, हारमोनियम, होटल, होल्डर, होल्डोल, आदि अनेक अंगरेजी शब्द ऐसे हैं, जो आपको, शहर और गाँव सब जगह एक से सुनाई देंगे। अँगरेजी के अलावा पुर्त्तगाली तथा फ्रांसीसी भाषा से कप्तान, कमीज़, गोभी, गोदाम, तौलिया, मेज़, बिस्कुट, बोतल, कारतूस, कूपन, आदि अनेक शब्द हिन्दी में आ गये हैं।

कुछ मुहावरे भी हिन्दी में अंगरेजी से आये हैं, जैसे रँगे हाथों पकड़ा जाना, भाग लेना, नया अध्याय खुलना।

यहाँ तक तो हुआ हिन्दी भाषा पर विदेशी प्रभाव, अथवा हिंदी भाषा में विदेशी शब्दों के प्रवेश का वर्णन। अब हमें यह देखना है कि हिन्दी साहित्य पर विदेशी प्रभाव कहाँ तक और क्या पड़ा। इस प्रश्न के उत्तर में हमें यह कहना पड़ता है कि हिन्दी-साहित्य पर मुसलमान काल में विदेशी प्रभाव 'न' के बराबर रहा। कारण यह कि भारतवर्ष पर मुसलमानों की विजय के अनन्तर जब हिन्दू और मुसलमान सभ्यताओं का संयोग हुआ तब हिन्दू अपनी प्राचीन तथा उच्च सभ्यता के कारण दृढ़ बने रहे और मुसलमानों के नवीन धार्मिक उत्साह तथा विजय-गर्व ने उन्हें हिंदुओं में मिल जाने से रोके रक्खा; अतः इस क्षेत्र में दोनों जातियों का आदान-प्रदान बहुत कम हुआ। तब भी संत कवियों की निर्गुण उपासना में भारतीय अद्वैतवाद का आधार होते हुए भी मुसलमानी एकेश्वरवाद या खुदावाद की छाया अवश्य दिखाई देती है। इसी प्रकार प्रेममार्गी सूफी कवियों का भावनाजन्य रहस्यवाद सूफी मत

की उपज कहा जा सकता है। जायसी आदि ने अपने महाकाव्यों में मसनवी पद्धति को अपनाया। खड़ी बोली के प्रारम्भ काल में फारसी छन्दशास्त्र पर अवलंबित उर्दू बहरों का भी अनुकरण किया गया था। पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय की 'बोलचाल' में इसके अच्छे उदाहरण मिलते हैं।

वर्त्तमान हिंदी-कविता के दुःखवाद के सम्बन्ध में विदेशी प्रभाव 'न' के बराबर रहा। किन्तु फिर भी यह अवश्य मानना पड़ेगा कि उसमें उर्दू कवियों के रोने-पीटने का क्षीण प्रभाव परिलक्षित है, तथा आधुनिक काल की हिन्दी कविता में 'हालावाद' भी उमर खैयाम की रुबाइयात के अंगरेजी अनुवादों से प्रभावित है, वर्तमान छायावाद और रहस्यवाद बहुत अंशों में अंग्रेजी Romanticism और Mysticism से प्रभावित हैं। अतुकान्त कविता यद्यपि संस्कृत छन्दों में होती थी तथापि वर्तमान काल में जो अतुकांत कविता लिखी जाती है वह अधिकांश में अंग्रेजी से प्रभावित है। अंग्रेजी के कुछ छंदों का, जैसे सौनेट का, हिन्दी में अनुकरण हुआ है। हिन्दी में कुछ ग़ज़लें भी लिखी गई हैं। वर्तमान दुःखवाद और कहीं-कहीं जो दिल के फफोले फोड़ने का उर्दू कविता का सा बीभत्स कांड आ जाता है वह सब उर्दू फारसी का ही प्रभाव है। इसको बचाने का प्रयत्न किया गया है किन्तु हम बचा नहीं सके हैं। पर ये सब प्रभाव हिन्दी साहित्य पर अप्रत्यक्ष विदेशी प्रभाव कहे जा सकते हैं। मार्क्स से प्रभावित प्रगतिवाद भी विदेश की ही देन है।

मुसलमानी शासन की अपेक्षा अंगरेजी शासन-काल में मानसिक विकास का अच्छा अवसर मिला, अतएव अंगरेज़ी-साहित्य का हिन्दी साहित्य पर अत्यधिक क्रांतिकारी प्रभाव पड़ा है। जिस प्रकार गत डेढ़ सौ वर्षों में भारतीय मनोवृत्ति, भारतीय दृष्टिकोण, रहन-सहन, भारतीय विचार-धारा में क्रान्ति हो गई है, उसी प्रकार समस्त भारतीय साहित्य में भी क्रान्ति हो गई है। फलतः हिन्दी साहित्य भी उस क्रांति से अछूता नहीं बचा। गद्य, आख्यायिका, उपन्यास, नाटक, समालोचना, निबंध, पत्र-लेखन, विज्ञान, इतिहास, अर्थशास्त्र और जीवनी आदि, सब में हिन्दी-साहित्य का रूप ही बदल गया है।

भारत में अंग्रेज़ों के राज्य-स्थापन के साथ पाश्चात्य सांसारिकता के भाव घर करने लगे। फलतः हिन्दी में सदियों से चली आती पद्यात्मक प्रवृत्ति का स्थान गद्यात्मक प्रवृत्ति ने ले लिया। जहाँ उन्नीसवीं शताब्दी से पहले हिन्दी साहित्य में गद्य का कोई विशेष स्थान नहीं था और उसकी एक शैली तक निश्चित न थी, वहाँ एक ही शताब्दी में हिन्दी गद्य का रूप पर्याप्त परिष्कृत हो गया, शैली के परिमार्जन के अतिरिक्त भाव-प्रदर्शन की अनेक प्रौढ़ शैलियों का विकास भी हुआ और हिन्दी गद्य में प्रकट किये जाने वाले भावों तथा विचारों में भी परिवर्त्तन हुआ। देश-भक्ति, राष्ट्रीयता, समाज-सुधार आदि विषयों पर हिन्दी गद्य में अधिक साहित्य लिखा जाने लगा। हिन्दी भाषा-भाषियों में पाश्चात्य विज्ञान, समाज-शास्त्र, राजनीति आदि विषयों की भूख बढ़ी। अंग्रेजी उच्च शिक्षा-प्राप्त व्यक्तियों में से कुछ व्यक्तियों ने नये विषयों पर भी कलम उठाई। इन नये भावों तथा नये विषयों को प्रकट करने के लिए भाषा में नये शब्दों तथा नये मुहावरों का प्रचलन हुआ। इस तरह हिन्दी गद्य पर पर्याप्त विदेशी प्रभाव पड़ा।

आधुनिक हिन्दी-व्याकरण में संस्कृत के व्याकरण के साथ अंग्रेज़ी के व्याकरण की बातों का भी प्रवेश हो गया है। विशेषणों और क्रियाविशेषणों के प्रकार, पद-व्याख्या, वाक्य-विश्लेषण आदि अंग्रेज़ी व्याकरण की ही देन हैं। हिन्दी में कौमा आदि विराम चि (तो अंग्रेजी से ही आये हैं।

कहानी जिसे आजकल गल्प नाम से पुकारा जाता है तथा आजकल के उपन्यास और एकांकी नाटक तो विदेशी प्रभाव की ही उपज हैं। यद्यपि एकांकी नाटकों का प्राचीन संस्कृत में अभाव न था तथापि वर्तमान काल में उनका प्रचार अंगरेज़ी साहित्य से ही बढ़ा। विदेशी प्रभाव के कारण उपन्यासों और नाटकों में घटनाओं की अस्वाभाविकता का अभाव होने लगा, तथा चरित्र-चित्रण की स्वाभाविकता और मनोवैज्ञानिक प्रकृति पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। वर्तमान उपन्यासों में, जैसे इलाचन्द्र जोशी, नरोत्तम नागर आदि की रचनाओं में, जो मनोविश्लेषण शास्त्र का पुट है वह पश्चिम की ही देन है। यद्यपि किन्हीं अंशों में हिन्दी इनके लिए बंगाल की ऋणी कही जाती है, पर

बंगाल में भी ये विदेश से आये हैं, वहाँ इनका प्रचार पहले होने का एक-मात्र कारण यह है कि बंगाल में अंगरेजों का शासन सबसे पहले स्थापित हुआ और बंगाली लोग ही पहले उनके संपर्क में आये।

नाटकों की दृष्टि से प्राचीन भारतीय साहित्य बहुत उन्नत था, परन्तु हिन्दी में नाटक रचना का प्रायः अभाव था। विदेशी प्रभाव के कारण नाटकों का पुनर्जन्म नवीन शैली पर हुआ। इस परिवर्तन में बँगला भाषा ने माध्यम का काम किया। आधुनिक हिन्दी-नाटकों में पद्यांश की कमी, सूत्रधार आदि का अभाव, लम्बे लम्बे रंगमंच के संकेत लिखा जाना तथा चरित्र-चित्रण पर अत्यधिक बल दिया जाना पाश्चात्य प्रभाव के ही कारण है। इन सब के अतिरिक्त सबसे बड़ा परिवर्तन 'मधुरेण समापयेत्' के सिद्धान्त का परित्याग कर नाटक या कहानी का दुःखान्त होना है। आज कल तो दुःखान्त नाटक ही अधिक पसन्द किये जा रहे हैं। कम से कम नाटक को सुखान्त दिखाने के लिए वास्तविक कहानी को तोड़ा-मरोड़ा नहीं जाता।

अब प्रश्न यह है कि विदेश का इतना ऋण-भार हिन्दी के लिए कहाँ तक गौरव की वस्तु है। संसार में परस्पर आदान-प्रदान सजीवता का चिह्न है। जहाँ आदान-प्रदान का अभाव है वहाँ जीवन का भी अभाव है। ऋणी होना अर्थात् दूसरों से कुछ लेना लज्जा की बात नहीं; किन्तु विदेशी पूँजी को वैसा ही रखना निर्जीवता है; निर्जीवता ही नहीं वरन् कृतघ्नता भी है। अब यह देखना चाहिए कि ग्रहण की हुई चीज को पचाने तथा उसको अपनी संस्कृति के अनुकूल बनाने की शक्ति हिन्दी में है या नहीं? अंधानुकरण वास्तव में निन्दनीय है। पश्चिम के वातावरण को चित्रित करने वाली कविता भी देशी वातावरण में ठीक नहीं बैठ सकती; उसको देशी रूप देना पड़ेगा।

मुहावरों का शब्दानुवाद भी कहीं-कहीं हास्यास्पद हो जाता है क्योंकि पूर्वी और पश्चिमी वातावरण में भेद है। ठंडे देशों में ठंड उदासीनता की द्योतक है और गर्मी प्रेम की। हिन्दी में छाती जुड़ाना प्रेम और शान्ति का चिह्न है, वहाँ ठंडक सहृदयता के अभाव की द्योतक होती है। भारतवर्ष के मुहावरे हत्या पर निर्भर नहीं हैं। 'Killing two birds with one stone'

के स्थान पर चाहे 'एक ढेले में दो पक्षी' कह लिया जाय, किन्तु जितना आनन्द 'एक पन्थ दो काज' में मिलता है उतना उसमें नहीं। 'Breaking the ice' के स्थान में यदि 'बरफ तोड़ना' कहा जाय तो अनभिज्ञता का परिचय देना होगा, इसके लिए 'मौन भंग करना' ही ठीक होगा। सब स्थानों में इतना भेद भी नहीं है; भाग लेना, नया अध्याय खोलना, शून्य दृष्टि, दृष्टिकोण आदि मुहावरे हमारी भाषा में खप भी गये हैं। मानव प्रकृति में बहुत कुछ साम्य भी है। कुछ भाव तो बिना अनुकरण के भी मिल जाते हैं। महात्मा सूरदास ने अंगरेजी के मुहावरे 'Crying in the wilderness' को बिना जाने ही गोपियों के मुख से 'कानन को रोइबौ' कहलाया है।

हमें विदेशी प्रकृतियों से प्रभावित होते हुए यह देखने की आवश्यकता रहती है कि कौन सी प्रकृति हमारे अनुकूल पड़ती है और कौन सी प्रतिकूल। इसका विचार न करना ही अन्धानुकरण कहलाता है। हमें इस बात का गर्व है कि हिन्दी-लेखकों ने अन्धानुकरण नहीं किया, उन्होंने विदेशी सामग्री को भली प्रकार पचाया है, पर फिर भी इस सम्बन्ध में सचेत रहने की आवश्यकता है।

---

४४. क्या विज्ञान का धर्म और कविता से पारस्परिक विरोध है ?

साधारण दृष्टि से विज्ञान का धर्म और कविता के साथ विरोध दिखाई देता है, और बात बहुत अंश में ठीक भी है। विज्ञान के दृष्टिकोण में भेद है। विज्ञान सत्य—केवल सत्य चाहता है। वह सत्य को रोचक और प्रिय बनाने का उद्योग नहीं करता। वैज्ञानिक केवल 'सत्यम्' का उपासक है; धार्मिक 'सत्यं' और 'शिवं' का; और कवि 'सत्यं' 'शिवं' के साथ 'सुन्दरम्' को भी खोजता है। कवि का ध्येय सत्य अवश्य है किन्तु वह वैज्ञानिक के ठोस बाह्य सत्य की अपेक्षा हृदय का सत्य चाहता है।

वैज्ञानिक आदर्श की ओर नहीं जाता, उसके लिए जैसा है वैसा ही कह देना सत्य है—'जैसे का तैसा', चाहे शुभ हो, चाहे अशुभ, प्रिय हो अथवा अप्रिय, इसकी वैज्ञानिक को चिन्ता नहीं। कवि 'सत्यं ब्रूयात् प्रियं ब्रूयात् न ब्रूयात् सत्यमप्रियम्' का पक्षपाती है।

वैज्ञानिक बावन तोले पाव रत्ती वाली यथार्थता को अपना ध्येय बनाता है। कवि हृदय की ग्राहकता को अपना लक्ष्य मानता है। वैज्ञानिक विश्व-वैचित्र्य में अपनी बुद्धि द्वारा नियम और शृंखला खोज कर उनके मानसिक बोध बनाता है। कवि उसी चित्र-विचित्र संसार को अपने भावों और मनोवेगों के रंग में रँग कर उसे और भी चित्ताकर्षक बना देता है। एक का काम बुद्धि के बोधों (Concepts) से है तो दूसरे का काम हृदय के भावों से है।

फिर क्या विज्ञान और कविता में नितान्त विरोध है ? नहीं। जो विरोध है वह इतना ही है जितना समान वस्तुओं में होता है। दोनों ही का वाङ्मय से सम्बन्ध है। दोनों ही मनुष्य के अनुभव की व्याख्या करते हैं। किन्तु दोनों की पद्धति में अंतर है। पद्धति का भेद होते हुए भी दोनों को कल्पना का सहारा लेना पड़ता है। दोनों ही में आश्चर्य, चमत्कार, नवीनता, खोज-बीन आनन्द और संलग्नता का कार्य रहता है। दोनों का ही अन्तिम लक्ष्य मनुष्य जाति का हित साधन है। फिर विरोध कैसा ? जिस प्रकार कवि कल्पना के बिना नहीं चलता उसी प्रकार वैज्ञानिक भी कल्पना बिना पग नहीं रखता। बात-बात पर कल्पना का कार्य है। न्यूटन ने पेड़ से फल गिरते देखा। उसने सोचा जिस प्रकार फल पृथ्वी की ओर आकर्षित हुआ उसी तरह सौर-मंडल के पिंड एक दूसरे की ओर गुरुत्व के परिमाण में आकर्षित होते हैं। वाट ने बटलोई की भाप के द्वारा ढक्कन के दृश्य से अपनी कल्पना के बल पर स्टीम ऐंजिन का निर्माण किया।

जब वैज्ञानिक किसी घटना से आश्चर्य-चकित होता है; तभी वह व्याख्या के लिए कल्पना को दौड़ाता है। जब वह किसी एक सिद्धांत की कल्पना कर लेता है तभी वह निरीक्षण और प्रयोग द्वारा उसकी पुष्टि के अर्थ सामग्री खोजता है। कवियों की कल्पनाएँ भी वैज्ञानिकों के नये-नये आविष्कारों में

सहायक होती हैं। जो बात कल-कल्पनामात्र थी वह आज सत्य हो जाती है। उड़ने की इच्छा पहले कवियों के ही हृदय में जागरित हुई थी। उसको आज विज्ञान ने सफल कर दिया। यदि वे कल्पनाएँ न होतीं तो वायुयान भी न होते। कवि मेघदूत का निर्माण करता है तो वैज्ञानिक विद्युत् दूत का।

कवि संसार की विचित्रता से चकित हो उसमें मानवी भावों का आरोप कर एक प्रकार का भाव-साम्य स्थापित करता है। वैज्ञानिक उस विचित्रता में व्यापक नियमों की खोज कर एक बौद्ध (बुद्धि सम्बन्धी) साम्य का परिचय देता है। दोनों ही प्रकृति देवी के उपासक हैं। यदि एक उसके सौंदर्य-निरीक्षण में मग्न है तो दूसरा उसकी सेवा द्वारा मेवा पाने में प्रयत्नशील रह कर प्राकृतिक नियमों को अपने लाभ का हेतु बनाता है। विज्ञान यद्यपि शुष्क है तथापि उसमें भी उतना ही आनन्द, उतनी ही संलग्नता आ जाती है जितनी कि काव्य में। गगन-मंडल के तारागणों की गति में वैज्ञानिक एक अनुपम लास्य देखता है, उसी लास्य का लघुतम रूप वह परमाणुओं के विद्युत् अणुओं में पाता है। मनुष्य-कंकाल, जो वैराग्य का उद्दीपन माना जाता है, वैज्ञानिक के मन में विकासवाद के रहस्यों का, जो उसके लिए मुगल-सम्राटों के रंगमहलों के रहस्य से भी अधिक रुचिकर होते हैं, उद्घाटन करता है। वह वीर विजेता की भाँति अंबर-चुंबित भाल हिमालय के उच्चतम शिखिर तक जाने में वीर रस के स्थायी उत्साह का पूर्ण परिचय देता है। जो सौन्दर्य कवि को फूलों में मिलता है उसी सौन्दर्य को वह फूलों की जड़ों में देख कर परमात्मा की बुद्धिमत्ता की सराहना करता है। यहीं पर धर्म और विज्ञान का भी समन्वय हो जाता है। विज्ञान ने हमको परमात्मा के 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' रूप के दर्शन कराये हैं। गगन-मण्डल के विस्तार को देख कर कल्पना के भी पैर लड़खड़ाने लगते हैं। खगोल में दूरी की गणना मीलों से नहीं होती वरन् प्रकाश की गति से, जो १८७००० मील प्रति सेकिंड है, होती है। बहुत से तारागणों के प्रकाश को यहाँ तक आने में सहस्रों वर्ष लग जाते हैं। विज्ञान हमको परमात्मा की महत्ता के साक्षात्कार करने में सहायक होता है। विज्ञान के भव्य भवन विश्व के नियम और शृंखला-बद्ध होने की आधार शिला पर खड़े हैं। धर्म के बिना

विश्व की नियमबद्धता का विश्वास दृढ़ नहीं होता। विज्ञान यदि भौतिक बल देता है तो धर्म आध्यात्मिक बल दे कर जीवन में आशा का संचार करता है। सच्चा धर्म वैज्ञानिक होगा और सच्चा विज्ञान धार्मिक होगा।

वैज्ञानिक और कवि दोनों ही आश्चर्य-चकित बालक की भाँति सृष्टि का रहस्य जानने की चेष्टा करते हैं। दोनों एक लक्ष्य की ओर जा रहे हैं, किंतु भिन्न-भिन्न मार्ग से। एक ने हृदय की तुष्टि की है तो दूसरे ने मस्तिष्क की। यदि एक ने प्राकृतिक शक्तियों को मनुष्य का हृदय प्रदान कर मानव का सहचर माना है तो दूसरे ने उन शक्तियों का बुद्धि-द्वारा नियन्त्रण कर उनको अपना अनुचर बनाया है। कविता, धर्म और विज्ञान के समन्वय में ही मानव जाति के कल्याण की आशा है। धर्म हमको मानवता का पाठ पढ़ायेगा, कविता उसे ग्राह्य और रुचिकर बनायगी और विज्ञान उसे क्रियात्मक रूप दे कर ऐसा वातावरण तैयार करेगा जिसमें सब लोग सुखमय जीवन व्यतीत कर सकें।

---

४५. वर्तमान वैज्ञानिक आविष्कारों का महत्त्व

अन्य शास्त्रों की भाँति विज्ञान का भी इतिहास बहुत प्राचीन है, किंतु वैज्ञानिक उन्नति की बाढ़ जैसी हम आजकल देखते हैं, वैसी उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध से ही प्रारम्भ हुई है।

विज्ञान की कई शाखाएँ हैं। प्रत्येक में भिन्न भिन्न आविष्कारों द्वारा उन्नति हुई है। यद्यपि सभी विद्याएँ मनुष्य के लाभार्थ हैं, तथापि कुछ वैज्ञानिक आविष्कार ऐसे हैं जिनका मनुष्य जाति के हित से सीधा सम्बन्ध है और कुछ ऐसे हैं जिनकी क्रियात्मक उपयोगिता कम है, परन्तु जिन्होंने मनुष्य के ज्ञान में हलचल मचा दी है और जिनका मनुष्य की क्रियाओं पर बहुत कुछ प्रभाव है।

हम पहले प्रथम प्रकार के आविष्कारों का वर्णन करेंगे। वाष्प-सम्बन्धी कलें, बेतार का तार, वायुयान, विद्युत् का प्रकाश, दूरवीक्षण यन्त्र, ऐक्स-रे और रेडियम पहले प्रकार के आविष्कारों में हैं। इन आविष्कारों के सहारे

मनुष्य ने देश और काल पर विजय पा ली है। महीनों और वर्षों का सफर घंटों और दिनों में तय हो जाता है, और बात की बात में ससार के इस छोर से उस छोर तक मनुष्य की पहुँच हो जाती है। ऐक्स-रे और रेडियम की किरणें स्थूल पदार्थों में भी प्रवेश कर जाती हैं और बक्स के भीतर की वस्तु हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होने लगती है। ऐक्स-रे और रेडियम (जिसकी प्राप्ति का श्रेय मैडम क्योरी नाम्नी एक फ्रांसीसी महिला को है) द्वारा चिकित्सा-शास्त्र में बहुत वांछनीय परिवर्तन हो गया है। मनुष्य को अपने शरीर के भीतर की बात जानने के लिए अनुमान का सहारा नहीं लेना पड़ता, अब तो वह 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणं' की बात हो गई है। शल्यचिकित्सा (Operation) अब अन्धे की टटोल नहीं रही, वरन् बावन तोले पाव रत्ती की सी निश्चित बात हो गई है। रेडियम नासूरों की चिकित्सा में बहुत कुछ उपयोगी सिद्ध हुआ है।

विद्युत् शक्ति ने तो एक प्रकार का कल्पवृक्ष स्वर्ग से ला कर मर्त्यलोक में उपस्थित कर दिया है। एक बटन दबाया नहीं कि सारा नगर विद्युत् की विशुद्ध निर्मल ज्योत्स्ना में निमग्न हो गया। 'तमसो मा ज्योतिर्गमय' की प्रार्थना कम से कम भौतिक रूप में तुरन्त ही स्वीकृत हो जाती है। इतना ही नहीं विद्युत् शक्ति आप की चाकरनी बन कर आप के घर को परिष्कृत करती है। बटन दबाते ही आज्ञा का पालन होने लगता है। जाड़े में गरम वायु और गर्मियों में शीतल वायु का सेवन कर लीजिए। पवनदेव भी आप के इच्छानुवर्ती बन जाते हैं। आज विज्ञान की बदौलत पङ्ख लगा कर उड़ने का चिरवांछित स्वप्न भी चरितार्थ हो गया है। मनुष्य के पर लग जाने से उसकी जल, थल और आकाश में समान गति हो गई है।

यह विद्युत् की शक्ति है जो आप की बात को एक क्षण में दूर देश में पहुँचा कर 'मनोजवं मारुततुल्यवेगं' वाली उक्ति को चरितार्थ कर देती है। बेतार के तार और वायुयान का आविष्कार प्रायः साथ ही साथ हुआ। हम गगनविहारी हो कर भी वायरलेस (Wireless) द्वारा भूतल से सम्बन्ध बनाये रखते हैं। घर के कमरे में बैठ कर लंडन और पेरिस के गानों को सुन सकते हैं। केवल आमोद-प्रमोद ही नहीं वरन् राजनीतिक भाषण और विदेश के बाज़ार

भाव भी घर बैठे सुनने को मिल जाते हैं। अब तो दूर देशों के शब्द के अतिरिक्त दूरदेशस्थ वक्ताओं के चित्र भी साथ ही देख सकते हैं। दूर-दर्शन (Television) अब स्वप्न की बात नहीं रही।

रेडियो की शक्ति के युद्ध में अनेकों आश्चर्यजनक प्रयोग हुए हैं। राडर द्वारा आक्रमणकारी शत्रु-वायुयानों का पता लगा लिया जाता है और वे स्वतः संचालित तोपों से नष्ट कर दिये जाते हैं।

विद्युत् की अनन्त संभावनाएँ हैं। और धीरे-धीरे वे संभावनाएँ वास्तविक होती जा रही हैं। चल-चित्रों ने मनुष्य के आमोद-प्रमोद और सामाजिक जीवन में बहुत सहायता दी है। चित्रों में बोल डालने की कसर रह जाती थी, वह भी सवाक् चित्रों ने पूरी कर दी। चित्र-पट आमोद का ही साधन नहीं है, वरन् शिक्षा का भी साधन बन गया है। किन्तु खेद इतना ही है कि भारतवर्ष में इसका शिक्षासम्बन्धी उपयोग बहुत कम किया जाता है।

दूरवीक्षण और अणुवीक्षण यंत्रों ने मनुष्य के हित-संपादन में बहुत कुछ योग दिया है। दूरवीक्षण यंत्र खगोल के अध्ययन और समुद्र-यात्राओं में बड़ा सहायक होता है। अणुवीक्षण यन्त्र ने 'अणोरणीयान्' को 'महतो महीयान्' करके बतला दिया है और नाना प्रकार के कीटाणुओं को आलोक में लाकर चिकित्साशास्त्र में हलचल मचा दी है। मलेरिया सम्बन्धी कीटाणुओं के ज्ञान से ज्वर का रोग बहुत कुछ शासन में आ गया है। इन कीटाणुओं द्वारा रोग के निदान में भी बहुत सुगमता हो गई है। अब प्रायः सभी रोगों के कीटाणु अपने मित्रों या शत्रुओं की भाँति पहचान लिए जाते हैं और उनसे रोग के निदान और उसकी चिकित्सा में बड़ी सहायता मिलती है।

वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा केवल मनुष्य के सुख का सम्पादन नहीं हुआ है वरन् इन्होंने मनुष्य जाति के संगठन में भी बहुत कुछ योग दिया है। रेल और जहाज द्वारा देशीय और प्रान्तीय सीमाएँ विलीन हो गई हैं। व्यापार के लिए अनन्त सुविधाएँ उपस्थित हो रही हैं और मनुष्यमात्र की एक जाति बनने के स्वप्न देखे जा रहे हैं। डाक्टर रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विश्व-भारती संसार के विद्वानों की ज्ञान-सम्बन्धी सहकारिता का उद्योग करने में संलग्न है। भारतवर्ष

में प्रांतीयता का भेद अपेक्षाकृत कम दिखाई देता है। हमारे विचारक्षेत्र का विस्तार बढ़ गया है। हम अन्तर्जातीय समस्याओं में रुचि रखने लगे हैं। भौतिक सामग्री के विनिमय के साथ विचारों के विनिमय का भी अधिक सुयोग हो गया है। हमारे विद्यार्थी दूर देशों में विद्यार्जन कर अपने देश को उन्नत बनाने के प्रयत्न में हैं।

ये सब आविष्कार एक दार्शनिक महत्त्व भी रखते हैं। इन आविष्कारों से यह सिद्ध होता है कि संसार में नियम और शृंखला है। विज्ञान-सम्बन्धी हमारी भविष्यवाणियाँ इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। जैसा हम सोचते हैं वैसा ही बाह्य-घटना-क्रम में भी सिद्ध होता है। नियम हमारे लाभ के साधन बनाये जा सकते हैं। वे संसार में बुद्धि का विस्तार करते हैं और इस बात का भी संकेत देते हैं कि इस भौतिक संसार के पीछे एक चेतन नियंत्रण है, यदि ऐसा न होता तो इसमें हमारी बुद्धि की गति न होती। विज्ञान संसार को बुद्धि-गम्य प्रमाणित कर ईश्वर की सत्ता स्थापित करने में सहायक होता है।

यह संसार सुख-दुःखमय है। इसमें पाप पुण्य का द्वन्द्व है। प्रत्येक भलाई के साथ बुराई लगी हुई है। जो विज्ञान मनुष्य जाति के सुख का सम्पादक है वही मनुष्य जाति की हत्या में भी सहायक होता है। वायुयान के कारण अब दुर्ग भी दुर्गम नहीं रहे। जिन वायुयानों में बैठ कर हम देवताओं की भाँति व्योम-विहार करते हैं वे ही ऊपर से पुष्पों के स्थान में गोले बरसा कर मनुष्य जाति के निरंकुश घात के साधन बनते हैं। जापान में एटम बम के प्रयोग ने सहस्रों निरीह नर-नारियों का संहार कर दिया और वह भावी युद्धों के लिए विभीषिका का रूप धारण किये हुए है। एटम बम ही नहीं हाइड्रोजन बम एटम बम से चार कदम आगे रहेगा। युद्ध में कीटाणुओं की घातक शक्ति का भी सहारा लिया जायगा और युद्ध प्राणि-शास्त्र पर आश्रित हो जायगा। जहाँ विज्ञान की शक्ति 'रक्षणाय' न रह कर 'परेषां परिपीडनाय' हो जाती है वहीं मनुष्य देवत्व को छोड़ कर राक्षस का रूप धारण कर लेता है। नाना प्रकार की विषैली गैसें ईजाद की जा रही हैं। जो दूरवीक्षण यन्त्र हमको आकाश में तारागणों की सैर करा कर विश्व की अनन्तता का भाव अनुभूत कराते हैं

वे ही घातक तोपों के सहकारी बनते हैं।

नवीन आविष्कारों ने मनुष्यों में आलस्य की मात्रा को भी बढ़ाया है और उसकी शारीरिक शक्ति को कम किया है। इसके अतिरिक्त विज्ञान ने बेकारी को भी बढ़ाया है और पूँजीपतियों का सहायक बन कर गरीबों और अमीरों की खाई को भी विस्तृत कर रहा है। नवयुग की मशीनें अर्थसाध्य हैं। वे गरीब की अपेक्षा अमीर की अधिक सहायक होती हैं। विज्ञान ने जहाँ आवश्यकताओं की पूर्ति की वहाँ विलास के साधनों को भी बढ़ाया है। किन्तु यह सब विज्ञान का दुरुपयोग है। इसके लिए मनुष्य उत्तरदायी है, विज्ञान नहीं। जिस अग्नि से भोजन पकाया जाता है वही अग्नि मनुष्य के घर-बार को भस्म भी कर देती है। इससे अग्नि की उपयोगिता कम नहीं होती। यही हाल वैज्ञानिक आविष्कारों का है।

दूसरे प्रकार के आविष्कारों में विकासवाद और विद्युत्-अणु सम्बन्धी ज्ञान मुख्य हैं। इनको वास्तव में आविष्कार न कह कर खोज (Discovery) कहना अधिक सत्य होगा। विकासवाद जैसा बतलाया जाता है वैसा ठीक हो या न हो, परन्तु उसने ज्ञान का दृष्टिकोण बदल दिया है। सब शास्त्रों में क्रमोन्नति देखी जाने लगी है। जानवरों का जाति-विभाग विकास के सिद्धान्तों पर ही अवलंबित हैं। समाज और साहित्य सब ही में विकासवाद के नियम लगाये जाते हैं। विशेषीकरण (Specialization) के साथ एकीकरण का सिद्धान्त सब कार्य-क्षेत्रों में व्याप्त हो रहा है। विकासवाद के सिद्धान्त हमको भेद में अभेद दिखलाते हैं। भेद में अभेद देखने को ही श्रीमद्भगवद्गीता में सात्विक ज्ञान कहा है। सारे विश्व में एक नियम और शृङ्खला की व्याप्ति घटाई जाती है। यह केवल विकासवाद का ही फल नहीं है वरन् सारे विज्ञान ने ज्ञान की एकाकारिता स्थापित करने में सहायता दी है। विद्युत्-अणुओं ने भौतिकवाद को भी बहुत धक्का पहुँचाया है। अब संसार भौतिक अणुओं से बना नहीं माना जाता, वरन् शक्ति के केन्द्रों का घात-प्रतिघात बताया जाता है। बीसवीं शताब्दी का विज्ञान हमको आध्यात्मिकता की ओर लिये जा रहा है। सर ओलीवर लाज प्रभृति की प्रेतवाद सम्बन्धी गवेषणाएँ भी इसमें

बहुत सहायक हो रही हैं । अणुओं के तोड़ने से जो शक्ति उत्पन्न होती है उसी का घातक प्रयोग एटम बम में देखा जाता है । सम्भव है कि आगे चल कर उसका प्रयोग मानव हित के लिए औद्योगिक कार्यों में होने लगे। आइनस्टाइन का सापेक्षवाद (relativity सम्बन्धी सिद्धांत) विज्ञान में हलचल मचा रहा है। विज्ञान के ध्रुव निश्चय चल हो रहे हैं । ये सब बातें हमको बतला रही हैं कि संसार कोई भौतिक दृढ़ पदार्थ नहीं है; वह विद्युत्-अणुओं का, जो शक्ति के केन्द्र हैं, खेल है। सारा संसार ज्ञान और शक्ति का ही विस्तार है।

समय आवेगा जब धर्म और विज्ञान में विरोध न रहेगा । विज्ञान के संघर्ष से धर्म अपना अन्धविश्वास छोड़ देगा और कुछ अन्धविश्वास विज्ञान द्वारा सिद्ध भी हो जावेंगे, उसके फल-स्वरूप विज्ञान धर्म का आदर करेगा।

---

४६. नागरिक के कर्त्तव्य और अधिकार

नगर में रहने वाले को नागरिक कहते हैं । नगर में रहने के कारण तथा नगर की शासन-व्यवस्था से लाभ उठाने के कारण नागरिक पर कुछ उत्तरदायित्व आ जाता है। नगर शब्द में ग्राम भी शामिल हैं, उस से ग्रामों का बहिष्कार नहीं होता है । नगर से हमारा अभिप्राय मानव समाज से है । यदि मनुष्य अकेला रहे तो सिवाय पेट भर लेने के उसका कोई कर्तव्य न होगा अथवा वह अपना समय ईश-भजन या प्रकृति के निरीक्षण में व्यतीत करेगा । परन्तु समाज में रहने के साथ उसका उत्तरदायित्व बढ़ जाता है, क्योंकि उसका कर्तव्य केवल अपने ही प्रति न रह कर दूसरों के प्रति भी हो जाता है । जिस समाज में मनुष्य उत्पन्न हुआ है उसमें शान्ति और साम्य स्थापित रखना और उसकी उन्नति करना उसका परम कर्तव्य हो जाता है।

नागरिक

नागरिकता एक प्रकार से मानवता और सभ्यता का पर्याय बन गया है। अच्छे नागरिक को अपने सभी सम्बन्धों में अच्छा मनुष्य बनना होगा क्योंकि मनुष्य के पारिवारिक, व्यापारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय, अन्तर्राष्ट्रीय आदि

सम्बन्ध सामाजिक दृढ़ता और संगठन में सहायक होते हैं । इन सब सम्बन्धों के पारस्परिक अविरोध के साथ निर्वाह में ही सच्ची नागरिकता है । लोकतन्त्र राष्ट्र की सफलता के लिए भी जनता में नागरिकता के भावों का मान आवश्यक है ।

किसी देश की नागरिकता जन्म से ही प्राप्त होती है और अधिक दिन रहने से अर्जित भी होती है । जिस प्रकार नागरिकता अर्जित हो जाती है उसी प्रकार वह खोई भी जा सकती है। अधिक दिन बाहर रहने से वह जाती रहती है।

यद्यपि राज्य के दो अंग हैं—शासक और शासित; तथापि स्वतंत्र देशों में यह भेद न्यूनातिन्यून हो जाता है । शासित ही शासक होते हैं । शासकवर्ग शासितों का प्रतिनिधि होता है । स्वतन्त्र देश शासकों का ही नहीं होता है वरन् शासितों का भी होता है । देश की समृद्धि और सम्पन्नता तथा उसके सुयश के लिए सारे ही देशवासी उत्तरदायी होते हैं । देश का बनना बिगड़ना उनके हाथ में रहता है । देश की ख्याति उनकी ख्याति है, देश की कुख्याति उनकी कुख्याति है । इसीलिए उनके कर्त्तव्य और अधिकार दोनों ही विशेष महत्त्व रखते हैं ।

स्वतन्त्र देश के नागरिकों का उत्तरदायित्व

मनुष्य की उत्पत्ति समाज से हुई है । समाज से भरण, पोषण, शिक्षा आदि प्राप्त कर वह पुष्ट हुआ है । समाज ही में उसकी आजीविका है । अतः समाज की उन्नति में बाधक होना घोर कृतघ्नता ही नहीं वरन् आत्महत्या है । समाज की उन्नति के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं । जो बातें सामाजिक उन्नति के लिए आवश्यक हैं उनका साधन करना और उनके सम्पादित होने में योग देना प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है ।

समाज की स्थिति के लिए व्यक्ति के कर्त्तव्य और अधिकार दोनों ही आवश्यक हैं । जो बातें व्यक्ति को राज्य के लिए करनी चाहिएँ और जिन बातों के लिए राज्य व्यक्ति को बाध्य कर सकता है वह उसके कर्त्तव्य हैं । किन्तु कर्तव्यों की महत्ता उनके स्वतः प्रेरित होने में है । अधिकार वे कार्य हैं जिनको कि व्यक्ति राज्य से करा सकता है । राज्य का कर्त्तव्य व्यक्ति का अधिकार बन जाता है और व्यक्ति का

कर्त्तव्य और अधिकार

कर्तव्य राज्य का अधिकार हो जाता है। प्रत्येक अधिकार अपने अनुकूल कर्तव्य की अपेक्षा रखता है। कर्तव्यों की उपेक्षा करके हम अधिकारों के अधिकारी नहीं हो सकते। अपने यहाँ तो कर्तव्यों को ही अधिक महत्त्व दिया गया है। भगवान कृष्ण ने कहा है कि 'कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन'। पाश्चात्य शिक्षा ने हमको अधिकारों के प्रति अधिक सजग कर दिया है, किन्तु कर्तव्यों के बिना अधिकारों की माँग अन्याय है; किन्तु बिना अधिकारों के भी व्यक्ति का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। पूर्ण विकसित व्यक्ति राज्य की संपन्नता के लिए आवश्यक है।

सफाई और स्वास्थ्य

शरीर रक्षा को शास्त्रों में पहला धर्म-साधन बतलाया है—"शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्"। यदि शरीर ही नहीं तो धर्म कहाँ है? मनुष्य-शरीर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का साधन माना गया है। यदि वह स्वस्थ नहीं है तो सब साधन विफल हो जाते हैं। इसीलिए कहा गया है 'तन्दुरुस्ती हजार नियामत'। मनुष्य को स्वयं स्वस्थ रह कर दूसरों के स्वस्थ रहने में सहायक होना चाहिए। यदि हमारे पड़ोसी स्वस्थ नहीं हैं और यदि हमारा जलवायु शुद्ध नहीं है, तो हमारे स्वास्थ्य को भी आघात पहुँचता है। हमारे बिगड़ने से समाज बिगड़ता है और समाज के बिगड़ने से हम बिगड़ते हैं। इस प्रकार क्रिया-प्रति-क्रिया रूप से बिगाड़ का रोग बढ़ता रहता है और मनुष्य की हानि होती है। इसलिए मनुष्य सबसे पहले अपने आप स्वस्थ रहने का उद्योग करे।

स्वस्थ रहने के लिए अपने शरीर, अपने वस्त्र और अपने घर की सफाई अत्यन्त आवश्यक है। अधिकतर रोग सफाई के अभाव से होते हैं। सफाई रखने से केवल शरीर ही स्वस्थ नहीं रहता वरन् मन भी प्रसन्न रहता है, और आत्म-गौरव बढता है। स्वयं अपने को स्वच्छ कर अपने मुहल्ले तथा सारे नगर को स्वच्छ और आलोकित रखने में सहायक होना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। मतदातागण म्युनिसिपैलिटी के मेंबरों पर जोर डाल कर इस कार्य में सहायक हो सकते हैं। चुनाव के समय वे लोग व्यक्तिगत संबंधों, आकर्षणों प्रलोभनों को छोड़ कर सच्चे कार्यकर्त्ताओं को ही अपना मत (Vote) दें।

अस्पतालों के सुचारु रूप से चलाने और गरीबों को यथावत् दवाई पहुँचाने में सहायक होना भी परम वांछनीय है।

शिक्षा के लिए जितना लिखा जावे उतना ही थोड़ा है। शिक्षा से मनुष्य मनुष्य बनता है। प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह इस बात को देखे कि उसके बालकों, और नगर वा मुहल्ले के अन्य बालक-बालिकाओं की ठीक-ठीक शिक्षा होती है या नहीं। यदि नहीं तो किस कारण? यदि पाठशालाओं में सुधार की आवश्यकता हो तो उस सुधार के लिए यत्न करे और यदि लोगों की शिक्षा में अरुचि हो तो उनको शिक्षा के लाभ बतलावे और उनके बालकों के लिए शिक्षा सुलभ करवाने का प्रयत्न करे। शिक्षा का कार्य स्कूल और कालेज की शिक्षा में ही समाप्त नहीं हो जाता वरन् वह जीवन भर चलता है। जनता को नागरिकता की शिक्षा देना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। हाँ यह अवश्य ध्यान रखना चाहिए कि इस प्रकार की शिक्षा देने में किसी प्रकार का दम्भ न आने पावे। शिक्षा सेवाभाव से दी जाय।

शिक्षा

सामाजिक उन्नति सहकारिता और सगठन पर निर्भर है। प्रत्येक नागरिक को चाहिए कि वह स्वयं अपने सद्व्यवहार से लोगों में प्रेम का व्यवहार बढ़ावे, और दूसरों से घृणाभाव को कम करे। अपने किसी व्यवहार से वह दूसरों को अपमानित न करे, क्योंकि कोई अपमानित हो कर समाज में नहीं रहना चाहता। नागरिक को चाहिए कि वह सांप्रदायिकता और मत-भेद से उठने वाले झगड़ों को कम कर समाज को अंग-भंग होने से बचावे। स्वयं दूसरों के मत का आदर कर लोगों में उदारता के भावों की उत्पत्ति करे। परस्पर उदारता और आदान-प्रदान से ही सामाजिक संगठन होता है।

सामाजिक संगठन और धार्मिक उदारता

जिस प्रकार व्यक्ति का धनहीन जीवन निरर्थक है वैसे ही समाज का भी। जो नागरिक सम्यक् आजीविका द्वारा धनोपार्जन नहीं करता वह समाज का घातक है। नागरिक को चाहिए कि स्वयं बेकार न हो और दूसरों को बेकारी से बचावे। जो बेकार हों उनके लिए

आर्थिक उन्नति

बेकारी दूर करने के साधन उपस्थित करे। नगर में उद्योग-धन्धों की वृद्धि में सहायता दे। जो लोग विद्या या अनुभव के अभाव से अपना व्यवसाय या व्यापार नहीं बढ़ा सकते उनकी अपनी विद्या और अनुभव से सहायता करे। आजकल अधिक अन्न उपजाने में सहायता देना देश की आर्थिक उन्नति में योग देना है। अन्न की बचत करना और उसका अपव्यय न करना देश को संपन्न बनाने की ओर अग्रसर होना है। यदि कोई उद्योग धन्धा किया जावे तो ऐसा किया जावे कि जिससे देश की समृद्धि बढ़े। अच्छा और ईमानदारी का व्यापार देश की आर्थिक उन्नति में सहायक होता है। चोर बाजारी से व्यक्ति का लाभ होता है किन्तु राष्ट्र का नुकसान होता है। चोर बाजारी में सहायक न होना तथा उत्पादन के कार्यों में सक्रिय सहयोग देना देशसेवा का मुख्य अङ्ग है। मिल-मजदूरों और पूँजीपतियों में साम्य स्थापित करने में सहायक होना देश का उत्पादन बढ़ाना है।

यद्यपि रक्षा और शान्ति पुलिस और मैजिस्ट्रेटों का कार्य है, तथापि उसमें नागरिकों का सहयोग आवश्यक है। प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है कि वह वास्तविक अपराधियों का पता लगाने में सहायता दे और इसी प्रकार बेगुनाहों को पुलिस के अत्याचार से बचाने का उद्योग करे। न्याय में व्यक्तिगत संबंधों और प्रलोभनों को स्थान देना उचित नहीं। नागरिक को चाहिए कि वह देश की रक्षा के लिए फौजी स्वयं सेवकों अथवा सेवा-समितियों में काम करे; क्योंकि नगर की रक्षा देश की रक्षा पर आश्रित है। देश की रक्षा के दो अङ्ग हैं आन्तरिक और बाह्य। स्वतन्त्र देश के नागरिकों का देश की बाह्य आक्रमणों से भी रक्षा करना परम कर्तव्य है। स्वतन्त्रता हमने प्राप्त कर ली है। स्वतन्त्रता प्राप्ति की अपेक्षा प्राप्त स्वतन्त्रता की रक्षा और भी महत्त्व रखती है क्योंकि यदि हमारी स्वतन्त्रता जाती रहती है तो पराधीनता में हमको वर्णनातीत कष्ट भोगने पड़ते हैं। हमारी सारी योजनाएँ मिट्टी में मिल जाती हैं। हमारा स्वाभिमान चूर-चूर हो जाता है। देश ही हमारे लिए विदेश बन जाता है और हम देश को अपना कहने से वञ्चित हो जाते हैं। स्वतन्त्रता के इस महत्त्व को स्वीकार करते हुए देश की रक्षा में तन मन

रक्षा और शान्ति

धन से राज्य की सहायता करना हमारा परम कर्तव्य हो जाता है।

आन्तरिक रक्षा के लिए हमको शासन-व्यवस्था में सहायक होना आवश्यक है। जिन बातों से देश की शक्ति भङ्ग होती है उनके निराकरण में हमको राज्य की सहायता करनी चाहिए।

अच्छा नागरिक जो कुछ काम करे—चाहे मेंबरी हो, चाहे आनरेरी मैजिस्ट्रेटी हो और चाहे कलेक्टरी हो—सब सेवाभाव से करे, केवल आत्म-गौरव बढ़ाने के लिए नहीं। नागरिक को चाहिए कि वह समाज को केवल चोर-डाकुओं से ही रक्षित न रक्खे, वरन् उन लोगों से भी रक्षित रक्खे जो सभ्यता के आवरण में लोगों को ठगते हैं। उसको यह भी चाहिए कि आपस के लड़ाई-झगड़े के कारणों को उपस्थित न होने दे। यदि नगर में शान्ति-भङ्ग होती है तो आपस में लड़ते तो दुर्जन हैं और हानि सज्जनों की होती है। जो व्यक्ति लड़ाई के कारण उपस्थित होते हुए देख कर उपेक्षा भाव से मौन रहता है, वह उस लड़ाई में सहायक होता है। हाँ, यह ध्यान रखना चाहिए कि विरोध के शमन के लिए भी ऐसे उपाय काम में न लाये जावें जिनसे विरोध बढ़े, वरन् शान्ति और प्रेम के साथ शान्ति स्थापित की जाय।

राजनीति के सम्बन्ध में बड़ी सावधानी और धैर्य की आवश्यकता है। प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य नहीं है कि वह नेता बने। जहाँ बहुत से नेता होते हैं वहाँ विनाश के साधन उपस्थित हो जाते हैं। धैर्य

राजनीतिक उन्नति

दृढ़ता और निश्चय के साथ किया हुआ कार्य सफल होता है। सत्य का अवलंब ले कर निर्भयता से कार्य करना चाहिए। जहाँ पर मताधिकार का प्रश्न हो, जहाँ उसकी राय ली जावे, वह स्वतंत्रता-पूर्वक दे, उसमें किसी का पक्षपात न करे। धन और मान के प्रलोभनों से विचलित न हो और न बन्धुत्व, जाति और सांप्रदायिकता का ख्याल करे। मताधिकार का सदुपयोग ही लोक-तंत्र राज्य की सफलता का मूल साधन है। राजनीतिक उन्नति के लिए वह इस बात का ध्यान रक्खे कि वही राजनीतिक व्यवस्था उत्तम है जिससे समाज में शान्ति और साम्य स्थापित रहे; सब को समान अधिकार रहे; कोई अपनी जाति वा मत के कारण समाज के किसी

लाभ से वंचित न रहे ; सब को अपनी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के विकास और उनके उपयोग से न्यायानुकूल लाभ उठाने के लिए समान अवसर मिलें; उचित कार्य करने में किसी की स्वतंत्रता में बाधा न आवे ; सबका— चाहे वह पदाधिकारी हो और चाहे साधारण पुरुष—मान और गौरव रहे ; लोग भूखे न मरें, किसानों का भार हलका हो ; बेकारों की बेकारी कम हो ; संपत्ति की रक्षा हो ; धर्म के शान्ति पूर्वक आचरण में बाधा न पड़े; देशवासी देश की उन्नति के साधनों का स्वयं निर्णय कर सकें; और देश के सुचारु रूप से शासन का और उसकी रक्षा का स्वयं अपने ऊपर भार लेने की योग्यता प्राप्त कर सकें। जिस प्रकार देश में उपर्युक्त रीति से व्यवस्था स्थापित होने की दृढ़तापूर्वक माँग करना और उस माँग की पूर्ति में सहायक होना नागरिक का कर्तव्य है उसी प्रकार राज-व्यवस्था का मान करना, करों का देना और न्याय-पूर्ण शासन में राष्ट्र का सहायक बनना भी नागरिक-धर्म के अन्तर्गत समझना चाहिए। स्वतन्त्र देश के प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह देश में जहाँ अन्याय और अव्यवस्था देखे वहाँ अधिकारियों का उस ओर ध्यान आकर्षित करे और उस अन्याय को दूर करावे। जहाँ राज्य की उचित आलोचना करना प्रत्येक नागरिक का अधिकार है वहाँ राज्य को अनुचित आक्षेपों से बचाना भी उसका कर्तव्य है। अशान्ति उत्पन्न करने वाली किंवदन्तियों और निर्मूल सुनी-सुनाई बातों के प्रचार को रोकना प्रत्येक देशहितैषी का कर्तव्य है। प्रत्येक नागरिक को राज्य अपना समझना चाहिए। राज्य की अनुचित बुराई से राज्य के कार्य-संचालन में बाधा पड़ती है। राज्य के कार्यों की उचित व्याख्या कर अपने कार्य भार सम्हालने में उसका सहायक होना प्रत्येक नागरिक का पुनीत कर्तव्य है।

नागरिक अपने कर्त्तव्यों का पूर्णतया पालन करता हुआ अपने शरीर सम्पत्ति एवं वैयक्तिक, पारिवारिक तथा जातीय स्वाभिमान की रक्षा, भाषण की स्वतंत्रता, हर प्रकार की व्यापारिक सुविधा, अस्पताल, पुस्तकालय आदि सार्वजनिक संस्थाओं की स्थापना, नौकरियों में समानता का व्यवहार तथा राजकीय न्याय-विधान में

अधिकार

अभेदभाव आदि नागरिक अधिकारों के लिए झगड़ सकता है। जब तक हम दूसरों के न्याय-पूर्ण अधिकारों में बाधक न हों तब तक राज्य से अपनी धन सम्पत्ति तथा अपने जीवन की रक्षा चाहना हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है। जहाँ अधिकार का सदुपयोग हमारा कर्तव्य है वहाँ उसकी माँग करना हमारा अधिकार है। यदि हमारे भेजे हुए प्रतिनिधि ठीक काम नहीं करते हैं तो उनके लौटाये जाने की माँग करना हमारा अधिकार है। शिक्षा और सफाई की माँग करना हमारा हक है। अपने अधिकारों के लिए उदासीन रहना अपने प्रति अन्याय है। जो अपने को प्राप्य अधिकारों से वञ्चित रखता है वह अन्याय को प्रोत्साहन देता है और दूसरों के लिए बुरा उदाहरण उपस्थित करता है। अधिकारों के लिए जब झगड़ना हो तब वैयक्तिक लाभ की भावना से नहीं वरन् सामाजिक लाभ को अपने सामने रखना चाहिए। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि दूसरों से मनुष्योचित व्यवहार करते हुए समाज को उन्नतिशील बनाने में सहायता देना नागरिक का कर्तव्य है और अपने साथ मनुष्योचित व्यवहार की माँग उसका अधिकार है।

---

४७. लोकतंत्र बनाम तानाशाही

मानव सभ्यता के विकास में पितृराज से आरम्भ करके शासन-पद्धति ने कई रूप बदले हैं। एक प्रकार से हमारा इतिहास शासन-पद्धतियों का प्रयोग-भवन रहा है। इन पद्धतियों में राजतंत्र (Monarchy), लोकतंत्र (Democracy), अल्पतंत्र (Aristocracy), नौकरशाही (Beurocracy) और तानाशाही (Dictatorship) मुख्य हैं। वास्तव में तानाशाही का किसी भी तंत्र के साथ योग हो सकता है, क्योंकि लोकतंत्र या राजतंत्र कोई भी शासन-सत्ता किसी एक व्यक्ति को कार्य करने का पूर्ण अधिकार सौंप सकती है। तानाशाह अपना अधिकार तो प्रायः लोकमत से प्राप्त करता है, परन्तु अपना कार्य करने में पूर्णरूपेण स्वतन्त्र रहता है।

लोकतंत्र-शासन के यद्यपि कई रूप हैं. तथापि उसका सामान्य गुण

यह है कि उसमें लोकमत की प्रधानता रहती है । राज्य-शासन में ही क्या, किसी भी संस्था में लोकमत को प्रधानता देना उस संस्था को जनता की दृष्टि में ऊँचा उठा देता है। लोकतंत्र शासन की कई परिभाषाएँ दी गई हैं, किन्तु उनमें एब्रेहम लिंकन की परिभाषा सब से अधिक लोकप्रिय हुई है । वह इस प्रकार है—Government of the people, by the people, for the people, by all, for all—अर्थात् जनता द्वारा, जनता के हितार्थ, जनता का शासन, सबके द्वारा सबके हित के लिए शासन। मेज़िनी की परिभाषा कुछ भिन्न है किन्तु वह वास्तविक आदर्श के अधिक निकट है; वह है The Progress of all through all under the leading of the best and the wisest. श्रेष्ठतम और बुद्धिमत्तम के नेतृत्व में सब के द्वारा सब की उन्नति । वास्तव रूप में तो लोकतंत्र यूनान के नगर-राज्यों (City states) में होता था, क्योंकि इनके छोटे होने के कारण वह व्यावहारिक हो सकता था। वहाँ भी गुलाम लोग, जो उच्चवर्ग से प्रायः दुगनी संख्या में थे, उस शासन-सत्ता से बाहर समझे जाते थे क्योंकि उनका व्यक्तित्व उनके मालिकों के व्यक्तित्व में सम्मिलित रहता था । बौद्ध-कालीन भारत में छोटे-छोटे राज्यों की परिषदों में प्रायः लोकतन्त्र प्रणाली से ही काम होता था और वह यूनानी नगर राज्यों से मिलती-जुलती थी।

भगवान बुद्ध से यह पूछे जाने पर कि वृजि राज्य पर आक्रमण किये जाने में सफलता होगी या नहीं, उन्होंने नीचे के शब्दों में अच्छे राज्य का आदर्श बतलाया था और वह लोकतंत्र राज्य ही का था—'हे ब्राह्मण! जब तक वृजि जाति में एकता है, जब तक वे मिल कर कार्य करते रहेंगे, जब तक वे सदाचार और सत्प्रथाओं का आदर करते रहेंगे, जब तक वे लोग अपना कार्य सार्वजनिक सभाओं में विचार कर करते रहेंगे, जब तक वे लोग गुरुजनों की सेवा में रत रहेंगे, कुल-स्त्रियों तथा कुल-कुमारियों का समुचित आदर करते रहेंगे,तब तक उस जाति के अधःपतन की सम्भावना नहीं है।' इसमें राजनीति के साथ धर्मनीति भी शामिल है।

पहले का सा लोकतन्त्र आजकल सम्भव नहीं। आजकल तो लोकतन्त्र

राज्यों में प्रतिनिधि-शासन है। प्रतिनिधियों के चुनाव में प्रत्येक वयस्क अर्थात् होश सँभाले हुए मनुष्य को अपना मत देने का अधिकार रहता है। वह किसी सामाजिक, धार्मिक, जातीय तथा अन्य ऐसे ही कारण से अपने मताधिकार से वञ्चित नहीं किया जा सकता। जनता में लोक-शासन का मान है, किंतु तानाशाही की सफलता देख कर लोगों का झुकाव उसकी ओर भी होता जाता है। आपत्-धर्म के रूप में अर्थात् युद्ध आदि की विशेष परिस्थिति में तो तानाशाही की उपयोगिता सभी स्वीकार करते हैं, किंतु प्रश्न यह हो जाता है कि जो आपत्-धर्म है वह क्या स्थायी धर्म भी बनाया जा सकता है? वास्तव में पोप (Pope) के कथनानुसार वही शासनप्रणाली श्रेष्ठतम है जिसका पालन श्रेष्ठतम रीति से हो (That government is best which is administered best) और यह बात सभी शासन-पद्धतियों के सम्बन्ध में कही जा सकती है। रामराज्य राजतन्त्र में आदर्श रहा है। उसमें लोकमत का पूर्ण आदर था। राजा भी अपने को नियम के बाहर नहीं समझता था। उसके सलाहकार निःस्वार्थ और त्यागी होते थे। रामराज्य के सम्बन्ध में गोस्वामी जी कहते हैं—

बैर न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई।
नहिं दरिद्र कोउ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छनहीना।

इस राज्य में पूर्ण मानसिक साम्य के साथ पूर्ण भौतिक सम्पन्नता थी। ऐसे ही राज्य को दृष्टि में रखते हुए भगवान कृष्ण ने 'नराणाञ्च नराधिपः' की बात कही थी।

सभी राज्यों की बागडोर प्रायः कुछ चोटी के आदमियों के हाथ में होती है। यह बात अल्पतन्त्र पद्धति की भी सार्थकता सिद्ध करती है। तानाशाही में भी लोकतन्त्र के तत्त्व रहते हैं और लोकतन्त्र में तानाशाही के। दोनों के बुरे से बुरे और अच्छे से अच्छे रूप हो सकते हैं। किन्तु जहाँ तक सिद्धांत का प्रश्न है लोकतन्त्र राज्य जनता की विचारधारा को अधिक सन्तुष्ट करते हैं, क्योंकि उनमें शासित की सब से अधिक रजामन्दी रहती है और यही अच्छे शासन का व्यापक गुण है।

लोकतन्त्र राज्य में शासन जनता के प्रति उत्तरदायी रहता है। जनता सीधे तौर से नहीं किन्तु थोड़े हेर-फेर के साथ शासन का नियंत्रण करती है। जनता के हित-साधन में सजग रह कर ही उसके प्रतिनिधि अपने पुनर्निर्वाचन की आशा कर सकते हैं। जनता में से चुने जाने के कारण उसके प्रतिनिधि उसके सुख-दुःख की बात जानते हैं। उनके लिए यह नहीं कहा जा सकता कि 'जाके पाँय न फटी बिवाई सो का जाने पीर पराई'। लोक-तन्त्र राज्य में कोई अपने को नीचा नहीं समझता। सब के ही स्वाभिमान की रक्षा होती है और कम से कम मताधिकार प्राप्त करने के समय उनको अपने प्रतिनिधियों या उनके एजेंटों से मिलने का अवसर मिलता है और उस समय उनके मन में भी अपने अस्तित्व का भान हो कर आत्म-भाव में वृद्धि होती हुई प्रतीत होती है। यह जनता के मानसिक स्वास्थ्य के लिए बहुत ही आवश्यक है।

लोकतन्त्र राज्य जनता में राष्ट्रीय और देश-प्रेम की भावना को स्वाभाविक रीति से जागरित करता है। इस कथन का यह अभिप्राय नहीं कि अन्य प्रकार के शासनों में देश-प्रेम नहीं होता, किन्तु इस में देश-प्रेम के लिए अधिक उत्तेजना मिलती है। शासित वर्ग में मंथरा की मनोवृत्ति नहीं रहती कि 'कोउ नृप होइ हमें का हानी, चेरी छाँड़ि न होउब रानी'। इसमें किसी वर्ग विशेष का प्रभुत्व नहीं रहता। यदि बहुसंख्यक समुदाय का प्रभुत्व होता है तो भी सकारण होता है। फिर बहुसंख्यक वर्ग के जो प्रतिनिधि अल्पसंख्क वर्गों को अपने साथ कर लेते हैं उनको सफलता के लिए अधिक गुंजाइश रहती है। इसमें सब के जन्मसिद्ध अधिकार समान होते हैं। कम से कम, सिद्धांतरूप से, अब तो भारत का प्रत्येक बालक देश का राष्ट्रपति होने के स्वप्न देख सकता है, केवल स्वप्न ही नहीं वह स्वप्न चरितार्थ भी हो सकता है। देवताओं की सभा की भाँति लोकतंत्र राज्य में किसी की छुटाई-बड़ाई का प्रश्न नहीं होता। इसमें क्रांति का भी विशेष भय नहीं रहता। इस प्रकार की शासन-प्रणाली में शक्ति के साथ उत्तरदायित्व का समन्वय रहता है जो कि उसको दानवी होने से बचाये रखता है।

लोकतन्त्र शासन का नैतिक और शिक्षा सम्बन्धी पक्ष बहुत प्रबल है।

उसमें सब से बड़ी बात यह है कि जिनका धन व्यय होता है उनकी आवाज़ भी सुनी जाती है। जो वंशी बजाने वाले को धन देता है वह उसकी धुन के सम्बन्ध में भी आदेश दे सकता है—'He who pays the piper must command the tune' यह लोकोक्ति लोकतंत्र राज्यों में बहुत अंश में चरितार्थ हो सकती है। इसके अतिरिक्त प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को शासनसत्ता का अंग होने का गौरव मिलता है और उसे शासन की नीति और गति-विधि के सम्बन्ध में ज्ञान भी रहता है। मतप्रदान के समय प्रत्येक नागरिक को उत्तरदायित्व की पूर्ति की शिक्षा के साथ नागरिकता-सम्बन्धी चरित्र-निर्माण का सुअवसर भी मिलता है।

लोकतन्त्र शासन के जहाँ गुण हैं वहाँ दोष भी हैं। उसमें मतों की गिनती होती है तोल नहीं होती। उसमें संख्या का महत्त्व है, गुण का नहीं। चन्दन और बबूल एक बराबर हैं। धन्नू कुँजड़े का वोट उतना ही मूल्य रखता है, जितना कि डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद, पंडित जवाहरलाल, राहुल सांकृत्यायन, डा० सुनीतिकुमार चट्टोपाध्याय या श्री जयचन्द्र विद्यालंकार का। इन लोगों की वैयक्तिक योग्यता का कुछ मूल्य नहीं रहता। लोकमत प्रायः प्रगति-विरोधी होता है। चेचक के टीकों के सम्बन्ध में लोकमत कितना विरुद्ध था? रेलगाड़ी के प्रचार में विलायत की जनता बाधक ही सिद्ध हुई थी। लोकमत के आधार पर हिन्दुस्तान से सती-प्रथा और बाल-विवाह को उठाने के लिए अनेकों वर्ष लग जाते।

लोकतन्त्र शासन में व्यक्ति की गौरव-वृद्धि होती है, किन्तु उसका दुरुपयोग भी पूरा-पूरा हो जाता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने को शासक समझने लगता है। नाउओं की बरात में सब ठाकुर ही ठाकुर होते हैं। जनता शासकों और अधिकारियों पर अनुचित दबाव डालने लगती है। मत का क्रय-विक्रय भी होने लगता है और योग्यता की अपेक्षा धन का मूल्य बढ़ जाता है। जब क्रय-विक्रय की नौबत आती है तब खरीदने को बबूल ही मिलता है। योग्यतम की अपेक्षा विपुल प्रभावशाली या अधिक धनवान व्यवस्थापक सभाओं में पहुँच जाते हैं। यद्यपि किन्हीं-किन्हीं शासनों में विशेषज्ञों के मानसिक तथा आर्थिक भार से

जनता दब जाती है, और वे मूल रोग से भी अधिक आपत्तिजनक सिद्ध होते हैं, तथापि कहीं-कहीं लोकतन्त्र में अयोग्य लोगों के हाथ में शासन की बागडोर आ जाने से विशेषज्ञों की बड़ी छीछालेदर भी होती है और उसके फलस्वरूप नये प्रयोगों में भारी हानि उठानी पड़ती है। विचार-विनिमय शासन के लिए बड़ी आवश्यक वस्तु है, किन्तु उसके लिए समय की अपेक्षा रहती है। दो मुल्लाओं में मुर्गी हराम होती है, किन्तु जहाँ बहुत से मुल्ले हों वहाँ का अल्ला ही बेली होता है। (Too many cooks spoil the broth) अर्थात् रसोइयों का बाहुल्य रसोई को खराब कर देता है, यह बात प्रायः तो नहीं किन्तु कभी कभी अवश्य लोक-शासन में चरितार्थ हो जाती है। 'मुंडे मुंडे मतिर्भिन्ना'। व्यवस्थापक सभा का प्रत्येक सभासद् बुद्धि कौशल और वाक्पटुता का प्रदर्शन करने की धुन में वृथा समय नष्ट करता है। व्यक्ति की दीर्घसूत्रता की अपेक्षा समाज या सभा की दीर्घसूत्रता कार्य-संपादन में अधिक बाधा डालती है। बहुमत कभी-कभी भेड़िया-धसान में पड़ कर अधिक वाचाल से प्रभावित हो जाता है। इसलिए क्रिया का भार थोड़े ही आदमियों को सौंपा जाता है और लोकतन्त्र अल्पतन्त्र (Aristocracy) का रूप धारण कर लेता है। व्यवहार में तो लोकतन्त्र-राज्यों में भी शासन-सूत्र एक ही आदमी के हाथ में आ जाता है। शक्ति और प्रतिभा का चमत्कार निष्फल नहीं होता।

लोकतंत्र की उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही संसार में तानाशाही का जन्म हुआ है। प्राचीन रोम में भी एकाधिकारी तानाशाह नियुक्त होते थे। बहुत से तानाशाह लोक-मत से शासन-सूत्र ग्रहण करते हैं और बहुत से अपने आतङ्क के कारण लोक-मत को हाथ में ले लेते हैं। तानाशाही राज्य एक प्रकार से राजतंत्र ही होता है। उस में नौकरशाही की सी यान्त्रिक हृदय-हीनता भी नहीं होती और तानाशाह अवसर पर लोक-प्रिय राजा की भाँति नियमों के जाल से ऊपर भी उठ सकता है। राजतंत्र की भाँति तानाशाही वंशानुगत नहीं होती। इसलिए वह दीपज्योति के कज्जल-स्वरूप योग्य पिता की अयोग्य सन्तान के कलुष से बची रहती है। तानाशाह प्रायः कीचड़ के कमल की भाँति दीन-हीन परिस्थिति से उत्पन्न हो कर अपने अदम्य उत्साह, लौह-दृढ़ता,

कष्ट-सहिष्णुता और पौरुष के बल पर ऊँचा उठ कर 'वीरभोग्या वसुन्धरा' की लोकोक्ति को सार्थक करते हैं।) फिर तो चलती का नाम गाड़ी है। लोक-मत भी छायानुगामी हो जाता है। वर्तमान युग के तानाशाहों में कमाल पाशा, हिटलर, मुसोलिनी और स्टैलिन प्रमुख हैं, किन्तु ये सब एक से नहीं हैं। सबकी लोकप्रियता का अलग-अलग रहस्य है, किन्तु सभी दीन-हीन परिस्थिति से ऊँचे उठे हैं।

तानाशाही में ऐसे गुण अवश्य हैं जो राष्ट्र-निर्माण में सहायक होते हैं। कमाल पाशा ने टर्की की काया पलट दी। किन्तु इसमें भी दोष है। इसमें वाचाल की विजय होती है। एकाधिकार संकट के समय में तो वरस्वरूप होता है किन्तु वही साधारण परिस्थिति में अभिशाप का रूप धारण कर सकता है। 'परम स्वतंत्र सिर पर नहिं कोई' की परिस्थिति में अगर सिर फिर जाय तो कोई आश्चर्य नहीं। 'प्रभुता पाइ काहि मद नाही'। तानाशाह एक बार शक्ति प्राप्त कर ऐसे साधनों को काम में लाता है कि जनता उससे अधिकार वापिस लेने में असमर्थ हो जाती है। तानाशाही में व्यक्ति की स्वतंत्रता न्यूनातिन्यून हो जाती है। फासिज्म में एक ही पार्टी का बोल-बाला ही नहीं रहता वरन् दूसरी पार्टियों का अस्तित्व मिटा-सा दिया जाता है। यद्यपि तानाशाही के लिए यह जरूरी नहीं कि उसकी वैदेशिक नीति क्रूर हो तथापि व्यवहार में ऐसा ही हुआ है। इस मामले में स्टैलिन की तानाशाही अधिक संयत है। राष्ट्र का वैभव बढ़ाना तानाशाह का मूल ध्येय रहता है और सदाशय भी होता है, किन्तु वह जिन साधनों को काम में लाता है वे सर्वथा नीति-सम्मत नहीं होते। तानाशाह राष्ट्र के धरातल से ऊँचा उठ कर अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर नहीं जाता। वह नैतिक बल की अपेक्षा भौतिक बल को ही महत्त्व देता है। वही उसका कवच है, वही उसका इष्ट और उपास्य है। मुसोलिनी और हिटलर के पतन ने यह सिद्ध कर दिया है कि जनता की तानाशाही के प्रति सदा एक सी श्रद्धा नहीं रहती।

न्याय और नीति की दृष्टि से लोक-तंत्र शासन सर्वश्रेष्ठ कहा जा सकता है। इसमें व्यक्ति और जनता का मान रहता है, सबको समान अवसर मिलने

की सम्भावना रहती है। लोकतंत्र शासन में दोष अवश्य हैं किन्तु जुँओं के भय से कथरी नहीं छोड़ी जाती, भूसी को फटक कर गेहूँ का संग्रह करना चाहिए। व्यवहार की दृष्टि से तानाशाही अधिक लोक-प्रिय है। वह चाहे तो राम-राज्य स्थापित कर सकती है, किन्तु राज्य और अधिकार का त्याग करने वाले और लोकमत को प्रतिष्ठा देने वाले राम संसार में देश के भाग्य से ही उत्पन्न होते हैं।

---

४८. इतिहास, उसकी सीमाएँ, उसके अध्ययन का उद्देश्य और महत्त्व

मनुष्यों की नैसर्गिक वृत्तियों में आत्मरक्षा सब से प्राचीन और प्रबल है। सारी एषणाएँ—पुत्र-एषणा, दार-एषणा, लोक-एषणा, वित्त-एषणा, प्रभुत्व-कामना आदि इसी एक वृत्ति के अन्तर्गत हैं।

मनुष्य का सारा क्रिया-व्यवसाय इसी एक भाव से प्रेरित होता है।

इतिहास : आत्म-रक्षा का रूप

आत्म-रक्षा करने वाला मनुष्य भी अपनी यशःप्रधान आत्मा की रक्षा के लिए अपने सांसारिक जीवन का अन्त कर देता है। देश की स्वतन्त्रता के लिए जलती आग में कूद पड़ने वाले वीरव्रती अपनी विस्तृत आत्मा की रक्षा के लिए ही ऐसा कार्य करते हैं।

हमारा सारा साहित्य और विज्ञान भी आत्म-रक्षा का स्वरूप है। हमारा धर्म हमारे वर्तमान और भविष्य की रक्षा करता है। काव्य भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों की ही रक्षा के उद्देश्य से प्रवृत्त होता है। विज्ञान धर्म की रक्षा की भाँति वर्तमान और भविष्य से सम्बन्ध रखता है। वह प्राकृतिक शक्तियों पर मनुष्य का अधिकार स्थापित कर उसकी रक्षा करता है। दर्शन आत्मा और संसार के तत्त्व का विवेचन कर आत्मा ही नहीं परमात्मा की भी रक्षा करता है। एक बार श्री जगन्नाथ जी का द्वार बन्द होने के कारण प्रवेश न पा सकने पर एक तार्किक ने गर्व के साथ लिख ही तो दिया था कि 'नास्तिकों से पाला पड़ने

पर भगवान हम ही तुम्हारी रक्षा करते हैं और हमारे लिये आप द्वार बंद किये बैठे हैं—।' इतिहास हमारे भूत की रक्षा कर भविष्य की आत्मरक्षा और आत्मोन्नति का मार्ग निर्धारित करने में सहायक होता है।

इतिहास शब्द का अर्थ है 'इति ह आस' ऐसा निश्चय से था। इतिहास किसी प्राचीन बात को कहता है। एक प्रकार से इसका क्षेत्र इतना विस्तृत है कि सारा विश्व इसके घेरे में आ जाता है। पृथ्वी का इतिहास, सूर्य का इतिहास, वनस्पतियों का इतिहास, विकास-क्रम में मनुष्य का इतिहास, विज्ञान का इतिहास, भाषा का इतिहास, साहित्य का इतिहास, धर्म का इतिहास, समाज का इतिहास, राजनीतिक सत्ता का इतिहास आदि इतिहास की शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं। इस प्रकार विश्व का ज्ञान-भण्डार इतिहास के विभिन्न रूपों का समुदाय माना जा सकता है। किन्तु आज कल श्रम-विभाजन (Division of Labour) और विशेषीकरण (Specialisation) के कारण इतिहास के इन विभिन्न रूपों को अलग-अलग नाम दे दिये गये हैं और अपने-अपने विषय का स्वराज्य दे दिया गया है। जैसे—सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी आदि ग्रहों उपग्रहों का इतिहास ज्योतिष अथवा खगोल विद्या के सुपुर्द कर दिया गया है। पृथ्वी का इतिहास भूगर्भ-विद्या का विषय बन गया है। वह पृथ्वी की तहों और पर्तों का अध्ययन कर उसकी आयु निश्चित करता है। मनुष्य नाम की जानवरों की उपजाति का इतिहास प्राणि-शास्त्र के अन्तर्गत विकासवाद का विषय बन गया है। भाषा के इतिहास को हम भाषा-विज्ञान कहने लगे हैं। समाज का इतिहास समाजशास्त्रियों की चिन्ता का विषय है। फिर इतिहास का उचित क्षेत्र क्या है? किसी जाति के राजनीतिक विकास या ह्रास के क्रमिक लेखन को इतिहास कहते हैं।

क्षेत्र

इतिहास में केवल तिथियों का ही एकत्र करना नहीं (उर्दू शब्द तवारीख इसी का द्योतक है, तवारीख तारीख की जमा अर्थात् बहुवचन है।) वरन् विभिन्न घटनाओं में कार्य-कारण शृङ्खला को भी देखना होता है और शायद इससे भी कुछ अधिक; वह यह कि संघर्षों, अत्याचारों, उत्थान, उन्नति और ह्रास के चक्रों से

उद्देश्य

मानव जाति के कौन से हित या लक्ष्य की पूर्ति होती है। यह इतिहास की मीमांसा या दर्शन का विषय कहा जा सकता है। किन्तु इतिहास का अध्ययन इससे अछूता नहीं रह सकता। राजनीतिक उन्नति भी सामाजिक, औद्योगिक, बौद्धिक, नैतिक उन्नति से स्वतन्त्र नहीं रह सकती। इतना ही नहीं, राष्ट्रों के उत्थान, पतन और विस्तार की कार्य-कारण शृंखला के अध्ययन में वातावरण और अन्नजल की भौतिक परिस्थितियों को भी विचारना आवश्यक होता है, क्योंकि बहुत से उपनिवेशों का निर्माण भौतिक परिस्थितियों के कारण ही हुआ है और बहुत से युद्ध भी औद्योगिक और आर्थिक कारणों पर ही निर्भर रहते हैं। इस प्रकार जो विषय दूसरे विज्ञानों को सौंप दिये गये थे, वे सब इतिहास के घेरे में आ जाते हैं। अन्तर इतना ही है कि अन्य विज्ञान उन विषयों का विशेष रूप से कुछ-कुछ निरपेक्ष भाव से अध्ययन करते हैं और इतिहास उनका देश की उन्नति या ह्रास के अङ्ग-स्वरूप अध्ययन करता है। इतिहास में राजनीतिक दृष्टिकोण मुख्य रहता है। इसलिए उसका राजनीति से विशेष सम्बन्ध है।

अन्य शास्त्रों से सम्बन्ध

इतिहास का राजनीति से ही सम्बन्ध नहीं है वरन् अन्य शास्त्रों से भी है। स्कूलों में प्रायः इतिहास के साथ भूगोल का गठबंधन रहता है। इसका कारण है, ऐतिहासिक घटनाएँ भौगोलिक सीमाओं को बदलती रहती हैं। इतिहास का सम्बन्ध काल-क्रम से है तो भूगोल का सम्बन्ध देश के विस्तार से है। इस प्रकार इतिहास और भूगोल मिल कर देश और काल (Space and Time) के अध्ययन की पूर्ति करते हैं।

इतिहास का सम्बन्ध साहित्य से भी है। राजनीतिक परिस्थितियाँ साहित्य के निर्माण में साधक या बाधक ही नहीं होतीं, वरन् उसकी गतिविधि भी निश्चित करती हैं। किसी साहित्य का इतिहास राजनीतिक इतिहास की जानकारी के बिना लिखा नहीं जा सकता। भूषण का औरङ्गजेब के समय में होना आकस्मिक घटना नहीं थी, तत्कालीन परिस्थितियों ने भूषण का निर्माण किया। हिन्दी-साहित्य में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के समय से जो राजनीतिक धारा चली है, वह

भी राजनीतिक परिस्थितियों का प्रतिफलन है। वह हम को नये काव्यों और नाटकों के लिए सामग्री देता है। उसके अध्ययन से जातीय मनोविज्ञान में सहायता मिलती है। इतिहास अर्थशास्त्र को भी मूल्यवान सामग्री प्रदान करता है। इतिहास का पुरातत्त्व विद्या (Archaeology) से भी चोली-दामन का साथ है। दोनों ही एक दूसरे के सहायक और पूरक हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा की खुदाई इतिहास पर नया प्रकाश डालेगी और इतिहास का अध्ययन प्रत्येक खुदाई के मूल्याङ्कन में सहायक होता है।

इतिहास का इतने शास्त्रों से सम्बन्ध उसकी उपादेयता का ज्वलन्त प्रमाण है। किन्तु इतिहास के महत्त्व की इतिश्री इतने में ही नहीं हो जाती।

महत्त्व

वह भूत को वर्तमान में घसीट ला कर हमारे अनुभव का विस्तार ही नहीं करता वरन् हमको उन गर्तों में गिरने से बचाता है, जिनमें कि हमारे पूर्वज गिर चुके हैं। वह गये वक्त को लौटा ला कर हमारे प्राचीन वैभव का चित्र हमारे सामने उपस्थित कर देता है। उससे हमारे आत्म-भाव की तृप्ति ही नहीं होती वरन् हमको कार्यशील होने के लिए प्रोत्साहन भी मिलता है। भूत को भविष्य की सारिणी मान कर हम अपने भविष्य को उज्ज्वल बना सकते हैं। इतिहास-प्रेम देश-प्रेम की आवश्यक सीढ़ी है। आत्म-परिचय द्वारा ही अपनत्व बढ़ता है।

इतिहास की उपादेयता के विरुद्ध दो प्रश्न उठाये जा सकते हैं। एक यह कि जो नश्वर है उसकी रक्षा से क्या लाभ? दूसरा यह कि जहाँ गौरव-

आक्षेपों का निराकरण

वृद्धि होती है वहाँ गौरव का ह्रास भी होता है। कभी-कभी इतिहास के पढ़ने से हीनता-भाव की भी वृद्धि होती है। इस सम्बन्ध में यह भी कहा जा सकता है कि इतिहास के गड़े मुर्दों को उखाड़ कर अर्थात् पुराने लड़ाई-झगड़ों की कटु स्मृतियों को जगा कर वर्तमान की सम्भावनाओं और राष्ट्रीय एकता के विचारों में क्यों बाधा डालें? यह राष्ट्रीयता और मनुष्यत्व के विरुद्ध है। इन आक्षेपों में पहला तो निर्मूल है। यदि सब कुछ नश्वर है तो हमारा कोई भी कार्य अर्थ नहीं रखता। स्वास्थ्य-रक्षा के सभी साधन निष्प्रयोजन होते हैं। संसार यदि स्वप्न भी है तो

उस स्वप्न के भीतर भी तारतम्य है । इतिहास में केवल उन्हीं चीज़ों का महत्त्व नहीं है जो हमारे गौरव को बढ़ाती हैं वरन् वे बातें भी (यदि वे सच्ची हैं) जो हमारे आत्म-भाव को गिराती हैं, अपना मूल्य रखती है । प्रत्येक हीनता-भाव, यदि उसका सदुपयोग किया जाय, उच्चता के लिए सोपान का काम दे सकता है । हमारी भूत की असफलता भविष्य की सफलता का कारण बन सकती है । हम उन गढ़ों और खाइयों से बच सकते हैं जिनमें हमारे पूर्वज गिरे थे और जो हमें निगल जाने के लिए अब भी मुँह खोले हुए हैं । रही गड़े मुर्दे उखाड़ने की बात; वैर और द्वेष उस मनुष्य के लिए कोई अर्थ नहीं रखता जो प्रत्येक घटना में किसी व्यापक ईश्वरीय उद्देश्य की पूर्ति देखता है । विदेशी आक्रमणों से जहाँ हानि पहुँची है वहाँ ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल के प्रसार में सहायता और प्रेरणा भी मिली है । सच्चे इतिहास से बहुत सी गलतफहमियाँ भी दूर हो सकती हैं । सद्व्यवहार से कल के वैरी भी आज के मित्र बन सकते हैं । दीरघ दाघ निदाघ से कहलाने हुए अहि मयूर मृग बाघ अपने स्वाभाविक वैर को छोड़ सकते हैं; फिर हम तो इन्सान हैं । अभक्ति, महामारी, गरीबी और भुखमरी दीरघ दाघ निदाघ से कम नहीं हैं ।

इतिहास में यद्यपि निष्पक्षता लाना कठिन है फिर भी उदार और वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखने की आवश्यकता है । यह हम मानते हैं कि इतिहास जातीय दृष्टिकोण से लिखे जाते हैं । विजेता लोग अपने आत्म-भाव की तृप्ति के लिए विजित जातियों के इतिहास को गिरा कर लिखते हैं, किन्तु यदि विजित जातियाँ अपना इतिहास लिखें तो शायद वे भी दूसरे प्रकार की गलती कर सकती हैं । 'आर्य लोग भारतवर्ष में बाहर से आये थे' इस सिद्धांत के प्रचार से विदेशी शासकों को अपना शासन कायम रखने के लिए अवश्य कुछ नैतिक आधार मिल जाता है, किन्तु केवल इस कारण ही यह धारणा गलत नहीं सिद्ध की जा सकती । इसके लिए स्वतन्त्र और अकाट्य प्रमाणों की खोज की आवश्यकता है । ऐसे मामलों में हमें वैज्ञानिक बुद्धि से काम लेना चाहिए, पक्ष और विपक्ष दोनों ही ओर की उक्तियों को तर्क की तुला में तोलना चाहिए । पक्ष की

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

उक्तियों के ग्रहण करने के लिए जैसे सजग मनोवृत्ति की आवश्यकता है वैसे ही विपक्ष की उक्तियों के लिए भी मुक्तद्वार रहना अभीष्ट होगा। इतिहास में भेड़ियाधसान में पड़ना या फैशन के भूत के वशीभूत होना आत्महत्या करना होगा। इतिहासज्ञ के लिए केवल मानसिक आलस्यवश किसी प्रचलित वाद को स्वीकार कर लेना बुद्धि का दिवालियापन है। इतिहास-वेत्ता की वैज्ञानिक की-सी परीक्षा-बुद्धि होनी चाहिए।

कुछ लोग जातीयता के नशे में अंग्रेजों की सब धारणाओं पर हड़ताल फेरने को तैयार हो जाते हैं और इसी प्रकार कुछ लोग विदेशी विद्वानों से निष्पक्षता का प्रमाण प्राप्त करने के लिए बिना सोचे समझे जातीय भावनाओं के विरुद्ध फतवा देने को प्रस्तुत हो जाते हैं। यह दोनों ही मनोवृत्तियाँ दूषित हैं।

हम को इस बात की आवश्यकता है कि निष्पक्षता के साथ हम इतिहास-निर्माण का काम अपने हाथ में लें। हमको इस बात से हतोत्साह न होना चाहिए कि हमारे धर्मग्रन्थ, रामायण, महाभारत और पुराण काव्यमय इतिहास हैं। इनमें से काव्य का कर्दम (काव्य-प्रेमी क्षमा करें, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से काव्यांश कर्दम ही है) दूर करना होगा। हमारे शिला-लेख, दानपत्र, पट्टे, परवाने प्राचीन भग्नावशेष आदि सामने गवाही देने को तैयार हैं। एक-एक ईंट इतिहास की पोथी बन सकती है। परिश्रम और अध्यवसाय की आवश्यकता है। सत्य का अमृत-घट ऐतिहासिक सामग्री के मन्थन से ही निकलेगा। इसके लिए हम विदेशियों से भी सहयोग कर सकते हैं, उनके परिश्रम से लाभ उठा सकते हैं; अन्धानुकरण की भावना से नहीं वरन् एक सजग निष्पक्ष परीक्षक की दृष्टि से। तभी ज्ञान के आलोक का प्रसार होगा और भ्रान्त धारणाएँ मिटेंगी।

इतिहास-निर्माण

४६. ग्राम-सुधार

'गाँवों और ग्रामीणों की सेवा का कार्य
परमपिता परमात्मा का कार्य है।'

—महामना मालवीय जी

भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। इस देश के प्रायः पचहत्तर प्रतिशत निवासियों का जीवन खेती पर अवलंबित है। ये लोग तो गाँवों में रहते ही हैं; इनके अतिरिक्त इनके दैनिक जीवन में सहायता देने वाले बढ़ई, लोहार, चमार आदि मजदूरी पेशा लोग तथा इन पर शासन करने वाले जमींदार और कुछ बनिये ब्राह्मण भी इन्हीं गाँवों की जन-संख्या को बढ़ाते हैं। गाँव शहरों से प्राचीनतर हैं। कृषि-कार्य-निपुण आर्यों के प्रथम उपनिवेश ग्राम ही बने होंगे। कृषि की प्राण-स्वरूपा वर्षा से सम्बन्ध रखने के कारण ही इंद्रदेव सुरराज कहलाये होंगे। ग्रामों से ही भारतीय सभ्यता का उदय हुआ है। भारत-माता के गौरवगान में जो 'शस्य-श्यामला' तथा 'देश विदेशे वितरिछ अन्न' कहा जाता है, वह ग्रामों की ही बदौलत है। ग्राम-निवासी ही हमारे अन्नदाता हैं।

झोंपड़ियों में रह कर महलों के स्वप्न देखने वाली बात चाहे हास्यास्पद समझी जाय, परन्तु यह ध्रुव सत्य है कि अलकापुरी की स्पर्धा करने वाले मणि-माणिक्य-मंडित महलों की महिमा और गरिमा झोंपड़ियों की ही आधार-शिला पर स्थित है। ग्राम ही सच्चे देवमन्दिर हैं, क्योंकि कविसम्राट् रवि बाबू के शब्दों में हम कह सकते हैं "कि यदि तुझे ईश्वर के दर्शन करने हैं तो वहाँ चल, जहाँ किसान जेठ की दुपहरी में हल जोत कर चोटी का पसीना एड़ी तक बहा रहा है।'

ग्रामों की गौरव महिमा के चाहे जितने गीत गाये जायँ, ग्रामवासी हमारे पालक-पोषक होने के नाते चाहे विष्णु पद पर ही क्यों न प्रतिष्ठित कर दिये जायँ, किन्तु उनकी दशा ऐसी नहीं जिसकी कि कोई भी स्पर्धा करने की इच्छा रक्खे। ग्रामवासी दरिद्रता-दानव के चंगुल में पड़ कर अस्थिपंजरावशेष होते जा रहे हैं। वे सदा अतिवृष्टि, अनावृष्टि तथा शलभ-शुक-मूषकादि ईतियों

के भय से पनपने नहीं पाते। इन शास्त्र-प्रसिद्ध ईतियोंके अतिरिक्त बनिया, जमींदार, हाकिम, अफसरों के दौरे आदि और भी बहुत सी ईतियाँ उनकी जान का बवाल बनी रहती हैं। गाँव कीचड़ और गन्दगी के केन्द्र बने रहते हैं; उसके फलस्वरूप उनके निवासी रोग और मृत्यु के शिकार होते हैं।

बेचारा किसान आपादमस्तक ऋण-मग्न रहने के कारण अपने घर के घी-दूध का भी पूरा लाभ नहीं उठा पाता। गोचरभूमि की न्यूनता के कारण बेचारा अधिक जानवर नहीं रख सकता और जो दो एक रखता भी है, पैसे की चाह में उनका सारा दूध ट्रकों पर लद कर शहरों में पहुँच जाता जाता है। भोला किसान चाहे जिस कागज़ पर अँगूठा लगा देता है। सोते-जागते दिन-दूने रात-चौगुने बढ़ने वाले ब्याज से पुष्ट हो कर ऋण उसकी संपत्ति का शोषण कर लेता है। बीज के लिए अन्न घर में न रहने से बीज उधार लेना पड़ता है। वह अपने अज्ञान के कारण सहकारी-समितियों और तकावी का भी पूरा लाभ नहीं उठाने पाता। यदि महाजन से बचता है तो छोटे-छोटे पदाधिकारियों के लालच का शिकार बनता है। भेड़ जहाँ जाती है वहीं मुँडती है। दूसरों का अन्नदाता स्वयं भूखों मरता है, इससे बढ़ कर विधि की विडम्बना और क्या हो सकती है! अन्न की तेजी के कारण किसानों की आर्थिक दशा अवश्य सुधरी है और जमींदारी का भी शासन और अत्याचार उठने वाला है, किन्तु अभी उनकी शिक्षा-दीक्षा में विशेष उन्नति नहीं हुई है।

ग्रामों का ऋण स्वीकार करते हुए सरकार तथा लोक-सेवी देशभक्तों का ध्यान ग्रामों की दशा सुधारने की ओर गया है। कृषि-संबंधी शाही कमीशन तथा कृषि-विभाग इस बात के द्योतक हैं कि सरकार ने कृषकों की दशा सुधारना अपना कर्तव्य समझा है। प्राचीन काल में भी राजा जनक आदि प्रजा-हितैषी शासक स्वयं हल ले कर खेत में जाते थे। ये उपाख्यान किसान और राजा के घनिष्ठ सम्बन्ध के परिचायक हैं।

प्रत्येक प्रांत में किसी न किसी रूप में ग्रामोत्थान का कार्य सरकार की ओर से और कहीं-कहीं जनता के उद्योग से जारी है। पंजाब में गुड़गाँवाँ के डिप्टी कमिश्नर मिस्टर ब्रेन का नाम कृतज्ञता से लिया जाता है। उन्होंने

सन् १६२० से २८ तक सरकार की सारी शक्तियों को केन्द्रस्थ कर ग्राम सुधार का कार्य-क्रम जारी रक्खा। उन्होंने अपने समय में छह फुट गहरे चालीस हज़ार खाद के गढ़े खुदवाये। जिलों में कम्युनिटी कौंसिलें और सूबे में कम्युनिटी बोर्ड कायम हुए। ग्रामसुधार शिक्षा-केन्द्र भी स्थापित हुए। उत्तर प्रदेश में ग्रामोत्थान समितियाँ हैं। इनके द्वारा बहुत कुछ लाभदायक प्रकाशन का कार्य हुआ है। मैजिक लालटेनों, सिनेमा और रेडियो द्वारा स्वास्थ्यप्रद जीवन तथा देश के उद्योग धन्धों और कृषि-संबंधी उन्नति के साधनों पर प्रकाश डाला जाता है।

ग्रामोत्थान-कार्य में जनता और सरकार दोनों के ही सहयोग की आवश्यकता है। ग्रामोत्थान-कार्य, चाहे सरकार द्वारा हो और चाहे निजी उद्योग से हो, तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है।

(१) सफाई और स्वास्थ्य—यद्यपि धनाभाव के कारण गाँव में शहर की सी सफाई नहीं रक्खी जा सकती तथापि उद्योग से बहुत कुछ कार्य किया जा सकता है। घरों के पास के गढ़े मिट्टी से भरे जा सकते हैं। तालाबों और पोखरों पर मिट्टी का तेल डाल कर मच्छरों का पैदा होना या बढ़ना बन्द करने में विशेष कठिनाई न होगी। मैले के दबाने के लिए खाइयाँ खुदवाई जा सकती हैं। गोबर और कूड़ा भी गढ़ों में दबाया जा सकता है। उत्तर प्रदेश की गोरखपुर कमिश्नरी में छः महीने में ७६७ गढ़े भरवाये गये; २००० से ऊपर खाद के गढ़े खुदवाये गये, ६००० से अधिक घूरे साफ किये गये। गाँव की सफाई के लिए ऐसे कार्य बड़े उपयोगी हैं। कुओं का पानी पोटाशियम परमैंगनेट यानी लाल दवा से शुद्ध कराया जा सकता है। मकान अधिक हवादार बनाये जा सकते हैं। ऐसे बहुत से काम हैं, जिनके करने से थोड़े पैसे में बहुत कुछ लाभ होने की संभावना रहती है। गाँव के लोगों को चेचक और कालरा के टीकों के लिए तैयार कराना, मलेरिया के दिनों में कुनीन बाँटना आदि ऐसे काम हैं जिनमें जनता सरकार का हाथ बँटा सकती है। यथासंभव प्रत्येक तीन या चार गाँवों के वर्ग के लिए एक छोटा अस्पताल खुलवाना चाहिए और आवश्यक दवाइयाँ तो प्रत्येक गाँव के जमीदार या पटवारी के पास रक्खी जानी वांछनीय हैं। गाँव की दाइयों को प्रसूति-काम की शिक्षा दिलाना एक आवश्यक

कार्य है। गाँव वालों को शरीर और कपड़ों की सफाई के सम्बन्ध में मैजिक-लैंटर्न वा साधारण व्याख्यानों द्वारा शिक्षा देना बहुत लाभप्रद सिद्ध होगा।

(२) **आर्थिक**—यह समस्या बहुत बड़ी है। परन्तु सदुद्योग के आगे कोई कठिनाई नहीं रह जाती। कृषि-सुधार के लिए उत्तम-भूमि, उत्तम खाद, उत्तम बीज और सिंचाई का सुभीता आवश्यक उपकरण हैं। इन बातों में कुछ का सरकार से प्रबन्ध करा कर और कुछ के लिए अच्छी सलाह दे कर किसानों को कृषि-कार्य में द्विगुणित उत्साह के साथ प्रवृत्त किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक लोक-सेवी का यह भी कर्तव्य है कि वह किसान को अपनी उपज बाजार में अच्छे भाव से बेचने में सहायता दे।

पशुधन की उन्नति के लिए सरकार को गोचर-भूमियों का प्रबन्ध करना चाहिए। इसके अतिरिक्त अच्छी नसल के साँडों का भी प्रबन्ध होना आवश्यक है। जहाँ तक हो पशु-धन बाहर न जाने दिया जाय। पशुओं को बीमारियों से सुरक्षित रख कर उनको मरने से बचाया जाय। ग्राम-वासियों को बतलाया जाय कि पशु-सेवा एक धर्म है।

यद्यपि किसान लोग बड़े मेहनती होते हैं, तथापि वे सारा वर्ष कृषि-कार्य में नहीं लगे रहते। किसान को साल में छः महीने फ़ुरसत रहती है। रस्सी बटना, डलिया बनाना, शहद पैदा करना, रुई ओटना, चरखा कातना, कपड़ा बुनना, लाख पैदा करना, गुड़ बनाना, साबुन बनाना, ईंटें पाथना, इत्यादि कामों को करके किसान अपनी फ़ुरसत के समय का सदुपयोग कर सकता है।

कर्ज की समस्या सहयोग-समितियों द्वारा बहुत कुछ हल की जा सकती है। किंतु सहयोग-समितियों से लाभ उठाना सहज कार्य नहीं। उसके लिए भी शिक्षा की आवश्यकता है। सहयोग-समितियों में भी बहुत कुछ कागजी घोड़ों का काम रहता है। भेंट-पूजा भी चलती है। सुधारकों का काम है कि वे किसान को इनसे पूरा-पूरा लाभ उठाने में सहायता दें और यदि किसान का हिसाब बनिये से हो तो वे देखें कि बनिया किसान को लूटता तो नहीं है।

ग्रामीणों का बहुत-सा धन मुकदमेबाज़ी में भी व्यर्थ नष्ट होता है।

अब सरकार की ओर से पंचायत राज्य की आयोजना बन गई है और उसका विधान भी बन गया है। इस के लिए ग्राम-पंचायतों को खुलवाना तथा उनको सफल बनाने का उद्योग करना ग्राम सुधार का आवश्यक अंग है।

(३) शिक्षा-संबंधी—शिक्षा का प्रश्न बड़े महत्त्व का है। ग्रामीण लोगों को उच्च शिक्षा की आवश्यकता नहीं; परन्तु उनके लिए प्रारंभिक शिक्षा का होना विशेष लाभदायक होगा। ऐसे स्कूल खोले जाने चाहिए जिनमें कि बच्चों को दिन में तथा प्रौढ़ों को रात में शिक्षा दी जाय। प्रौढ़ों की शिक्षा का समय ऐसा रहे कि उनके दैनिक कार्य में बाधा न पड़े। गाँवों में पुस्तकालयों और वाचनालयों के खुलवाने से भी जनता की जानकारी बढ़ सकती है।

ग्रामीण लोगों के सामने सबसे बड़ा प्रश्न यह रहता है कि यदि वे अपने बच्चों को शिक्षा प्राप्त कराएँ तो उनकी मजदूरी और खेती-बाड़ी में हानि न हो। वर्धा की शिक्षा-सम्बन्धी योजना में इस ओर ध्यान दिया गया है। खेती के साथ उनको कुछ ऐसे उपयोगी धंधे सिखाये जायँ जिनसे वे अपने अवकाश के समय में कुछ धन-उपार्जन कर सकें। संक्षेप में ग्रामीणों की शिक्षा में विदग्धता की अपेक्षा उपयोगिता का अधिक ध्यान रखना चाहिए।

---

५०. सह-शिक्षा

इस बीसवीं शताब्दी में विरले ही ऐसे लोग होंगे जो स्त्री-शिक्षा की उपयोगिता में विश्वास न रखते हों। हमारी गृह-लक्ष्मियाँ हमारी अन्नपूर्णा ही नहीं वरन् सहचारिणी और सहधर्मिणी भी हैं। अशिक्षिता अथवा अर्धशिक्षिता स्त्रियों के साथ रह कर वैवाहिक जीवन का सामाजिक आनन्द कठिनाई से ही प्राप्त हो सकता है। स्त्रियाँ चाहे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में पुरुषों के साथ प्रतिद्वन्द्विता करें या न करें, फिर भी उनको सुयोग्य सहधर्मिणी बनाने के लिए उच्च-शिक्षा की आवश्यकता है।

अब प्रश्न यह होता है कि वह शिक्षा किस प्रकार दी जाय? बालकों के साथ-साथ अथवा पृथक् रूप से। शिक्षा घर पर भी दी जा सकती है; किन्तु

वह बहुत व्यय-साध्य होगी । एक व्यक्ति भिन्न-भिन्न विषयों के लिए भिन्न-भिन्न अध्यापक नहीं रख सकता और एक ही अध्यापक विभिन्न विषयों को एक सी सफलता के साथ पढ़ा भी नहीं सकता । जीवन में जिन सामाजिक गुणों की आवश्यकता है और जिनके बिना मनुष्य अनुदार, दम्भी, स्वजाति से घृणा करने वाला और कभी रोग एवं उन्माद ग्रस्त हो जाता है, उन गुणों का विकास भी घर की शिक्षा में मुश्किल से ही हो पाता है । लड़कों की भाँति लड़कियों की शिक्षा भी घर के बाहर होनी चाहिए ।

लड़कियों की प्रारम्भिक शिक्षा के लिए तो अलग स्कूल हैं, क्योंकि प्रारम्भिक शिक्षा से लाभ उठाने वाली बालिकाओं की संख्या पर्याप्त है, और उन पर जो व्यय किया जाता है उसका पूरा-पूरा बदला मिल जाता है । उच्च शिक्षा-प्राप्त करने वाली लड़कियों की संख्या थोड़ी होती है । उनके लिए अलग योग्य से योग्य अध्यापक रखना बहुत व्यय-साध्य है । भविष्य में तो चाहे सम्भव हो, किन्तु समाज की वर्तमान स्थिति में सुयोग्य अध्यापिकाएँ मिलना भी कठिन है । यह कोई नहीं चाहेगा कि अपनी बालिकाओं को उच्च शिक्षा दे कर भी योग्यतम अध्यापकों के विशेष ज्ञान से वञ्चित रक्खा जाय। यदि हमको अध्यापिकाएँ भी तैयार करना है तो उनको हमें योग्यतम अध्यापकों के सम्पर्क में रखना होगा। यह सम्भव है कि प्रत्येक प्रान्त में स्त्रियों के एक या दो उत्तम कालेज स्थापित किये जाएँ, किन्तु साधारण गृहस्थ अपनी बालिकाओं को बोर्डिंग हाउस में रखने का आर्थिक भार नहीं सह सकते ।

इन आर्थिक और शिक्षा-सम्बन्धी कठिनाइयों के अतिरिक्त एक बात यह भी है कि यदि हम चाहते हैं कि स्त्रियाँ जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में काम करके आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकें तो हमको उन्हें सह-शिक्षा द्वारा पुरुषों के सम्पर्क में आने और उनसे स्पर्धा करने के लिए तैयार करना चाहिए । जो स्त्रियाँ स्त्रियों के समाज से बाहर नहीं जातीं वे पुरुषों के साथ व्यवहार में हिच-किचाती हैं । हमारे समाज के बदलते हुए आदर्शों में पुरुषों के साथ व्यवहार की योग्यता स्त्रियों का एक आवश्यक गुण बनता जा रहा है । जो स्त्रियाँ पुरुषों के संपर्क में आती हैं वे पुरुषों के आक्रमणों और अत्याचारों से अपनी रक्षा

उन स्त्रियों की अपेक्षा, जो कभी पुरुष-समाज में नहीं आतीं, अधिक सफलता के साथ कर सकती हैं। आजकल भीरुता स्त्रियों का गुण नहीं समझा जाता। इन्हीं कठिनाइयों और आवश्यकताओं के कारण सह-शिक्षा आवश्यक सी हो जाती है।

हिन्दू समाज ही क्या भारतीय समाज उन्नति की उस अवस्था में नहीं है जिसमें सह-शिक्षा एक स्वाभाविक बात सी प्रतीत हो। हमारे ऊपर मध्यकाल के पर्दे के संस्कार अभी तक बने हुए हैं। हम प्राचीन और नवीन सभ्यता की संघर्ष-रेखा में खड़े हुए हैं। हम नवीन संस्कारों के कारण बालिकाओं की उच्च शिक्षा को आवश्यक भी समझते हैं और उसी के साथ पुराने संस्कारों के कारण पीछे भी हटते हैं। ऐसी अवस्था में सह-शिक्षा का विरोध स्वाभाविक ही है और उसमें थोड़ा बहुत तथ्य भी है।

सह-शिक्षा के विरोध में सबसे पहला आक्षेप तो यह है कि यह एक नई चीज है। प्राचीनकाल में ब्रह्मचारी लोग स्त्रियों के सम्पर्क से पृथक् रक्खे जाते थे। हम बिलकुल निश्चयपूर्वक यह तो नहीं कह सकते कि गुरुकुलों में बालकों के साथ बालिकाएँ भी पढ़ती थीं किन्तु इस बात के प्रमाण अवश्य मिलते हैं कि शिक्षा-लाभ के लिए और विशेषकर उच्च ब्रह्म-विद्या की शिक्षा के अर्थ स्त्रियाँ भी बालकों के साथ ऋषियों का शिष्यत्व धारण करती थीं। इसका एक प्रमाण हमको भवभूति के उत्तररामचरित में मिलता है। यदि उस समय सह-शिक्षा का प्रचार न होता तो महाकवि भवभूति तपस्विनी आत्रेयी के मुख से यह न कहलाते कि वाल्मीकि जी के आश्रम में लव और कुश की प्रखर बुद्धि के कारण उनके साथ उनका पाठ नहीं चल सकता। आत्रेयी से यह पूछे जाने पर कि वाल्मीकि का आश्रम छोड़ कर अगस्त्य आदि मुनियों से ब्रह्म विद्या सीखने क्यों आईं, वे कहती हैं:—

'उनकी (लव और कुश की) बुद्धि बड़ी तीव्र और धारणा-शक्ति अत्यन्त ही प्रबल है। उनके साथ भला हमारा किस प्रकार निर्वाह हो सकता है। क्योंकि:—

> वितरन गुरु इक सम करत, बुध मूरख को ज्ञान।
> करत न, हरत न कछुक तिन, बोध शक्ति परिमान॥

किन्तु समय परिणाम के, अन्तर विपुल लखात।
रहत मूढ़ के मूढ़ इक, अन्य चतुर बनि जात॥
जिमि दिनेस सम भाव सों, नभ में करत प्रकास।
पूरन प्रति थल पर परत, तासु किरन आभास॥
मनि मंजुल समरथ सदा, बिम्ब ग्रहन के माँहि।
पै माटी के ढेल कहुँ, द्युतिमय दीसत नाँहि॥

उत्तररामचरित से यह भी पता चलता है कि महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश ही नहीं रहते थे वरन् और भी ऊधमी और शैतान बालक रहते थे जिन्होंने कि जनक आदि के आने पर उन्हें दढ़ियल कहा था।

दूसरा आक्षेप जो किया जाता है वह यह कि स्त्रियों और पुरुषों के कार्य-क्षेत्र अलग-अलग हैं। उनकी शिक्षा भी अलग-अलग प्रकार की होनी चाहिए। साधारण शिक्षा तो बालक और बालिकाओं की एक सी होगी। साहित्य और विज्ञान तो वही होगा; किन्तु स्त्रियों को ललित कलाओं की अधिक आवश्यकता है और पुरुषों को उपयोगी कलाओं की। आजकल बालकों को भी ललित कलाओं की शिक्षा थोड़े बहुत अंश में देनी ही पड़ती है। बालिकाएँ उनमें विशेषता प्राप्त कर सकती हैं। बालकों को भी उनकी भिन्न-भिन्न रुचि के अनुकूल भिन्न-भिन्न विषयों का अध्ययन करना पड़ता है। फिर यदि दो एक विषय बालिकाओं की खातिर बढ़ा दिये जायँ तो वे साधारण विषयों की शिक्षा का भी पूरा-पूरा लाभ उठा सकेंगी।

सह-शिक्षा के विरोध में जो सबसे बड़ा आक्षेप है वह है नैतिक और आचार सम्बन्धी। लोगों का कहना है कि बालक और बालिकाओं के साथ पढ़ने से उनके नैतिक पतन की सम्भावना रहती है। आग और पानी को साथ नहीं रखना चाहिए। यह बात लज्जा के साथ स्वीकार करनी पड़ती है कि हमारे विद्यार्थी-समाज में अभी वे उच्च नैतिक आदर्श नहीं आये हैं जिनके कारण बालिकाएँ उनसे सम्मानपूर्वक मिल सकें; किन्तु इस दोष का अति-रञ्जन भी बहुत होता है। बालक और बालिकाएँ जितना एक दूसरे से दूर रहते हैं, एक दूसरे के लिए अचम्भे और आकर्षण की वस्तु बनते हैं। साथ रहने

से वे एक दूसरे का आदर करना सीख जाते हैं। अच्छे स्वस्थ वातावरण में बालक-बालिकाएँ निरापद रूप से एक साथ पढ़ सकते हैं। आमोद-प्रमोद के लिए उनके पृथक् प्रबन्ध हो सकते हैं। उनके बैठने-उठने के सम्मिलित कक्ष (Common Room) अलग हो सकते हैं। वाद-विवाद-प्रतियोगिता में बालक-बालिकाएँ सम्मिलित रूप से भाग ले सकते हैं।

हमारे समाज की वर्तमान स्थिति में सह-शिक्षा में कठिनाई अवश्य है, क्योंकि सब प्रेम-सम्बन्ध वैवाहिक सम्बन्ध में परिणत नहीं हो सकते; किन्तु जैसे-जैसे वर्ण-व्यवस्था के बन्धन शिथिल हो जायेंगे वैसे-वैसे यह कठिनाई दूर होती जायगी।

सह-शिक्षा की उपयोगिता में सन्देह नहीं, वह आर्थिक दृष्टि से भी अधिक सुविधाजनक है। हमारा सामाजिक वातावरण किसी अंश में उसके अनुकूल नहीं है। उसके लिए प्रचार और शिक्षा द्वारा हमको उसमें अनुकूलता लानी होगी। समाज की बलिवेदी पर स्त्रियों के बहुत से हितों का बलिदान हो चुका है। अब उनके शिक्षा-सम्बन्धी हितों का बलिदान करना उनके साथ अन्याय होगा। विद्यार्थियों का इसमें उत्तरदायित्व है कि वे अपने सिर से इस लांछन को दूर करें कि उन के कारण बालिकाएँ उच्च शिक्षा से वञ्चित रहती हैं। भावी समाज में जिस तरह से स्त्रियों को पुरुषों के साथ व्यवहार करने की योग्यता प्राप्त करना वांछनीय होगा उसी प्रकार पुरुषों को भी स्त्रियों के साथ सद्व्यवहार सीखने की आवश्ययकता है। थोड़े से आत्मसंयम और शिष्ट व्यवहार से सह-शिक्षा निरापद बनाई जा सकती है। इससे पुरुष और स्त्री-समाज दोनों का ही गौरव बढ़ेगा।

---

५१. हिन्दू समाज में स्त्रियों का स्थान

'अबला जीवन हाय, तुम्हारी यही कहानी—
आंचल में है दूध और आँखों में पानी।'

× × ×

'मानवता है मूर्तिमती तू
भव्य-भाव-भूषण-भण्डार
दया क्षमा ममता की आकर
विश्व-प्रेम की है आधार
तेरी करुण साधना का माँ,
है मातृत्व स्वयं उपहार ॥'

विश्व का भरण-पोषण करने के कारण परमात्मा विश्वम्भर के नाम से पुकारे जाते हैं। इसी भरण-पोषण करने के हेतु गृहस्थ आश्रम को सब आश्रमों में श्रेष्ठता दी गई है; 'तस्माज्ज्येष्ठाश्रमो गृही'। यह भरण-पोषण का भार यद्यपि स्त्रियों और पुरुषों दोनों पर ही है तथापि उसका अधिक भार गृहलक्ष्मियों पर ही है। प्राचीन काल में स्त्रियाँ केवल सन्तान की जन्मदात्री और अन्नपूर्णा के रूप में ही प्रतिष्ठित न थीं, वरन् वे सामाजिक कार्यों में सहयोगिनी और सहधर्मिणी भी थीं। वैदिक युग में घोषा, लोपामुद्रा आदि कई स्त्रियाँ मंत्रद्रष्टा हुई हैं। महर्षि याज्ञवल्क्य ने संन्यास लेने की इच्छा से जब निजी सम्पत्ति अपनी दोनों स्त्रियों में (मैत्रेयी और कात्यायनी में) बाँटनी चाही तब मैत्रेयी ने कहा कि धन से अमृतत्व नहीं मिल सकता "अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन"। उसने उनके आध्यात्मिक धन में भाग लेना चाहा, और खूब तर्क-वितर्क के साथ ब्रह्मज्ञान का उपदेश ग्रहण किया। पत्नी के विना कोई धर्म और यज्ञ पूरा नहीं होता था। सती सीता के वनवास के पश्चात् श्रीरामचन्द्र जी ने जो यज्ञ किया था उसमें सहधर्मिणी रूप से उनकी स्वर्णमयी प्रतिमा की स्थापना की थी। उत्तररामचरित नाटक से यह भी पता चलता है कि उस समय सहशिक्षा का भी प्रचार था। महर्षि वाल्मीकि के आश्रम में लव और कुश की अलौकिक प्रतिभा के कारण जब आश्रम में देवी आत्रेयी का सहपाठ न चल सका था, तब वे अगस्त्य जी के यहाँ वेदान्त पढ़ने गई थीं; 'तिन सों मैं वेदान्त पढ़न को प्रन धरि मन में, वाल्मीकि ढिंग सों सिधाय विचरति या वन में।'

प्राचीन काल में स्त्रियाँ विद्या-अध्ययन में ही पुरुषों के साथ योग नहीं देती थीं वरन् रण-क्षेत्र में भी उनके साथ रहती थीं। कैकेयी ने वे दो वर

जिनके आधार पर राजा दशरथ ने अपने आज्ञाकारी पुत्र रामचन्द्र को वनवास दे दिया था, युद्ध-क्षेत्र में ही प्राप्त किये थे। भवानी दुर्गा ने यह प्रण करके कि 'जो मुझे युद्ध में जीतेगा वही मेरा भर्ता होगा' अनेकों राक्षसों को परास्त किया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन भारत में स्त्रियों की दशा काफी अच्छी थी। वे चाहे स्वेच्छा से अपने स्वातन्त्र्य का बलिदान कर देती थीं किन्तु उन में व्यक्तित्व था। वे विवाहों में भी स्वयंवरा होती थीं। ऐसी अवस्था में बाल-विवाह की प्रथा सम्भव न थी। स्त्रियाँ अपने प्रेम और आत्मबलिदान की भावना से ही पुरुषों का दासत्व स्वीकार करती थीं। वे अपने पतियों को उपदेश भी दे सकती थीं। किरातार्जुनीय से ज्ञात होता है कि पाण्डवों को युद्ध में प्रवृत्त होने के लिए द्रौपदी ने ही उत्तेजना दी थी। काव्यप्रकाश के कर्त्ता मम्मटाचार्य ने कान्ता के उपदेश को काव्य के उपदेश का उपमान बनाया है। मदालसा का "शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरञ्जनोऽसि, संसारमायापरिवर्जितोऽसि" से प्रारम्भ होने वाला पुत्र के प्रति उपदेश वेदान्त शास्त्र की उच्चतम शिक्षा का द्योतक है।

प्राचीन काल में स्त्रियों की जो सामाजिक दशा थी, समय के हेर-फेर से वह क्रमशः गिरती गई। स्त्रियों ने गृहलक्ष्मी होने का जो भार अपने ऊपर सेवा-भाव से लिया उसके कारण घर से बाहर के कार्यों में उनका बहिष्कार होने लगा और धीरे-धीरे वे अबला और आश्रिता बन गईं। जिस धर्म को उन्होंने प्रेम-वश अपने ऊपर धारण किया था वह पुरुषों की स्वार्थ-परायणता के कारण उनके ऊपर लादा जाने लगा। स्त्रियाँ सहधर्मिणी के स्थान में दासी और उपभोग की वस्तु बन गईं। पुरुष की ईर्ष्या ने उनको अपने घर की चहार-दीवारी में बन्दिनी बना दिया, विशेषकर उस समय जब वे स्वयं बलहीन हो कर उनके गौरव की रक्षा करने में असमर्थ हो गये। लज्जा स्त्रियों का भूषण है किन्तु जब ईंट-चूने की दीवारों से उसकी साधना होने लगी तब वह अभिशाप बन गई। स्त्रियों को उनके बन्धन में प्रसन्न रखने के लिए उसको 'प्रतिष्ठा का चिह्न बना दिया गया।

पुरुषों को स्त्रियों का प्रेम वर-स्वरूप प्राप्त था, उसको पुरुषों ने अपना अधिकार समझा; केवल जीवन में ही नहीं वरन् मरणोपरान्त भी। स्त्री का

मातृत्व उसके गौरव का विषय था। इसी गौरव के कारण और जाति की शुद्धता अक्षुण्ण रखने की भावना से उसके ऊपर पुरुष की अपेक्षा सदाचार का उत्तरदायित्व कुछ अधिक मात्रा में लादा गया। उसने उसे सहर्ष स्वीकार भी किया, किन्तु क्रमशः उससे सारा अधिकार छिन गया। महर्षि याज्ञवल्क्य ने भी स्त्री को किसी अवस्था में स्वतन्त्रता का अधिकारी नहीं बतलाया है—

पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
पुत्रश्च स्थविरे भावे न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति॥

स्त्री का धर्म वास्तव में तपोधर्म बन गया—'यज्ञपरः पुरुषधर्मः, तपः-प्रधानो नार्य्यः'। हम उन महर्षियों को अधिक दोषी नहीं ठहराते। शायद उस समय परिस्थति ऐसी हो गई हो; किन्तु केवल स्त्री होने के कारण स्वातन्त्र्य के अधिकार से उन्हें वञ्चित कर देना उनके साथ अन्याय है। तथापि यह मानना पड़ेगा कि स्मृतिकारों ने उनको बड़े आदर और पूजा-भाव से रखने का आदेश दिया है—'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।' मनु महाराज ने एक दूसरे को सन्तुष्ट रखने का उपदेश पति और पत्नी दोनों को समान रूप से दिया है।

पुरुषों की स्वार्थपरायणता का प्रभाव केवल धर्म में ही नहीं परिलक्षित होता वरन् साहित्य में भी इसका प्रभाव दिखाई पड़ता है। वाल्मीकीय रामायण में वियोग की विह्वलता राम और सीता में एक सी दिखाई गई है किन्तु पीछे के साहित्य में स्त्रियों में उसका आधिक्य हो गया। यह उनके हृदय की सहज कोमलता के कारण भी हो सकता है। तप और संन्यास की भावना से प्रेरित हो कर कवियों ने स्त्रियों को नरक का द्वार तक कह डाला। शायद स्त्रियाँ लिखतीं तो पुरुषों को ऐसा ही कहतीं। गोस्वामी तुलसीदास जी ने जहाँ 'सहज अपावनि नारि' कहा है वहाँ नारी-द्रोह के कारण नहीं वरन् अपनी संन्यास-भावना के वश हो कर। तुलसीदास जी ने नारी जाति को चाहे जो कुछ कहा हो लेकिन सीता कौशल्या आदि देवियों के बड़े सुन्दर चित्र खींचे हैं। रीति-काल में नारी केवल विलास की सामग्री बन गई। पुरुषों ने स्त्रियों की हीनता का राग इतना अलापा की उस आदमी की भाँति जिस से कि चार ठगों ने बकरी को कुत्ता कह

कर बकरी छीन ली थी, स्त्रियाँ स्वयं भी अपने को दीन-हीन समझने और पैर की जूती तक कहने में संकोच को छोड़ बैठीं। कुछ लोग तो अब भी उनके भोलेपन से लाभ उठा कर उनको गिरी हुई अवस्था में ही रखना चाहते हैं और कुछ लोग उनके उत्थान में सहायक होने लगे हैं। भारतीय समाज में स्त्रियों के प्रति जो अन्याय हुआ है या हो रहा है उसके कई रूप हैं। उनमें मुख्य ये हैं:—

१—पर्दा—वैसे तो प्राचीन काल में भी थोड़ा बहुत पर्दा था किन्तु स्वयंवर यज्ञ आदि में उसका व्यवहार नहीं था। वैसे भी स्त्रियाँ आ जा सकती थीं और राजकार्यों में भाग ले सकती थीं किन्तु मुसलमानी काल में यह बहुत बढ़ गया था। यह पुरुषों द्वारा स्त्रियों की गौरव-रक्षा में असमर्थता तथा उनके ईर्ष्या भाव और संयम के अभाव का प्रमाण-पत्र है। पुरुष जितने ही बलहीन होते गये, वे दूसरों की दासता स्वीकार करते गये और अपनी हीनताग्रन्थि (Inferiority Complex) को ढीला करने के लिए बेचारी स्त्रियों को दबाने लगे। सौभाग्य से अब यह प्रथा उठती जाती है।

२—अनमेल विवाह—जब स्त्रियाँ स्वयंवरा न रहीं तब कन्याओं से छुटकारा पाने के लिए उनको अयोग्य वरों के हाथ सौंप देने की प्रथा चल पड़ी। कुलीनता के भूत ने इस कार्य में और भी उत्तेजना दी। यह बुराई भी अब दूर होती जा रही है।

३—कन्या पक्ष का नीचा समझा जाना और इस कारण कन्या के जन्म को अभिशाप समझना—कन्या का पिता केवल विनय और शील के कारण आये हुए अतिथियों के आगे नीचा बनता था। उस शील-जनित निम्नत्व-भाव ने पीछे से वास्तविकता का रूप धारण कर लिया। दहेज, जो प्रेम और आदर का चिह्न था, कर्ज की भाँति प्राप्य धन बन गया। इन्हीं कारणों से कन्या-जन्म शोक का विषय समझा जाने लगा। अब यह भावना भी दूर होती जाती है।

४—उच्च शिक्षा का अभाव—हमारे समाज में उच्चशिक्षा नौकरी का साधन मात्र मानी जाने लगी थी और इसीलिए वह पुरुषों के विशेष अधिकार की वस्तु बन गई। शिक्षा आजीविका उपार्जन का ही साधन नहीं वरन् जीवन

को सार्थक बनाने के लिए भी आवश्यक है। पुरुषों के योग्य जीवन-संगिनी बनने तथा उनके जीवन को सरस एवं सार्थक बनाने के लिए स्त्रियों को उच्च शिक्षा देना वांछनीय है। भारतीय समाज इस सम्बन्ध में भी सजग होता जा रहा है।

५—बहुविवाह—'पुन्नाम्नः नरकात् त्रायते इति पुत्रः' पुत् नाम के नरक से छुड़ाने वाला होने के कारण पुत्र 'पुत्र' कहलाता है। नरक के भय ने तथा सम्पत्ति का उत्तराधिकारी प्राप्त करने की इच्छा ने बहुविवाह की प्रथा को जन्म दिया। यह प्रथा प्रायः कलह का कारण होती है। कुलीन वर प्राप्त करने का मोह भी इसके लिए उत्तरदायी है। शिक्षा के साथ यह प्रथा भी कम होती जा रही है।

६—विधवाओं की हीन दशा—स्त्री के लिए वैधव्य सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। हिन्दू समाज ने उस दुर्भाग्य की चेतना को सजग कर देने के बहुत से साधन उपस्थित किये हैं। विधवाएँ यदि अविवाहिता रहती हैं तो उनके लिए सादे जीवन की व्यवस्था निन्द्य नहीं कही जा सकती; किन्तु उनको विवाहादि शुभ कार्यों में शामिल न होने देना उनके प्रति अन्याय है। उनके पुनर्विवाह पर सामाजिक रोक-थाम करना अनुचित है। विधुर-विवाह की भाँति आपत्-धर्म के रूप में उसे स्वीकार करना न्याय ही होगा।

७—शारीरिक सम्बन्ध की प्रधानता—नारी को रमणी के रूप में अधिक देखा गया, सहचरी के रूप में कम। माता, भगिनी आदि रूपों का साहित्य में भी कम वर्णन आया है। स्त्री को स्वतन्त्र व्यक्तित्व नहीं दिया गया, जड़ पदार्थों की भाँति उसे भी उपभोग की वस्तु समझा गया है।

८—उत्तराधिकार से वञ्चित होना—यह विवादास्पद विषय है। विवाहित पुत्रियाँ तो दूसरे घर की हो जाती हैं किन्तु अविवाहित और विधवा कन्याओं को उत्तराधिकार का कुछ भाग मिलना न्याय होगा—यद्यपि इस संबंध में वैधानिक रूप से कन्याओं की स्थिति खराब है तथापि व्यवहार में उससे अपेक्षाकृत अच्छी है। कन्याओं को विवाह और अन्य अवसरों पर पिता की सम्पत्ति का थोड़ा-बहुत अंश मिलता ही रहता है। हिन्दू कोड बिल भारतीय स्त्री-समाज की उत्तराधिकार सम्बन्धी हीनताओं तथा अन्य विषमताओं को दूर

करने के लिए संसद् में उपस्थित किया जा रहा है, किन्तु लोकमत इसके बहुत पक्ष में नहीं है। उसमें कुछ बातें, जैसे, बहुविवाह-निषेध, अच्छी हैं; किन्तु सब बातों में पश्चिम का अनुकरण श्रेयस्कर नहीं है।

यद्यपि हिन्दू-समाज में स्त्रियों की स्थिति वैसी नहीं जैसी कि होनी चाहिए तथापि उनकी हीन स्थिति के सम्बन्ध में अतिरञ्जना भी अधिक हुई है। स्त्री अधिकांश घरों में गृह की स्वामिनी है। उसका बच्चों पर ही नहीं वरन् पति पर भी यथोचित अधिकार रहता है। प्रायः हिन्दू-सद्गृहिणियाँ स्वयं मितव्ययिता के पक्ष में रहती हैं; इसलिए उन पर कोई भी विशेष नियन्त्रण नहीं रहता। माता भगिनी और पुत्रियों को तथा पुत्र-वधुओं को पुरुषों-द्वारा आदर सत्कार ही मिलता है। यद्यपि कभी-कभी पुत्र-बधुओं और उनकी सासों में खट-पट हो जाती है तथापि घर का मालिक उनको वात्सल्य की दृष्टि से ही देखता है। पुत्रियाँ दूसरे घर की हो कर भी पैतृक भवन में पर्याप्त अधिकार रखती हैं। भाई-बहन का सम्बन्ध बड़ा पवित्र और स्नेहमय माना जाता है। यद्यपि लड़कियों की शिक्षा पर उतना व्यय तो नहीं होता जितना कि लड़कों की शिक्षा पर, तथापि उनकी शिक्षा में धन-व्यय करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। स्त्रियाँ समाज में तथा राजनीतिक क्षेत्रों में अपना अस्तित्व प्रकट करती जा रही हैं। पर्दे की प्रथा भी बहुत अंश में उठ गई है और विवाह की रीतियों में भी बहुत सुधार हो गया है। अब समाज से यह भावना भी उठती जा रही है कि स्त्रियाँ उपभोग मात्र की वस्तुएँ हैं।

स्त्रियों को बन्धन में रखने के खिलाफ हिन्दू-समाज में काफी हलचल और प्रतिक्रिया है। कहीं-कहीं यह प्रतिक्रिया उच्छृंखलता का रूप धारण करने लगी है। पश्चिम का अन्धानुकरण होने लगा है। गृहलक्ष्मियाँ माँ कहलाने की अपेक्षा मेम-साहबा कहे जाने में अधिक गौरव का अनुभव करती हैं। वेशभूषा, अंगराग और केशविन्यास में पश्चिमी सभ्यता अधिक परिलक्षित होने लगी है। मातृत्व की परवाह नहीं की जाती। यह शिक्षा का परिणाम नहीं वरन् पाश्चात्य देशों के अन्धानुकरण का फल है। आर्थिक स्वातन्त्र्य की झोंक में स्त्रियाँ कोमलता और कला के क्षेत्र से हट कर संघर्ष के क्षेत्र

में प्रवेश करती जाती हैं। हम उनको उच्च क्षेत्र से बहिष्कृत करना नहीं चाहते, किन्तु संसार के हित के लिए उनका अपने ही क्षेत्र में रह कर सौन्दर्य, साम्य और शान्ति की शक्तियों का संचालन करना अधिक श्रेयस्कर होगा।

यदि स्त्रियाँ भी संहार-कार्य में प्रवृत्त हो जायँ तो जीवन में जो रक्षा और संहार का संतुलन है वह बिगड़ जायगा।

यदि पुरुषों ने नारी के आत्म-समर्पण को उसकी दुर्बलता समझ कर उसका दुरुपयोग किया है तो उसके त्याग करने की आवश्यकता नहीं वरन् पुरुष को दृढ़ता-पूर्वक बतला देना चाहिए कि वह समर्पण हृदय की स्वेच्छा से है, किसी आर्थिक विवशता से नहीं। यदि नाक पर मक्खी बैठती है तो नाक काट डालने की आवश्यकता नहीं। इसी प्रकार पश्चिम की देखा-देखी भारतीय समाज में सम्बन्ध-विच्छेद (तलाक) की भी चर्चा होने लगी है। विवाह-बन्धन को सुखमय और कर्कशताशून्य बनाने की आवश्यकता है, तोड़ने की नहीं। उलझी हुई गाँठ को सुलझा देना उसको काट देने की अपेक्षा कहीं श्रेयस्कर है।

स्त्रियों की परिस्थिति सुधारने के लिए स्त्री और पुरुष दोनों के सहयोग की जरूरत है। स्त्री को केवल माता या पत्नीमात्र समझना पुरुष की भूल है। केवल पुरुष के मनोरञ्जन की योग्यता या आर्थिक स्वतन्त्रता प्रदान करने को स्त्री-शिक्षा का परम लक्ष्य समझना शिक्षा की विडम्बना है। पुरुष को यह न भूलना चाहिए कि नारी का भी व्यक्तित्व है। उसका व्यक्तित्व पुरुष के व्यक्तित्व से भिन्न है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और स्त्री-पुरुष परस्पर आत्मसमर्पण द्वारा एक दूसरे के भार को हलका कर सकते हैं।

जग जीवन मानव के सँग
हो मानवी प्रतिष्ठित!
प्रेम स्वर्ग हो धरा मधुर
नारी महिमा से मण्डित,
नारी-मुख की नव किरणों से
युग प्रभात हो ज्योतित!—पंत

५२. क्या युद्ध अनिवार्य है ?

मनुष्य विकसित जीव कहा जाता है। उसने अपना चोला बदल दिया है और केवल जीव-विज्ञान की विश्लेषक दृष्टि में वह बन्दरों का वंशज वा सगोत्री माना जाता है। विद्या-बुद्धि में उसने आश्चर्यजनक उन्नति की है। भौतिक बल में वह पशु-समुदाय से पिछड़ा हुआ है किन्तु उसकी कमी उसने अपने बुद्धि-बल से पूरी कर ली है। वह घोड़े के समान दौड़ नहीं सकता, किन्तु उसकी बनाई रेलगाड़ी ने तेजी और बोझा ढोने की शक्ति में घोड़ों को कहीं पीछे छोड़ दिया है। मनुष्य के पर नहीं हैं, किन्तु उसके बनाये हुए वायुयानों ने आकाश-मार्ग में जल और थल से भी अधिक वेगवती गति प्राप्त कर ली है। उसके बेतार के संवाद 'मनोजवं मारुततुल्यवेगं' से सारी पृथ्वी की परिक्रमा कर लेते हैं। मनुष्य में बाघ और चीते का बल नहीं है, किन्तु उसके हाथ की बनाई हुई एक गोली भयङ्कर से भयङ्कर शेर को भी चारों खाने चित सुला देती है।

मनुष्य ने नैतिक उन्नति भी पर्याप्त रूप में की है। उसने विज्ञान के सहारे जीवन के उपकरणों को सुलभ बना कर संघर्ष को बहुत कम कर दिया है। जीवन-संग्राम (Struggle for existence) और योग्यतम की अवस्थिति (Survival of the fittest) डार्विन द्वारा विकास के मूल कारण माने गये हैं। फिर भी मनुष्य ने इस जीवन-संग्राम की घातकता को बहुत अंशों में दूर कर दिया है। अब जीवन-संग्राम व्यापार में ही अधिकांश रूप से संकुचित हो गया है। इस संघर्ष की कमी में ही मनुष्य की मनुष्यता है और उसका परम गौरव है। उन्नति के रक्तहीन साधन ही मनुष्य को पशु-समाज से ऊँचा उठाये हुए हैं। इतनी उन्नति होते हुए भी मनुष्य की स्वार्थ-परायणता उसको पशु-समाज से भी नीचा गिरा देती है। जब उसके भीतर का पशु जाग उठता है तो उसके बुद्धि-बल-विशिष्ट पंजों और दाँतों की संहार-शक्ति सीमा से बाहर हो जाती है।

मनुष्य की सामाजिक उन्नति ने व्यक्ति के संघर्ष को बहुत कम कर दिया है। व्यक्ति का बदला व्यक्ति नहीं लेने पाता वरन् समाज लेता है। इस प्रकार आजकल पुराने जमाने की सी खूनी वैर की परम्परा बहुत काल तक नहीं चलने

पाती। समाज की सामूहिक शक्ति पारस्परिक विरोध को बहुत अंश में नियंत्रित रखती है। किन्तु जहाँ जन-समूहों और जातियों में संघर्ष होता है वहाँ किसी विश्व-व्यापिनी शक्ति के अभाव में स्वार्थ का न्याय-निर्णय युद्ध के न्यायालय में ही होता है। उस समय अस्त्र-शस्त्र संचालन-बल ही न्याय का माप-दंड बन जाता है। जिसकी लाठी उसकी भैंस की नीति चरितार्थ होने लगती है। संहार-कार्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में तो दंडनीय समझा जाता है, किन्तु जब वह किसी राष्ट्र के अधीन संगठित रूप से होता है, तो वीरत्व, देशभक्ति और सभ्यता के भव्य नामों से पुकारा जाने लगता है। उस समय लूट-खसोट, धोखेबाजी और हत्या सभी क्षम्य हो जाती हैं (Every thing is fair in love and war)। अब सभ्यता में इतनी उन्नति अवश्य हुई है कि कोई केवल साम्राज्य-वृद्धि के नाम पर युद्ध नहीं छेड़ता। अब युद्ध सभ्यता और संस्कृति के प्रसार, न्याय और शान्ति की स्थापना आदि जैसे प्रदर्शनीय, भव्य और विशाल उद्देश्यों से किये जाते हैं, किन्तु उनके भीतर अपने व्यापार की उन्नति और अपनी जाति के लोगों की सुख-समृद्धि का अधखुला उद्देश्य सन्निहित रहता है। कभी-कभी आक्रमणकारी से रक्षा के लिए भी युद्ध छेड़ना पड़ता है। युद्ध की सब से बड़ी समस्या यही है कि शक्तिशाली आक्रमणकारी की स्वार्थान्धता सारे संसार को युद्ध के वात्याचक्र में डाल देती है। साम्राज्यवादी राष्ट्र अपने व्यापार को फैलाने की धुन में छोटे राष्ट्रों को धर दबाते हैं। उस समय आक्रान्त राष्ट्रों के लिए दो ही रास्ते होते हैं; या तो आक्रमणकारी की अधीनता स्वीकार कर अपना सर्वस्व नाश करें अथवा प्रत्याक्रमण और मोर्चेबन्दी में जन-संहार को आश्रय दें। आत्मरक्षा के लिए प्रायः दूसरी बात का ही अवलम्बन करना पड़ता है।

सभ्यता के इतने विकास हो जाने पर युद्ध के अनेक कारण बने हुए हैं। वैज्ञानिक उन्नति के साथ बढ़ते हुए उत्पादन की खपत और बढ़ती हुई जन संख्या के लिए काम की खोज तो कारण हैं ही किन्तु वर्तमान युग में जातीय श्रेष्ठता की भावना जैसी यूरोप और अमरीका में है, रंग भेद की नीति जैसी दक्षिण अफ्रीका में चल रही है, धर्म भेद की भावना जैसी पाकिस्तान में चल रही है, विचार धारा का भेद जैसा रूस और अमरीका में चल रहा है, निहित

स्वार्थों को न छोड़ना जैसे अंग्रेज़ और फ्रांसीसी कर रहे हैं (भारत में तो परिस्थितियों के वशीभूत हो अंग्रेज़ों ने कृपा की है) ऐसे सभी कारण युद्ध की आग भड़काने को सदा तैयार रहते हैं; किन्तु पिछले महायुद्धों के संहार से डरे हुए राष्ट्र एक साथ युद्ध में प्रवृत्त होने का साहस नहीं करते।

मानव जाति में युद्ध का रोग बहुत पुराना है और हर एक युद्ध युद्ध का अन्त करने के लिए ही होता है, किन्तु उसमें भावी युद्ध के बीज सुरक्षित बने रहते हैं, जो कि समय पा कर अङ्कुरित हो उठते हैं। यह कहना कठिन है कि मनुष्य स्वभाव से ही युद्ध-प्रिय है। मनुष्य का हृदय वज्र से भी कठोर है और कुसुम से भी कोमल है। कुरुक्षेत्र के रणाङ्गण में वीर अर्जुन की कातर पुकार कि 'रुधिर-प्रदग्ध राज्यभोग से भिक्षावृत्ति अच्छी है' मानव-हृदय की कोमलता की द्योतक है और भगवान कृष्ण का 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' का उपदेश कर्त्तव्य की कठोरता का परिचायक है। इतना जन-संहार होने पर भी पाण्डव लोग विजयश्री का बहुत दिन तक उपभोग न कर सके। फिर भी वह अन्तिम युद्ध न था। उसके बाद कितने ही युद्ध हुए और सबसे बुरे वे युद्ध थे जो गृह-कलह से प्रेरित हो कर आपस की मारकाट में परिणत हुए और जिनका वर्णन वीर-गाथा के श्रवण-सुखद नाम से पुकारा गया। प्रथम महायुद्ध की विभीषिका से संसार ने आँख खोली ही थी कि द्वितीय महायुद्ध का दानव आ खड़ा हुआ। अभी यह युद्ध पूरी तरह समाप्त न हुआ था कि तीसरे महायुद्ध की आशंका होने लगी। कोरिया-युद्ध की संधिवार्ताएँ क्षितिज की भाँति सदा दूर हटती जा रही हैं। अड़तीस अक्षांश को पार करना युद्ध को बनाये रखने की इच्छा का द्योतक था। मध्य एशिया की जाग्रति साम्राज्यवादी देशों में खलबली पैदा कर रही है। मिस्र और ईरान अंग्रेज़ों के सर दर्द के कारण बन गये हैं। लाल चीन के प्रश्न पर अंग्रेज़ों और अमरीका वालों में भी मतभेद है। जापान में संधि हो जाने पर भी अमरीका अपना प्रभुत्व बनाये हुए है। जर्मनी के सम्बन्ध में भी रूस और अमरीका में मतभेद है। कश्मीर की समस्या अभी उलझी हुई है किन्तु भारत युद्ध के साधन को यथा-सम्भव प्रयोग में नहीं लायेगा। युद्ध के लिए अनेकों कारण उपस्थित हैं; युद्ध की

तैयारियाँ भी खूब हैं। एटम बम का भी दादागुरु हाइड्रोजन बम तैयार हो गया है। कीटाणु युद्ध की बात चल रही है। सब एक दूसरे का बल तोल रहे हैं। सब एक दूसरे से भयभीत हैं। युद्ध रुका हुआ है; किन्तु अभी हम उस नैतिक स्तर तक नहीं पहुँचे है जिसमें युद्ध की सम्भावना न रहे।

मनुष्य का वैज्ञानिक बल जितना बढ़ा है युद्ध उतना ही अधिक संहारक हो गया है। कल के बल से वर्षों का कार्य घंटों में समाप्त हो जाता है। युद्ध की प्रचंड ज्वाला में दोनों ओर से धन-जन का स्वाहा होता है। देश का सारा उत्पादन-कार्य जन-संहार के अर्थ किया जाता है। युद्ध की विभीषिका के कारण कोई सुख की नींद नहीं सोने पाता और युद्ध के बाद अकाल और महँगी जनता की जान चूस लेती हैं। किन्तु शक्तिशाली राष्ट्र अपने शक्ति-मद में युद्ध की भीषणताओं को भूल जाते हैं। अमरीका आदि देशों में मानवता का इतना प्रचार होते हुए मनुष्य की जान का अधिक मूल्य नहीं। महायुद्धों में इतनी जाने गईं, इतने घर बरबाद हुए, इतनी कलाकृतियाँ नष्ट हुईं। कोरिया-युद्ध में भी हताहतों की मात्रा भीषणता को पहुँच गई है, किन्तु युद्ध को विराम नहीं।

जिन देशों में युद्ध का ताण्डव हो रहा था उनके हाहाकार और करुणा-क्रन्दन से विश्व गूँज रहा था। कोई ऐसा घर न होगा जहाँ अपने प्रिय-जनों के लिए शोक न हो। शोक मनाने की भी किसी को फुर्सत नहीं थी। श्री सियारामशरण जी ने अपने 'उन्मुक्त' नाम के खण्डकाव्य में एक काल्पनिक युद्ध का वर्णन करते हुए वर्तमान युद्धों के भीषण संहार का एक बड़ा हृदय-द्रावक चित्र खींचा है। देखिए—

बरस पड़े विध्वंस पिण्ड सौ सौ यानों से।
सुना सभी ने बधिर हुए जाते कानों से॥
उनका,—क्या मैं कहूँ—घोष दुर्घोष भयङ्कर।
प्रेतों का सा अट्टहास, शत शत प्रलयङ्कर॥
उल्काओं का पतन, वज्रपातों का तर्जन।
नीरव जिनके निकट—हुआ ऐसा कटु गर्जन॥

कुछ ही क्षण उपरान्त एक अर्द्धांश नगर का,
युग-युग का श्रम-साध्य साधना फल वह नर का,
ध्वस्त दिखाई दिया। चिकित्सालय, विद्यालय,
पूजालय, गृह-भवन, कुटीरों के चय के चय,
गिर कर अपनी ध्वस्त चिताओं में थे जलते,
कहीं उबलते, कहीं सुलगते, धुआँ उगलते॥

इन रोमाञ्चकारी दृश्यों के अस्तित्व में भी युद्ध की शृङ्खला अटूट बनी हुई देख कर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या यह ध्वंस अनिवार्य है? क्या युद्ध जन-समाज की अदम्य आवश्यकता है? कोई भी इस ध्वंस के पक्ष में नहीं हो सकता, किन्तु करना सभी को पड़ता है। जिन राष्ट्रों के पक्ष में नीति और न्याय होता है, जो केवल आत्म-रक्षा के लिए ही युद्ध में शामिल होते हैं उनको भी नीति और न्याय की रक्षा के लिए जन-संहार का आश्रय लेना पड़ता है। किन्तु उसके लिए जितना बलिदान और जन-संहार होता है, क्या वह अनिवार्य है? क्या विश्व-शान्ति का कोई उपाय नहीं है?

युद्ध रोकने के लिए जितने उपाय सोचे गये वे सब निष्फल हुए। लीग ऑफ नेशन्स की स्थापना हुई, किन्तु उसका अधिकार किसी ने न माना। उसके अस्तित्व में आते ही उसके शासन से बाहर भागने का उद्योग हुआ। निःशस्त्रीकरण एक सुख-स्वप्न ही रहा। संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना दूसरे महा-युद्ध के बाद हुई। किन्तु वह भी राष्ट्रीय समस्याओं को सुलझाने में असमर्थ रहा। कश्मीर का मामला राष्ट्र-संघ को सौंप कर भारत ने क्या लाभ उठाया? उसके पास कोई शक्ति भी नहीं जिससे अपने निश्चयों को मान्य करावे उसमें शक्तिशाली राज्यों का प्रभुत्व है। नीच ऊँच का उसमें भी भेद है। वीटो का अधिकार शक्तिशालियों के ही हाथ में है। सिक्यूरिटी कौंसिल में बड़ों का ही अधिकार है। बड़ों ने अपने स्वार्थ को पूरी तौर से सुरक्षित रक्खा है। इन बातों को देख कर कुछ लोग तो यह कहने लग जाते हैं कि युद्ध जीव-विज्ञान की एक आवश्यकता है (War is a biological necessity)। वे कहते हैं कि जीवन के उपकरणों के उत्पादन की अपेक्षा जन-संख्या की वृद्धि कहीं

अधिक हो रही है। यदि जीवन के उपकरण १, २, ३, ४, के अनुपात में बढ़ते हैं तो जन-संख्या २, ४, ८, १६ के अनुपात में दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती है। इसलिए जन-संहार द्वारा जन-संख्या जीवन के उपकरणों के अनुपात में बनी रहती है। इसीलिए प्रकृति बीमारियाँ उत्पन्न करती है। किन्तु अब बढ़ते हुए विज्ञान ने माल्थस (Malthus) की इस कल्पना का खोखलापन प्रमाणित कर दिया है। विज्ञान की सहायता से जीवन के उपकरण भी उसी परिमाण में बढ़ाये जा सकते हैं। यह मानना तो ठीक न होगा कि युद्ध जीव-विज्ञान की आवश्यकता है और न यह मानना सत्य-संगत है कि युद्ध से हमारे उद्योग और व्यापार में उन्नति होती है। युद्ध के दिनों में आविष्कार अवश्य हुए हैं, कुछ कल-कारखानों में भी गति आ जाती है और लोग बेकार नहीं रहते; किन्तु युद्ध में व्यापार नष्ट भी हो जाते हैं। कल-कारखाने बम-विस्फोटों के कारण ध्वस्त भी हो जाते हैं। जन-संहार का तो पूछना ही क्या। शान्ति में जो व्यापार का विकास होता है वह बहु-जन-हिताय होता है। शान्ति की विजय युद्ध की विजय से अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।

युद्ध के सम्बन्ध में यही कहना पड़ेगा कि मनुष्य का नैतिक विकास उसके बौद्धिक विकास के अनुपात में नहीं हुआ। साहित्य भी नीति की उपेक्षा करता है। साहित्य ने राष्ट्रीयता का प्रचार किया है, अन्तर्राष्ट्रीयता का नहीं। राष्ट्रीयता की भावना पिछड़े हुए देशों के उत्थान के लिए आवश्यक होती है और गुलामी की जंजीरों को काटने में भी सहायक होती है; किन्तु उसकी सीमाएँ होती हैं। उन सीमाओं का अतिक्रमण करना मानव हितों के प्रतिकूल जाना होता है। जीओ और जीने दो की नीति राष्ट्रों के लिए भी उतनी ही आवश्यक है जितनी की व्यक्तियों के लिए। राष्ट्रीयता यदि देश के लिए आवश्यक है तो अन्तर्राष्ट्रीय विश्व-शान्ति के लिए अनिवार्य है। अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष में विश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर की नेशनलिज्म (Nationalism) आदि पुस्तकों में अवश्य लिखा गया है, किन्तु यह उद्योग समुद्र में बूँद के बराबर है। महात्मा गांधी ने मानवता का प्रचार किया। उन्होंने दूसरे युद्ध के प्रारम्भ से पहले राष्ट्रों से और हिटलर से भी युद्ध में प्रवृत्त न होने की अपील की; किन्तु वह आवाज तोपों

के नक्कारखाने में विलीन हो गई। धार्मिक एकता भी काम न आई। ईसाई-ईसाई लड़े। स्वार्थ, चाहे वह व्यक्तियों का हो चाहे राष्ट्रों का, बड़ी बुरी बलाय है। राष्ट्रों के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। जो नीति वैयक्तिक सम्बन्ध में बरती जाती है, वह अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध में नहीं बरती जाती। शक्ति के कम करने की आवश्यकता नहीं वरन् उस के संतुलन की आवश्यकता है। संतुलन स्थापित करने के लिए बल-प्रयोग अवश्य करना पड़ेगा, किन्तु उसका आधार नीति और न्याय होना चाहिए। विजय के लिए पूरा प्रयत्न किया जाय, किन्तु विजय प्राप्त होने पर दबे को इतना न दबाया जाय कि उसमें प्रतिक्रिया उत्पन्न हो। विजित के साथ उदारता का व्यवहार किया जाय तभी विश्व में शांति का स्वप्न देखा जा सकता है। जिन बन्धनों से विजित को बाँधा जाय उनका स्वयं न तिरस्कार किया जाय।

दानव की शक्ति का होना बुरा नहीं किन्तु उसका दानवी प्रयोग न होना चाहिए। विश्व-शान्ति के लिए एटम बम और हाइड्रोजन बम की आवश्यकता नहीं। वे तो भय का कारण उपस्थित कर पारस्परिक अविश्वास की सृष्टि करेंगे। अविश्वास में शान्ति की भावना पनप नहीं सकती। पारस्परिक सहयोग और सुरक्षापूर्ण विश्वमैत्री का विचार ही विश्व में शान्ति को चिरस्थायी बना सकता है। संहार की अपेक्षा रक्षा का अधिक महत्त्व है। मनुष्य में प्रभुत्व की भावना अवश्य है किन्तु आत्म-रक्षा की भावना उससे कम प्रबल नहीं है। संहार भी रक्षा के लिए होता है। रक्षा के कारण विष्णु भगवान को देवताओं में सर्वोच्च स्थान मिला है। क्षति या हानि से जो परित्राण करे वही सच्चा क्षत्रिय है। राष्ट्रों में सच्चे क्षत्रिय की भावना उत्पन्न होनी चाहिए। इसके लिए सत्-शिक्षा और सत्-प्रचार की आवश्यकता है। हमारा दृष्टिकोण राष्ट्रीय न हो कर अन्तर्राष्ट्रीय होना चाहिए। राष्ट्रीयता वहीं तक क्षम्य है जहाँ तक कि अपने राष्ट्र को दूसरे राष्ट्रों के बराबर लाने का प्रयत्न हो। अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रचार के लिए उन्नत राष्ट्रों का यह कर्तव्य होना चाहिए कि वे पिछड़े हुए राष्ट्रों को अपने बराबर लाने में सहायक हों। दूसरों की कमजोरी दूर करना शक्तिशाली राष्ट्रों का धर्म है। कमजोर जब तक कमजोर रहेंगे तब तक वे दूसरों की

राज्य-लिप्सा के केन्द्र बने रहेंगे और जब तक यह लिप्सा रहेगी तब तक विश्व-शांति एक सुख-स्वप्न ही रहेगी।

मनुष्य को अपने मनुष्य होने का गौरव होना चाहिए। युद्ध मनुष्य में पशुता के प्राबल्य का प्रतीक है। हमें पशुता से ऊँचा उठना है। मनुष्यता इस बात में नहीं कि हमने अपना या अपनों का कितना भला किया वरन् इसमें कि हमने दूसरों को कितना उठाया। गोस्वामी जी ने ठीक ही कहा है—

आपु आपु कहँ सब भलो, अपने कहँ कोइ कोइ।
तुलसी सब कहँ जो भलो, सुजन सराहिअ सोइ॥

दूसरों को उठाने से हम स्वयं भी उठेंगे और हमारा नैतिक मान बढ़ेगा। आजकल शक्ति की उपासना बेबसी की उपासना समझी जाती है। उसका नैतिक मूल्य नहीं होता। नीति की उपासना स्वातन्त्र्य की उपासना है। राष्ट्रों में भय की प्रीति न हो कर प्रीति का भय होना चाहिए। संहार और भौतिक बल का संघर्ष तो जानवरों में होता है, मनुष्य जानवरों से इसलिए ऊँचा है कि वह बिना संहार के भी विज्ञान के सहारे उन्नति करता है। मनुष्य को अपना यह गौरव अक्षुण्ण रखना चाहिए। यदि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में उसी न्याय और नीति का व्यवहार होने लगे जिसका वैयक्तिक संबंधों में होता तो युद्ध अनिवार्य नहीं है। यदि न्याय की स्थापना के लिए संहार का आश्रय न ले कर पारस्परिक समझौते से काम लिया जाय तो मनुष्य जाति का गौरव स्थापित होगा। विज्ञान के चमत्कारों को यदि मानवहित-सम्पादन के काम में लाया जायगा तो विज्ञान का नाम सार्थक होगा और मनुष्य अपने बुद्धि-बल पर वास्तविक गर्व कर सकेगा।

एटम शक्ति को व्यापार की उन्नति में लगाना चाहिए। सत्य के उपासक वैज्ञानिकों को शिव की भी आराधना करना आवश्यक है। उनका राष्ट्रीयता के संकुचित बन्धनों से ऊँचे उठ कर मानवता का उपासक बनना वांछनीय है। विज्ञान का ज्ञान संकुचित न होना चाहिए। अपने ज्ञान को संहारकार्य में लगाना उनको अपनी विद्या का अपमान मानना होगा, तभी विश्व-कल्याण की आशा हो सकती है। साहित्यिकों को वैज्ञानिकों और राष्ट्र-

नेताओं में अन्तर्राष्ट्रीय भावना जाग्रत करनी होगी। यदि संहार की वृत्तियों की अपेक्षा आत्म-रक्षा की भावना को प्रोत्साहन दिया जाय और सच्चा स्वार्थ शान्ति और सहयोग में माने जाने का प्रचार किया जाय तथा राष्ट्रों में ऊँच-नीच के भेद मिटाये जाने का उद्योग हो तो युद्ध अनिवार्य नहीं रहेगा।

---

५३. गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद

मनुष्यत्व का तत्त्व सिखाता निश्चय हमको गांधीवाद,
सामूहिक जीवन-विकास की साम्य-योजना है अविवाद।
—श्री सुमित्रानन्दन पंत

संसार में जो हलचलें, क्रांतियाँ और मौलिक परिवर्तन होते हैं उनका मूल स्रोत विचारों में ही पाया जाता है। भौतिक बल भी विचारों का सहायक और अनुगामी होता है। फ्रांस और रूस की क्रान्तियाँ भी विचारों के फल-स्वरूप ही अस्तित्व में आई थीं। हिटलर और मुसोलिनी के पीछे भी विचार ही काम कर रहे थे। आजकल के भारतीय राजनीतिक विचार-क्षेत्र को तीन विचार-सूत्र प्रमुख रूप से प्रभावित कर रहे हैं। वे हैं—गांधीवाद, समाजवाद और साम्यवाद। ये ही वर्तमान आन्दोलनों की प्रेरक शक्तियाँ हैं।

गांधीवाद

गांधीवाद कोई नया वाद नहीं है। भारत की सत्य, अहिंसा, अपरिग्रह, सेवा और क्षमा की वैष्णवी और जैन भावनाओं का वर्तमान राजनीति के वातावरण में प्रस्तुत किया हुआ नया संस्करण है। उसको हम इन भावनाओं का राजनीतिक प्रयोग कह सकते हैं।

आध्यात्मिक आधार

महात्मा गांधी ने राजनीति को आध्यात्मिक आधार शिला पर प्रस्थापित कर उसका मान ऊँचा किया; उन्होंने उसको कूटनीति की कोटि से उठा कर धर्म-नीति के रूप में देखा है। उनका समता का भाव आस्तिकता-समन्वित है। अन्तरात्मा को ही वे अपने सब कार्यों की प्रेरक शक्ति मानते हैं।

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्' की उपनिषद् प्रदत्त शिक्षा उनके अपरिग्रह की भावना का मूल आधार है। 'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्' श्रीमद्भगवद्गीता की आत्मौपम्य दृष्टि का उपदेश उनके न्याय के पीछे काम करता है। इसी न्याय की भावना को ले कर वे हरिजन आन्दोलन में प्रवृत्त हुए। "वैष्णव जन तो तेने कहिए जे पीर पराई जाणे रे" का वैष्णव गीत उनकी सेवा-भावना को बल प्रदान करता है। भारतीय तप और त्याग की आत्मा उनके सिद्धान्तों में मुखरित होती है। हिन्दू और जैन संस्कृति के पंच महाव्रतों—सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्तेय (चोरी न करना), अपरिग्रह (धन-सम्पत्ति का संग्रह न करना), में अस्वाद (स्वाद की परवाह न करना), अभय, अस्पृश्यता-निवारण, शरीर-श्रम, सर्वधर्म-समभाव और स्वदेशी जोड़ कर एकादश व्रत उनकी जीवनचर्या के मूल सूत्र हैं। उसमें टाल्स्टाय और रस्किन की सादे जीवन की पुकार प्रतिध्वनित होती है। इसी आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर उन्होंने अपने सिद्धान्तों का दृढ़ भवन तैयार किया है। आइए उसके विभिन्न पक्षों पर दृष्टिपात करें।

आर्थिक

गांधी जी का अर्थशास्त्र भी धर्म और न्याय पर अवलम्बित है। वे जानते हैं कि दुनिया इतनी सम्पन्न नहीं है कि वह सब की माँग को पूरा कर सके। इसीलिए वे सरल जीवन और अपरिग्रह पर बल देते हैं। आत्म-निर्भरता, स्वावलम्बन और मजदूरों के साथ न्याय के निमित्त वे गृह-उद्योगों के पक्ष में हैं। जहाँ मशीन से काम होता है वहीं शोषण का सूत्रपात हो जाता है और मशीन से बने हुए अतिरिक्त माल की खपत के लिए साम्राज्यवाद की नींव पड़ती है। चर्खा उनकी अर्थ-नीति का मूल मन्त्र है। खादी शुद्धता और पवित्रता का प्रतीक है। उसमें शोषण की कालिमा नहीं और हाथ से बनी होने के कारण वह एक विशेष आत्मीय भाव से सम्पन्न रहती है।

गांधीवाद पूँजीपतियों को एकदम निर्मूल करना नहीं चाहता वरन् वह उनको समाज में मजदूरों की सम्पत्ति के संरक्षक रूप से बनाये रखने में सहमत है। गांधीवाद चाहता है कि पूँजीपति अतिरिक्त लाभ रक्खें किन्तु वे उसका

उपयोग मजदूरों के हित में करें। गाँधीजी वर्गसंघर्ष नहीं चाहते थे वरन् वे सर्वोदय के पक्ष में थे। वे उपदेश और धर्म-नीति से ही पूँजीपतियों का हृदय-परिवर्तन चाहते थे। अहिंसात्मक प्रयोगों द्वारा यदि पूँजीपति हटाये जा सकते तो उनको कोई आपत्ति न थी। गाँधी जी साध्य की उत्तमता के साथ साधनों की भी उत्तमता के पक्ष में थे।

सामाजिक—गांधी जी सामाजिक विषमताओं में विश्वास नहीं करते थे। वे श्रीमद्भगवद्गीता के नीचे के श्लोक को जीवन में चरितार्थ करते रहे थे—

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥

इसी भावना को ले कर उन्होंने हरिजन आन्दोलन को अपने कार्य-क्रम में प्रमुखता दी। वर्ण-व्यवस्था में गांधीवाद उसी अंश में विश्वास करता है जहाँ तक कि वह किसी दूसरे के लिए अपमान-जनक न हो। राजनीतिक विषमताओं को दूर करने के लिए गांधी जी सामाजिक विषमताओं को दूर करना अनुल्लङ्घनीय सोपान मानते थे। इसीलिए उनके रचनात्मक कार्यों में अस्पृश्यता-निवारण को प्रमुख स्थान मिला था। उन्होंने हरिजनों के रहन-सहन को ऊँचा उठाने में बहुत कुछ योग दिया था। वे स्वयं भी वाल्मीकि बस्ती में ठहरते थे और हरिजनों का हीनता-भाव दूर करने को हरिजन-वृत्ति धारण करने में हिचकिचाते नहीं थे।

राजनीतिक—गांधी जी की राजनीति मानवता-मूलक है। गांधीवाद में उस संकुचित राष्ट्रीयता के लिए, जो दूसरों को आक्रान्त करती है, स्थान नहीं है। उसका मूल स्वर है 'जीओ और जीने दो'। वह साम्प्रदायिक भेदों से परे है। हिन्दू और मुसलमान सब राष्ट्र के लाभों के समान रूप से अधिकारी हैं। गांधी जी रामराज्य के आदर्श में विश्वास करते थे। गोस्वामी तुलसीदास जी ने आदर्श राज्य के रूप में रामराज्य का इस प्रकार वर्णन किया है :—

वयरु न कर काहू सन कोई। राम प्रताप विषमता खोई॥

× × ×

सब नर करहिं परस्पर प्रीती। चलहिं सुधर्म निरत श्रुति नीती॥

सब निर्दंभ धर्मरत पुनी। नर अरु नारि चतुर सब गुनी॥
सब गुनग्य पंडित सब ग्यानी। सब कृतग्य नहिं कपट सयानी॥

इस आदर्श में पूर्ण मानसिक साम्य के साथ नीति और न्याय पर आश्रित भौतिक सम्पन्नता समन्वित है। अगस्त सन् १९४२ में अंग्रेज़ों के प्रति 'भारत छोड़ो' का नारा गांधीजी ने इसलिए उठाया कि वे विषमता का व्यवहार करते थे और पारस्परिक फूट डाल कर शोषण करना चाहते थे। वह नारा उनकी दृढ़ता का सूचक था। वैसे अंग्रेज़, पारसी, ईसाई, हिन्दू, मुसलमान सब के लिए वे भारत में स्थान मानते थे। वे अंग्रेज जाति से वैर नहीं करते थे वरन् अंग्रेजों के अन्याय-पूर्ण शासन के वे विरोधी थे। वे प्रभुत्व और शोषण के पक्ष में न थे।

गाँधी जी की कार्य-पद्धति सत्य और अहिंसा पर अवलम्बित थी। सत्याग्रह उनकी कार्य-पद्धति का मूल रूप था। वे सदा सत्य को स्वीकार करते थे। हठधर्मी उनमें न थी। वे अपनी भूल स्वीकार करने में

कार्य-पद्धति

सबसे पहले रहते थे और जो उनको सत्य जँच जाता था उसके पालन में प्राण-पण से तैयार रहते थे। उनके सत्याग्रह का काव्यमय रूप हमको श्री मैथिलीशरण जी के 'अनघ' में मिलता है:—

आग्रह करके सदा सत्य का जहाँ कहीं हो शोध करो,
डरो कभी न प्रकट करने में अनुभव जो भी बोध करो,
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो दृढ़ता सहित विरोध करो,
किन्तु विरोधी पर भी अपने करुणा करो, न क्रोध करो।

गाँधी जी की अहिंसा अन्याय को स्वीकार नहीं करती, वह अन्याय के आगे झुकना नहीं जानती। वह निष्क्रिय प्रतिरोध का उपदेश देती है। उसमें घृणा को स्थान नहीं। गाँधी जी की क्षमा निर्बल की क्षमा नहीं वरन् सबल की क्षमा है। वह अन्यायी का प्रतिरोध करते हुए उससे प्यार करना सिखाती है। हिंसा का तारतम्य कभी खतम नहीं होता। 'हिंसा से हिंसानल कभी शान्त नहीं हो सकता। हिंसा का एक अहिंसा ही उत्तर है।' गांधी जी मारने की अपेक्षा मर कर या कष्ट सह कर दूसरे के हृदय-परिवर्तन में विश्वास करते थे। वे मनुष्य

की श्रेष्ठता में विश्वास करते थे और हृदय-परिवर्तन के सम्बन्ध में दृढ़ आशावादी थे। वे सामूहिक बल के साथ-साथ वैयक्तिक आत्मबल में भी विश्वास करते थे। एक सच्चा सत्याग्रही समाज में परिवर्तन करने में समर्थ हो सकता है—इसीलिए उनको रवि बाबू का यह गीत—'यदि तोर डाक सुने केउ न आशे तबे एकला चल एकला चल रे' बहुत पसन्द था। उनके लिए एक चना भाड़ नहीं फोड़ सकता की लोकोक्ति सर्वथा ठीक न थी।

गांधीवाद मानवतावाद का ही दूसरा रूप है। उसमें मनुष्य की दैवी शक्तियों में अमित विश्वास है। वह किसी को हेय और तिरस्कार योग्य नहीं समझता।

गांधीवाद जगत में आया ले मानवता का नव मान,
सत्य अहिंसा से मनुजोचित नव संस्कृति करने निर्माण।
गांधीवाद हमें जीवन पर देता अंतर्गत विश्वास,
मानव की निस्सीम शक्ति का उसमें मिलता चिर आभास।

समाजवाद

समाजवाद और साम्यवाद एक दूसरे से मिलते-जुलते वाद हैं। वास्तव में साम्यवाद समाजवाद का ही एक विकसित रूप या अवान्तर भेद है। इसके जन्म-दाता जर्मनी-निवासी कार्ल मार्क्स थे। विज्ञान की उन्नति के साथ-साथ मशीनों द्वारा जो सामूहिक उत्पादन होने लगा उसी ने पूँजीपतियों को जन्म दिया। उत्पादन के सारे साधन पूँजीपतियों के हाथ में आगये और उसी के साथ उत्पादन के सारे लाभों पर उनका स्वत्व हो गया। श्रमजीवी उत्पादक होते हुए भी उत्पादन के लाभ से वंचित रहने लगे। उद्योग-व्यवसायों के सम्बन्ध में जो स्थिति पूँजीपति और मजदूर की है भूमि के सम्बन्ध में वही स्थिति जमींदार और किसान की है। किसान अन्न का उत्पादक हो कर भी जमींदार की धौंस सहते और बेगार करते जीवन बिताता है। इस प्रकार दो वर्ग हो जाते हैं—एक शोषक वर्ग और दूसरा शोषित वर्ग। शासन के सूत्र भी शोषक वर्ग के हाथ में रहते हैं, इसलिए वे शासन की सैनिक शक्ति के बल पर शोषित वर्ग के ऊपर आने के प्रयत्नों को दबाते रहते हैं।

भारत में किसानों के सम्बन्ध में अब स्थिति बदलती जाती है। जमींदारी और जागीरदारी का उन्मूलन हो रहा है। सरकार का किसान से सीधा सम्बन्ध होता जा रहा है।

पूँजीवाद ही साम्राज्यवाद के लिए भी उत्तरदायी है, क्योंकि मशीन के सामूहिक उत्पादनों की खपत के लिए दूसरे देशों के बाजार चाहिएँ और मशीन के द्रुत उत्पादन के कारण बेकार मनुष्यों के लिए काम। गांधी जी ने इन्हीं कारणों से मशीन के उत्पादन को हेय माना। मशीन के बहिष्कार द्वारा वे उद्योगीकरण की बुराइयों को दूर करना चाहते थे; 'न रहेगा बाँस न बजेगी बाँसुरी'। समाजवाद ने मशीन को प्रोत्साहन दिया किन्तु सब आपत्तियों के मूल स्रोत पूँजीपतियों को मिटा कर वैयक्तिक उत्पादन के स्थान में उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का सिद्धान्त चलाया। राज्य ही उत्पादन करेगा और राज्य ही उसके लाभ को श्रमियों में वितरण करेगा और जो लाभ बचेगा वह भी राष्ट्र के ही काम में आयगा।

समाजवाद का दृष्टिकोण भौतिक है। वह भौतिक एवं आर्थिक परिस्थितियों को ही विकास का कारण मानता है। भौतिक परिस्थितियाँ द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद (Dialectical materialism) के सिद्धान्त के अनुकूल नई संस्थाओं को जन्म देती हैं। पहले एक स्थिति (Thesis) उत्पन्न होती है; जब वह पूर्णतया बढ़ कर अति को पहुँच जाती है तब उसकी प्रतिक्रिया से उसके प्रतिकूल स्थिति उत्पन्न होती है जिसको प्रतिस्थिति (Anti Thesis) कहते हैं। उसकी भी प्रतिक्रिया होती है और फिर दोनों का समन्वय होता है।

हेगेल Hegel ने इस सिद्धान्त को आध्यात्मिक आधार पर प्रतिपादित किया था, मार्क्स ने उसको भौतिक आधार दिया। पूँजीपतियों की संस्था ने श्रमजीवियों के संगठन को जन्म दिया। अब वह संगठन समन्वय रूप से वर्गहीन समाज की सृष्टि करेगा। यही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का समाज में प्रयोग है।

संक्षेप में जहाँ गांधीवाद का आधार आध्यात्मिक है वहाँ समाजवाद का आधार भौतिक है; जहाँ गांधीवाद गृह-उद्योगों में विश्वास करता है, वहाँ समाजवाद मशीन की सहायता से उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के पक्ष का समर्थन

करता है। गांधीवाद किसी वर्ग को मिटाना नहीं चाहता, वह विभिन्न वर्गों में परस्परानुकूलता लाना चाहता है। इसके विपरीत समाजवाद वर्गहीन समाज के पक्ष में है। गाँधीवाद व्यक्ति के आत्मिक बल में विश्वास करता है, समाजवाद सामूहिक बल का पाठ पढ़ाता है। साधनों के सम्बन्ध में भी गाँधीवाद और समाजवाद में अन्तर है। समाजवाद लक्ष्य की उत्तमता को मानता है किन्तु साधनों की नैतिकता पर वह विशेष बल नहीं देता। फिर भी साम्यवाद की अपेक्षा उसका दृष्टिकोण अधिक नैतिक है। समाजवाद कानून और व्यवस्थापिका सभाओं द्वारा परिवर्तन लाना चाहता है। गांधीवाद साधनों की नैतिकता में भी विश्वास करता है।

साम्यवाद

साम्यवाद ने दिया विश्व को नव भौतिक दर्शन का ज्ञान,
अर्थशास्त्र औ' राजनीति का विशद ऐतिहासिक विज्ञान।
\+ \+ \+
साम्यवाद ने दिया जगत को सामूहिक जनतंत्र महान,
भव जीवन के दैन्य दुःख से किया मनुजता का परित्राण।

—सुमित्रानन्दन पंत

साम्यवाद समाजवाद का ही एक भेद है। इसको अंग्रेजी में कम्यूनिज्म कहते हैं। यद्यपि यह संसारव्यापी संस्था है तथापि इसका केन्द्रीय गढ़ रूस है। जहाँ तक उत्पादन के साधनों का प्रश्न है, साधारण समाजवादी और साम्यवादी एकमत हैं, किन्तु उनके साधनों में मतभेद है। यद्यपि साधारण समाजवादी भी नितान्त अहिंसावादी नहीं हैं, तथापि वे वैधानिक आन्दोलनों और कानूनी सुधारों में अधिक विश्वास करते हैं। हड़ताल उनका मुख्य अस्त्र है और उनकी शृङ्खलाओं द्वारा वे श्रमजीवियों की दशा सुधारना चाहते हैं। साम्यवादी सुधारों को केवल आँसू पोंछने की वस्तु समझते हैं। उनके मत से ये सुधार श्रमजीवियों को लुभाये रख कर अन्तिम लक्ष्य से भ्रष्ट करते हैं। साम्यवादी का अन्तिम लक्ष्य है—सशस्त्र क्रान्ति द्वारा पूँजीपतियों से सत्ता

छीन कर सर्वहारा श्रमजीवियों का अधिनायकत्व स्थापित करना। साम्य-वादियों का विश्वास है कि बिना सशस्त्र क्रान्ति के शक्ति नहीं मिल सकती। इतिहास इसका साक्षी है। शस्त्रों की शक्ति से पूँजीवाद स्थित है और शस्त्रों की शक्ति से ही वह जायगा। वह साधारण प्रजातन्त्र में विश्वास नहीं करता। वह शक्ति को श्रमजीवियों में केन्द्रित रखने के पक्ष में है और सब को श्रमजीवी बना कर रखना चाहता है। वास्तव में वह वर्गहीन समाज चाहता है और उसकी स्थापना हो जाने पर वह राष्ट्र की भी आवश्यकता नहीं समझता, कुछ-कुछ उसी प्रकार जिस प्रकार ज्ञान हो जाने पर वेदान्ती लोग कर्म को अनावश्यक बतलाते हैं। वह अवस्था अराजकता की न होगी वरन् उसमें लोग स्वेच्छा से संगठित रहेंगे। किसी का किसी पर दबाव न होगा। हर एक आदमी अपनी शक्ति और योग्यता के अनुकूल काम करेगा और हरेक अपनी आवश्य-कता के अनुकूल राज्य से पायगा।

साम्यवाद राष्ट्रीय सीमाओं को नहीं मानता। वह दुनिया के श्रमजीवियों को एक कर विश्व-क्रान्ति चाहता है। उसमें जातीयता की अपेक्षा विचार-धारा को अधिक महत्त्व दिया जाता है। विचारधारा की समानता से साम्यवादी राष्ट्रों को बल मिलता है। वह समाजवादी व्यवस्था को सब देशों में उनकी इच्छा के भी विरुद्ध शस्त्रों की शक्ति द्वारा स्थापित करना चाहता है। अच्छे उद्देश्य को ले कर शस्त्र-बल प्रयोग और नृशंस से नृशंस कार्य भी उसकी दृष्टि में श्लाघ्य हो जाता है। यद्यपि शोषण को दूर करने का ध्येय स्तुत्य है तथापि साधनों में तथा भावी समाज के संगठन-क्रम में मत-भेद हो सकता है। सब देशों की परिस्थितियाँ भी भिन्न हैं। सब एक लाठी से हाँके नहीं जा सकते। साम्यवाद मत-भेद को स्वीकार नहीं करता। यही इसकी कमजोरी है। द्वन्द्वात्मक भौतिक-वाद गतिशील सिद्धान्त है। वह समाज को एक-सा नहीं मानता। समाजवादी समाज से भी अच्छे समाज की सम्भावना भविष्य के गर्भ में छिपी हुई हो सकती है। स्वस्थ मत-भेद को स्वीकार न करना उस भविष्य के सम्भावित समाज की स्थापना में बाधक होना है।

समन्वय

गान्धीवाद और साम्यवाद में मौलिक भेद है। पहला तो यह कि गांधीवाद प्रजातंत्र में विश्वास करता है और साम्यवाद तानाशाही के पक्ष में है। गांधीवाद धर्मप्रधान और आस्तिकवादी है किन्तु साम्यवाद धर्म की अवहेलना करता है और भौतिकवादी है। गांधीवाद साधनों की शुद्धि, सत्य और अहिंसा में विश्वास करता है किन्तु साम्यवाद हिंसा और रक्तरञ्जित क्रान्ति के पक्ष में है। इन भेदों के होते हुए भी गान्धीवाद और समाजवाद का समन्वय असम्भव नहीं है। दोनों ही जन-हित पर अवलम्बित हैं। गान्धीवाद किसी वर्गविशेष में सीमित नहीं है। वह सर्वोदय चाहता है, किन्तु साथ ही वह भी सबको किसी न किसी रूप में श्रमी बनाना चाहता है। गान्धीवाद भी शारीरिक श्रम अनिवार्य मानता है। सिद्धान्ततः गान्धीवाद यंत्रों का विरोधी है और समाजवाद गृह-उद्योगों का, किन्तु व्यवहार में दोनों एक दूसरे के निकट आ जाते हैं। गृह-उद्योग सारी आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं कर सकते (कागज की ही समस्या गृह उद्योग से हल नहीं हो सकती) और आत्म-निर्भरता और विशेष कर ग्रामीण सभ्यता में गृह-उद्योगों की आवश्यकता स्वीकार करनी पड़ती है। रूस में भी गृह-उद्योगों का नितान्त बहिष्कार नहीं हो सका है। गान्धीवादी भारतीय सरकार राष्ट्रीयकरण में विश्वास करती है किन्तु वह उसे क्रमशः चरितार्थ करने के पक्ष में है। वह एक साथ बने-बनाये खेल को बिगाड़ना नहीं चाहती। किसानों से जमीन छुड़ा कर उनमें वह असन्तोष नहीं पैदा करना चाहती है। थोड़ी-सी सावधानी की आवश्यकता है। समाजवादी व्यवस्था के लिए भी समय अपेक्षित रहता है। धर्म के मामले में व्यक्ति की धार्मिक स्वतन्त्रता में समाजवाद भी बाधक नहीं है। यद्यपि वह स्कूल और कालेजों में धर्म-शिक्षा नहीं चाहता तथापि वह नैतिकता की शिक्षा का विरोधी नहीं। कानून से न धर्म में विश्वास हटाया जा सकता है और न उत्पन्न किया जा सकता है। इसमें व्यक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक है। इस बात को साम्यवाद को स्वीकार करना पड़ेगा।

पूँजीपति देशों में श्रमियों की दशा बहुत-कुछ सुधरती जा रही है।

अमरीका में बहुत से मजदूर लोग भी मोटर रख सकते हैं और रूस में भी सबके पास मोटर नहीं है। हमको साम्यवाद को प्रत्येक देश की परिस्थिति के अनुकूल ढालना होगा। भारत की आत्मा आध्यात्मिक है। भारत के अध्यात्मवाद में साम्यवाद के लिए सुदृढ़ आधार मिल सकता है। जहाँ 'सर्वे सुखिनः भवन्तु' का आदर्श है वहाँ मजदूर भी दुखी नहीं रह सकते यदि उस आदर्श का पालन किया जाय। सब लोग सुखी तभी हो सकते हैं जब स्वार्थ सीमित कर दिये जायँ और शक्ति का दुरुपयोग न हो। शक्ति का दुरुपयोग सर्वहारा द्वारा भी हो सकता है; विगत काल के शोषित भविष्य के शोषक बन सकते हैं। साम्यवाद की आवश्यकता पूँजीपतियों के शक्ति के दुरुपयोग के कारण हुई। ऐसा न हो कि सर्वहारा के अत्याचार से दूसरी किसी परिस्थिति का जन्म हो। साम्यवाद के आक्रमण से बचने के लिए सबसे आवश्यक वस्तु है आत्म-सुधार और स्वार्थों पर नियन्त्रण। यही गांधीवाद का मूल है। किन्तु आत्म-सुधार की भावना को लोग भूलते जा रहे हैं। यह खेद का विषय है। हम अपनी शक्ति का प्रयोग 'पर-पीडनाय' न कर 'पर-रक्षणाय' करें, तभी जगत का कल्याण हो सकता है। साम्यवाद वहीं पनपता है जहाँ शोषण का साम्राज्य होता है। न्यायपूर्ण राज्य में, जहाँ समता के साथ पूर्ण सम्पन्नता हो, साम्यवाद को स्थान नहीं। साम्यवाद के सिद्धान्त यदि शान्तिपूर्ण उपायों से चरितार्थ हो जायँ तो विश्व मारकाट और तोड़फोड़ की विभीषिका से बच जाय।

---

५४. विश्व-शान्ति के उपाय

युद्ध मनुष्य की पाशविक प्रवृत्तियों का एक सामूहिक संहारात्मक प्रदर्शन है। सभ्यता के नियम-विधानों ने व्यक्तियों की पाशविकता पर तो बहुत कुछ नियन्त्रण कर रक्खा है, किन्तु जहाँ तक राष्ट्रों का प्रश्न है मनुष्य अपनी पाशविक अवस्था से बहुत आगे नहीं बढ़ा है। आदि काल से युद्ध होते आये हैं और मनुष्य जाति की धन और यश-लिप्सा की बलिवेदी पर कोटि-कोटि क्या असंख्य नरमेध होते रहे हैं। युद्ध के दिनों में धर्म-नीति का ह्रास हो जाता है

और वन्य हिंस्र पशुओं की नीति का व्यापार चल पड़ता है। विज्ञान ने राष्ट्रों के नख और दन्तों को सुदूर-व्यापी और तीक्ष्णतम बना दिया है। युद्ध के दिनों में मनुष्य के शरीर और मस्तिष्क की सारी शक्तियाँ जन-संहार में केन्द्रित हो जाती हैं और उसके फलस्वरूप जो ध्वंस होता है वह कल्पनातीत है। प्रजातन्त्र राज्यों के स्वतन्त्रता-सम्बन्धी मूल्यों को भुला दिया जाता है। हम अपनी चिर-मञ्चित धर्म की धारणाओं, नैतिक मानों और मानवता-परक कोमल वृत्तियों को तिलाञ्जलि दे बैठते हैं। हमारा सौन्दर्य-बोध नष्ट हो जाता है। कला और साहित्य की गति पङ्गु हो जाती है और स्वतन्त्र नागरिकों की ज़बानों पर ताले लग जाते हैं। चारों ओर अविश्वास, बीभत्सता, दुःख और संताप का साम्राज्य छा जाता है। सारे निर्माण-कार्य स्थगित हो जाते हैं और मनुष्य भयाक्रांत हो जाता है।

युद्ध की भयानकता रोमाञ्चकारी और वर्णनातीत होते हुए भी मनुष्य युद्ध से विराम नहीं लेता। बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्ध में संसार ने एक के बाद दूसरा प्रलयङ्कर युद्ध देखा। इन दोनों युद्धों में जो धन और जन-संहार हुआ वह अकथनीय है। न जाने कितनी माताएँ निःसन्तान हो गईं और न जाने कितनी रमणियों की सौभाग्यश्री युद्ध के रक्त-प्लावन में विलीन हो गई। इन युद्धों के भीषण आर्थिक परिणामों से संसार आज भी क्षयग्रस्त हो रहा है। मदांधता का भीषण भूत पीछा नहीं छोड़ता। इन युद्धों में हारे हुए राज्यों की तो कमर ही टूट जाती है और जीते हुए राज्य भी मृत-प्राय हो जाते हैं। जीते हुए राज्यों की जनता कर भार से दब कर हाथ-पैर भी नहीं हिला पाती। यदि जीत होती है तो शोक, सन्ताप, विग्रह और वैमनस्य की।

युद्ध की इस भयङ्करता से बचने के लिए आदि काल से प्रयत्न होते आये हैं। युद्ध से पहले सभी लोग युद्ध निवारणार्थ दूत भेजा करते थे। महाभारत को बचाने के लिए स्वयं भगवान कृष्ण दुर्योधन के दरबार में दूत बन कर गये थे। भगवान रामचन्द्र जी ने अङ्गद को दूत बना कर भेजा था। जिस प्रकार मनुष्य युद्ध चाहता है उसी प्रकार वह शान्ति भी चाहता है। युद्ध भी वह इसीलिए लड़ता है कि भावी युद्ध बन्द हो जायँ।

युद्ध रोकने के प्रयत्न चिरकाल से हो रहे हैं। हमारे यहाँ सबसे अधिक शान्ति-प्रिय महाराज अशोक हुए हैं। कलिङ्ग के जन-संहार से उनका हृदय-परिवर्तन हो गया था और उन्होंने युद्ध से विराम ले कर शान्ति का साम्राज्य फैलाया। उन्हीं के राज्य-चिह्नों को आज भारत ने अपनाया है। चीन में लाओटज़ो बड़े भारी शान्ति के प्रचारक हुए हैं। उनके ही समकालीन भगवान् बुद्ध ने 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' का पाठ पढ़ाया था। गोस्वामी तुलसीदास जी ने भी बड़े ज़ोरदार शब्दों में युद्ध की निन्दा की है—

सुमति विचारहिं परिहरहिं, दल सुमनहु संग्राम।
सकुल गये तनु बिनु भये, साखी जादो काम॥

यूरोप में भी टालस्टाय आदि शान्ति के प्रचारक रहे हैं। आजकल के युग में बर्टरेंड रसेल और उनके साथी बहुत से लोग शान्तिवादी हैं। पहले महायुद्ध में शामिल न होने के कारण उनको जेल जाना पड़ा था। हमारे देश के परम पूज्य बापू शान्तिवादियों में अग्रगण्य हैं। वे अपने स्वार्थ से पहले दूसरे के स्वार्थ को देखते थे। बापू के ही नाम पर शान्ति-निकेतन में संसार के शान्तिवादियों की एक बृहत् सभा दिसम्बर सन् ४९ में हुई थी। इंगलैंड, अमरीका, आस्ट्रेलिया, फ्रांस आदि प्रायः सभी देशों में शान्ति-सभाएँ हैं। किन्तु वे व्यक्तियों की हैं, अन्तर्राष्ट्रीय नहीं हैं। वे इस बात की अवश्य द्योतक हैं कि मनुष्य शान्ति चाहता है। विश्व में शान्ति की पुकार है।

अन्तर्राष्ट्रीय धरातल पर विश्व-शान्ति के दो महान प्रयत्न हुए हैं। एक प्रथम महायुद्ध के पश्चात् सन् १९२० में वुडरो विलसन के उद्योगों द्वारा स्थापित अन्तर्राष्ट्रीय संघ और दूसरा पिछले महायुद्ध के परिणामस्वरूप अस्तित्व में आया हुआ संयुक्त राष्ट्र-संघ। पहले का कार्य-केन्द्र जेनेवा था और दूसरे का है लेक सक्सेस। संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना में युद्ध की भीषणता से त्रस्त मानवता की उसके प्रति प्रतिक्रिया है। मानव जाति के संरक्षण और राष्ट्रों के नैतिक अधिकारों की घोषणा एटलांटिक चार्टर के नाम से सन् १९४२ में हुई। अन्त में प्रायः दो मास के विचार-विमर्श के पश्चात् सन् १९४५ में ५० राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र-संघ का विधान स्वीकार किया। इसमें वे ही राज्य

सम्मिलित किये गये थे जिन्होंने १२ मार्च सन् १९४५ तक जर्मनी और जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी। दोनों ही की स्थापना का उद्देश्य राष्ट्रों के पारस्परिक झगड़ों को वैध मार्गों से तय करना और युद्धों की सम्भावना को न्यूनातिन्यून कर देना है। संयुक्त-राष्ट्र-संघ के कई अङ्ग हैं। उनमें साधारण परिषद् के अतिरिक्त सुरक्षा परिषद् (Security Council), अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय, आर्थिक और सामाजिक परिषद्, ट्रस्टीशिप परिषद् (Trusteeship Council) और कार्यालय, कुल मिल कर ६ प्रमुख अङ्ग हैं। संघ के अन्तर्गत कई संस्थाएँ और भी काम करती हैं। उनमें संयुक्त राष्ट्रीय शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक परिषद् विशेष महत्त्व की है उसको अंग्रेजी में यूनेस्को Unesco (United Nations Educational Scientific and Cultural Organisation) कहते हैं। इसका उद्देश्य है शिक्षा, विज्ञान और सांस्कृतिक विषयों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना उत्पन्न करना।

पहले राष्ट्र-संघ ने कुछ मामलों, जैसे ग्रीस और इटली के मतभेद और ग्रीस और बलगेरिया के सीमा-सम्बन्धी झगड़े, को सुलझाया। किन्तु राष्ट्रों के स्वार्थ के कारण वह विच्छिन्न हो गया। जापान और मंचूरिया के मामले में राष्ट्र-संघ कुछ न कर सका। जापान उससे अलग हो गया। फिर अबीसीनिया के मामले पर इटली ने अपना सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया। यद्यपि वर्तमान संयुक्त राष्ट्र-संघ पहले राष्ट्र-संघ की अपेक्षा अधिक सुगठित और शक्तिशाली है, उसके उद्देश्य भी व्यापक और न्याय-संगत हैं (समान अधिकारों और आत्म-निर्णय के सिद्धान्तों के आधार पर संसार के राज्यों में मैत्री भाव उत्पन्न करना और युद्ध की सम्भावनाओं को कम करना) तथापि इसमें भी बड़ी शक्तियों का स्वार्थ अधिक काम करता है। सुरक्षा-परिषद् में पाँच शक्तियों (अमरीका, ब्रिटेन, रूस, फ्रांस और चीन) को स्थायी सदस्यता मिली हुई है और ६ अस्थायी सदस्य हैं। कोई काम इन बड़े राष्ट्रों की पूर्ण सहमति के बिना नहीं हो सकता है। इनमें से कोई भी अपनी निषेध शक्ति (Veto Power) द्वारा मामले को खटाई में डाल सकता है और अपने विरुद्ध किसी कार्रवाई के होने को रोक सकता है। इसमें भी दो गुट्ट हैं, एक अमरीकन-ब्रिटेन गुट्ट

और दूसरा रूस (अब चीन भी उसमें शामिल हो जायगा)। इसके सदस्यों में वह पारस्परिक सहयोग की भावना नहीं है जो प्रारम्भ में थी। दोनों गुट्ट अपने-अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिए विश्व को ध्वंस कर देने की धमकी देते हैं। छोटे राज्यों के हितों पर यथोचित ध्यान नहीं दिया जाता। वे बड़े राज्यों की कूटनीति का शिकार बनाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसके पास भी अपने निर्णयों को मान्य कराने को कोई सैन्य शक्ति नहीं है। इसीलिए इंडो-नीशिया, दक्षिण अफ्रीका, तथा कश्मीर आदि के मामले लटके हुए हैं।

निःशस्त्रीकरण के भी कई उद्योग हो चुके हैं, किन्तु कोई उसमें अगुआ नहीं हो सका है। अगुआ कोई हो भी नहीं सकता, जब तक दूसरे राष्ट्र भी साथ-साथ न सुधरें। कोई अगुआ बन कर हिंसक राष्ट्रों का शिकार नहीं बनना चाहता।

शान्ति के जितने उपाय राष्ट्रीय धरातल पर होते हैं उनमें सचाई की अपेक्षा दिखावट अधिक है। इन उपायों को सफल बनाने के लिए युद्ध के कारणों की खोज और उनका निराकरण आवश्यक है। उसके पश्चात् जो चिकित्सा सोची जाय उसके प्रयोग के लिए भी या तो शक्ति-शाली प्रचार हो या उन निर्णयों को मनवाने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सेना हो जो अपने भौतिक बल का दबाव डाल सके।

युद्ध के कारणों में सब से प्रमुख है देशों की आर्थिक और व्यापारिक परिस्थिति। दूसरा है संकुचित राष्ट्रीयता और राष्ट्रों में ऊँच-नीच का जाति-भेद। इसके अतिरिक्त एक कारण यह भी है कि लोग जिस धर्म-नीति का वैयक्तिक व्यवहार में प्रयोग करते हैं उसका वे राष्ट्रों के व्यवहार में प्रयोग करना नहीं सीखे हैं। राजनीति हमेशा कूटनीति ही रही है (महात्मा गांधी ने अवश्य उसे धर्म-नीति का रूप देने का प्रयत्न किया था)। एक चौथा कारण यह भी है कि अभी फालतू शक्ति के निकास का कोई वैध एवं शान्तिमय मार्ग भी नहीं सोचा गया है।

युद्ध रोकने के लिए सबसे पहले आन्तरिक शान्ति और सम्पन्नता अपेक्षित है। आन्तरिक शान्ति के अभाव में दूसरे देश बन्दर-न्याय करने के

लिए उद्यत हो जाते हैं और फिर बन्दर-बन्दरों में भी झगड़ा होने लगता है। आन्तरिक शान्ति के लिए सम्प्रदायों और दलों में उदारता अपेक्षित है । जहाँ तक हो राष्ट्र आत्म-निर्भर होकर अपने यहाँ की बेकारी दूर करें । पूर्ण आत्म-निर्भरता सम्पन्न से संपन्न राष्ट्र के लिए भी सम्भव नहीं है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बल और प्रभुत्व के आधार पर नहीं वरन् पारस्परिक सद्-भावना और आदान-प्रदान के आधार पर व्यापारिक समझौते किये जा सकते हैं। इनमें राष्ट्रीय परिषदें भी सहायक हो सकती हैं । राष्ट्रों की आर्थिक आव-श्यकताओं का सामूहिक रूप से विचार होना आवश्यक है । फिर उनकी पूर्ति की आदान-प्रदान-पूर्ण योजना बनाई जा सकती है । इसके लिए राष्ट्रों को भी अपरिग्रह भावना से काम लेना पड़ेगा । इसके अर्थ शिक्षा और प्रचार की आवश्यकता है । छोटे राज्यों की सुनवाई का भी कोई साधन होना चाहिए। एटम शक्ति के नियंत्रण में बड़े राज्यों का ही हाथ न होना चाहिए वरन् छोटे और विजित राज्यों की भी आवाज सुनी जाने की आवश्यकता है।

राष्ट्रीयता एक सराहनीय गुण है, किन्तु उसकी भी सीमाएँ हैं । जिस प्रकार साम्प्रदायिकता दोष मानी गई है, उसी प्रकार राष्ट्रीयता भी उचित सीमाओं का उल्लंघन कर जाने पर दोष की कोटि में आ जाती है । हिटलर ने आर्यत्व के गर्व में यहूदियों का नाश किया । यद्यपि यूरोप के लोग भारत के जाति-भेद की हँसी उड़ाते हैं तथापि उन लोगों में गोरे-काले का भेद जातिवाद से कम नहीं है। इसी कारण दक्षिण-अफ्रीका और इंडोनेशिया का प्रश्न हल नहीं हो पाता है। श्वेत जातियाँ संसार के उद्धार का अपने ऊपर उत्तरदायित्व समझती हैं और इस उत्तरदायित्व के बहाने वे अपना प्रभुत्व स्थित रखना चाहती हैं । प्रभुत्व की भावना मनुष्य में स्वाभाविक है। यही युद्धों के लिए उत्तरदायी है। इस पर विजय पाने के लिए इसकी प्रतिकूल प्रवृत्तियों, जैसे दया, प्रेम और सेवा, को जाग्रत करना होगा।

व्यक्ति व्यक्ति के बीच झगड़ों को मिटाने के अर्थ सरकार ने न्यायालय स्थापित कर रक्खे हैं और उनके निर्णय व्यक्तियों को मान्य होते हैं । कोई व्यक्ति कानून को अपने हाथ में नहीं ले सकता । किन्तु राष्ट्रों में

यह बात नहीं है। जितने वे महान और शक्तिशाली होते हैं उतना ही वे अपने को दूसरों के शासन से परे समझते हैं। वे स्वयं निर्णायक और स्वयं दंडदाता बन जाते हैं। इसी बात को दूर करने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय स्थापित किया गया है। लेकिन उसके निर्णय मान्य कराने का कोई साधन नहीं है। इसके लिए अन्तर्राष्ट्रीय सैन्यबल चाहिए जो कि न्यायालय के निर्णयों को मान्य करा सके। उसमें सभी राष्ट्र योग दें। इस प्रकार के सम्मिलित सैन्यबल में सब से बड़ी कठिनाई नेतृत्व की है। नेतृत्व के लिए नियम बनाने होंगे। वह भी मताधिकार से हो सकता है। सम्मिलित सैन्य भी तभी सफल हो सकता है जब सदस्य राष्ट्रों की सैन्य-शक्ति पर नियंत्रण हो, ऐटम शक्ति का प्रयोग निषिद्ध कर दिया जाय।

सुरक्षा परिषद् और संयुक्त राष्ट्र-संघ में एक बात सब से दूषित यह है कि विजित राष्ट्रों को उसमें कोई स्थान नहीं। युद्ध के अभियुक्तों के साथ निर्दयता का व्यवहार, उनको फाँसी देना आदि घृणा के बीज बोना है। वे भविष्य में समय पा कर अंकुरित हो उठते हैं। राष्ट्रों के सम्बन्ध में भी जब तक 'अक्रोधेन जयेत् क्रोधम्' की नीति का अनुसरण न होगा तब तक हिंसा का तारतम्य न बन्द होगा। राष्ट्रों में साधारण व्यक्तियों की-सी न्याय के लिए सिर झुकाने तथा कानून को अपने हाथ में न लेने की भावना उत्पन्न करने के लिए हमको संसार के ऐसे संघ-शासन का निर्माण करना होगा जिसमें राष्ट्र अपना-अपना निजी व्यक्तित्व रखते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मिलित निर्णयों का मान करें। वही संघ राष्ट्रों की आर्थिक आवश्यकताओं का प्रेमपूर्वक संयोजन करे। इसके लिए बड़े राज्यों को अपना बड़प्पन छोड़ कर साधारण धरातल पर आना होगा।

इन सब उपायों के साथ-साथ हमको लोगों की फालतू शक्ति के लिए भी निकास ढूँढना पड़ेगा। वीरता के लिए नया आलम्बन देना होगा। युद्धवीर के स्थान में दयावीर की प्रतिष्ठा करनी होगी। हमारे अभियान किसी राष्ट्र के प्रति न होंगे वरन् अपने ही देश की बुराइयों तथा गन्दगी को दूर करने के प्रेम-पूर्वक प्रयत्न होंगे। रचनात्मक कार्य के लिए युद्ध का सा उत्साह उत्पन्न करना

होगा। राष्ट्रों में यदि सैन्य-भर्ती अनिवार्य की जाय तो वह सेवा और रचनात्मक कार्य के लिए हो। हमारे सैनिकों में यह भावना उत्पन्न होनी चाहिए कि वे मारने के लिए नहीं हैं वरन् सेवा और बचाने के लिए हैं। इन भावनाओं के जाग्रत करने के लिए नये प्रकार के साहित्य की सृष्टि करनी होगी। राष्ट्रीय गर्व सेवा का गर्व होगा। हमारी उच्च भावना जाति भावना से परे होगी वरन् सेवा-कार्यों पर अवलम्बित होगी। राष्ट्रों का पारस्परिक मान बढ़ाने के लिए हमको सब राष्ट्रों के बुद्धिजीवियों का संगठन करना आवश्यक है। बुद्धिजीवी साहित्यिक राष्ट्रीय स्वार्थ की क्षुद्र भावनाओं से प्रायः परे हुआ करते हैं। वे यदि मिल कर प्रयत्न करें तो युद्ध के विरुद्ध जनमत उत्पन्न कर सकते हैं। यद्यपि नक्कारखाने में तूती की आवाज कम सुनाई पड़ती है फिर भी नैतिक चेतना धीरे-धीरे जाग्रत की जा सकती है। इस मामले में हम यूनेस्को से बहुत कुछ आशा रख सकते हैं। दूसरों की संस्कृति और कला का मूल्य जान लेने से उसके नष्ट करने के लिए सहसा हिम्मत नहीं पड़ती है। दूसरों को बर्बर और असभ्य समझने की भावना दूर करने की आवश्यकता है। हमारे साहित्यिकों का कर्तव्य है कि पारस्परिक भेद-भावना को दूर करके एक ऐसी विश्व-भ्रातृत्व की लहर उत्पन्न करें जिससे सब लोग विश्व को एक नीड़ बनाने की भावना को चरितार्थ कर सकें।

---

५५. हिमालय की झलक

लखनऊ से रात को साढ़े दस बजे गाड़ी छूटती थी। कुछ पहले ही स्टेशन पहुँच गया। इरादा था कि कुछ अच्छी-सी जगह पा सकूँ। मित्र ने इंटर क्लास में बैठने का आग्रह कर दिया था। यह दरजा कुलीन गरीबों का दरजा है। हम जैसे अनेक दूसरे जन भी दरजा बढ़ाने की धुन में रहते हैं। इसलिए भीड़ की आशंका थी। ताँगे से उतरते ही कुली ने बताया कि इंटर में बैठियेगा तो आगे एक जगह गाड़ी बदलनी होगी, तीसरे दर्जे का एक डिब्बा सीधा काठगोदाम तक जाता है। रेलवालों को मुझे धन्यवाद देना पड़ा। किसी उद्देश्य से यह क्यों न प्रबन्ध किया गया हो, उन्होंने मेरे कुछ पैसे बचा

दिये। तीसरे दर्जे में बैठने का ही मुझे निश्चय करना पड़ा। योग्यता की पहली परीक्षा में एक अपरिचित सज्जन की कृपा से निश्चिन्तता मिल गई। टिकट की खिड़की पर किसी कँगलों की-सी भीड़ को टिकट दान किया जा रहा था। वहाँ से मेरे लिए टिकट ला कर उन्होंने मुझे घायल हो जाने से बचा लिया।

हमारा डिब्बा गाड़ी के अन्त में था। लोग अग्रगामी होना पसन्द करते हैं। इसलिए अधिक भीड़ से अनायास ही हम लोग बच गये। किसी तरह बिस्तरा लगा लेने योग्य जगह वहाँ मिल गई। जब मिल गई तब वह अपनी ही अपनी है। सब के सब हमारे देशवासी इतने भले हैं कि किसी को उसके चाहे जैसे अधिकार से वंचित करने का पाप वे नहीं लेते।

आकाश बादलों से घिरा था, रात अँधेरी। पता नहीं चलता था, कहाँ आ कर गाड़ी रुकी और फिर कहाँ के लिए रवाना हो गई है। अज्ञात और अदृश्य की ओर बढ़े चले जा रहे थे। फिर भी निश्चिन्तता थी। सो सकते थे, पर सो नहीं सके। पानी बरस जाने से लैम्प के आस-पास और पूरे डिब्बे में पतिंगों की भरमार थी। इन बिना-टिकटों की संख्या का प्रश्न ही क्या? अपने प्रदीप्त प्रेमी के निकट आ कर आत्म-समर्पण करने का अधिकार उनका था। खेद और दुःख इतना ही कि हम सभी यात्रियों को उन्होंने लैंप का ही भाई-बन्धु समझ रखा था; ढेर के ढेर आ आ कर ऊपर गिरते थे। हम लोग किसी तरह उन्हें विश्वास न दिला सके कि हमारे भीतर या बाहर कहीं एक कण चिनगारी नहीं, तुम धोखा खा रहे हो।

पीलीभीत के आस-पास कहीं सबेरा हुआ। इस नाम के साथ किसी अभूत स्वर्णाभा की कल्पना थी। वह पूरी नही हुई। मैदान अधिक दिखाई पड़ा, पेड़-पौधे कम। एक जगह सड़क पर देखा कि एक आदमी दुबले-पतले और हड्डी-निकले टट्टू पर सवार है। उसके पीछे कुछ अंतर पर अपने महावत को लिये एक हाथी सूँड हिलाता हुआ अपनी सहज चाल से चला आता है। बड़ी देर तक यह घटना भुलाये नहीं भूली।

उत्सुकता बढ़ती गई कि कहाँ पहले-पहल गिरिराज के दर्शन होते हैं। सहयात्रियों को यह कुछ अजीब बात जान पड़ी। यह पेड़ कौन सा है, वह सड़क

कहाँ को जाती है, पहले पहल हिमालय के शैलशिखर कहाँ से दीखते हैं, ये बातें उनके लिए महत्त्व की न थीं। इन प्रश्नों के साथ ही उन्होंने एक विख्यात नगर की चर्चा छेड़ दी। उस नगर का नाम बता कर मूर्ख न बनूँगा। वहीं के लोग उस तरह के प्रश्न करते हैं। अचरज की बात यह है कि सहयात्री यह कैसे जान गये कि उनके उस कौतुक नगर से मेरा कुछ सम्बन्ध है। एक बार मैं भाग्य का मारा वहाँ पहुँच चुका हूँ।

अंत में शिखर-श्रेणी ने दर्शन दिये, और मन ही मन मैंने गुनगुनाया—

शैलराज तुमको प्रणाम है,
भूतल के पाप ताप-हारी हर,
दर्शन तुम्हारा पुण्यकारी कर,
पूर्ण मनःकाम है।

परन्तु नहीं। अभी मनःकाम पूरा हुआ कहाँ है? अभी तो इतना ही देखा है कि पुञ्जीभूत श्यामघन धरती से ऊपर उठ कर वहाँ आकाश में फैलना चाहते हैं।

एक नदी के निकट हो कर रेलगाड़ी आगे बढ़ने लगी। नदी थी या नाला, कोई नहीं बता सका। हिमालय का नाला भी क्या हमारे यहाँ के नालों जैसा दुबला-पतला होगा? काले रँग की मोटी रेत का लंबा चौड़ा पाट और उसके बीच में धूप से चमकती हुई एक पतली रजत-जल-धारा। मानो बहुत अधिक मार्जिन दे कर छपी हुई कोई हृदयहारिणी कविता हो। नाम उसका मालूम नहीं हो सका, उसकी मधुर ध्वनि कानों तक नहीं पहुँच सकी। फिर भी वह बिना परिचय के हृदय के एक कोने में अंकित हो गई है।

गाड़ी काठगोदाम आ कर रुकी। यहीं नैनीताल के लिए मोटर लारी मिलेगी।

लारी स्टार्ट हो कर चल पड़ी। जगह आगे की ओर ही मिल गई थी। गाड़ी की छत नीची थी। आस-पास का दृश्य पूरा दिखाई न देता था। जब हम इस अतुल आकाश में डुबकी लेने जा रहे हैं, तब छत की यह बड़ी सी पट्टी आँखों को बहुत क्लेशकर प्रतीत होती है।

पक्की सड़क चक्कर खाती हुई ऊपर गई है। इधर-उधर चोटियाँ ही चोटियाँ, वृक्ष ही वृक्ष। हिमालय के वृक्ष बौने कम होते हैं। अपनी भूमि की ऊँचाई के प्रसाद से वे वंचित नहीं हैं। जैसे जैसे ऊँचाई पर चढ़ते गये, दृश्य की सुन्दरता बढ़ने लगी। अब तक भूमि पर ही यात्रा करने का अवसर पाया था। आज हमारी गाड़ी मानो आकाश पर चढ़ रही हो।

आगे या ऊपर की ओर बढ़ते चले गये। कहीं बहुत निचाई पर कुछ घरों की बस्तियाँ दिखाई दीं। आदमी बहुत कम देखने में आये। स्त्रियाँ क्वचित् ही। खेत एकदम विचित्र थे। हाथ डेढ़ हाथ लंबी—ऊपर से इतनी ही लंबाई जान पड़ती थी—सीढ़ियाँ थीं। मालूम हुआ यहाँ के खेत यही हैं। कोई बताता नहीं, तो उन सोपान-पंक्तियों को खेत कौन समझता ?

अब तक निर्झर एक भी दिखाई नहीं पड़ा था। निर्झरों के द्वारा ही रसातल अपना स्नेह इस ऊँचाई के प्रति अर्पित करता है। यहाँ के लिए जैसे हम सब रसातल के ही पड़ोसी थे। इसी से निर्झर देख कर तृप्त होने की इच्छा थी। एक जगह एक नदी सी दिखाई दे गई। पर कदाचित् इन दिनों उसका कोई निर्जल व्रत था। आगे किसी जगह दूर से एक क्षीण जलधारा देख कर बड़ा कौतूहल हुआ। पता नहीं, किस पुनीत सरिता का बाल्यकाल उसमें था। नाम-हीन, परिचय-हीन इस धारा ने आगे चल कर किस विराट् गरिमा को धारण किया है, यह हमसे कोई नहीं बता सका। किसी बहुत बड़े लोकनायक को, किसी वन्दनीय कविमनीषी को, लौट कर हम उसके बाल्यकाल में देखें, चित्र में नहीं प्रत्यक्ष, तब जो पुलक हम में उठ खड़ा हो, वही इस जलधारा से मेरे मन में हुआ।

सहसा नीचे की ओर एक सड़क दिखाई दी। पूछा—यह दूसरा रास्ता कहाँ को है ! बताया गया—"वही तो, जिस पर चले आ रहे हैं।" जान पड़ा, सड़क को दूनर करके जैसे किसी ने उसकी तह कर दी हो। यहाँ हम बहुत ऊँचाई पर आ गये हैं। नीचे की ओर खड्ड पर खड्ड, और ऊपर हमारी गाड़ी सरपट दौड़ी जाती है, ड्राइवर ज़रा भी असावधान हुआ नहीं कि फिर क्या हो, कौन जाने। इन भयङ्कर गर्तों को देख कर चक्कर आता है। मैं ही नहीं, दूसरों

को भी चक्कर आते हैं, यह जान कर संतोष की साँस लिये बिना नहीं रहा गया। एक जगह निचाई देख कर क्षण भर के लिए आँखें झँप गईं। अपनी "मंजुघोष" कविता का एक अंश याद हो आया। देवलोक से शंपा (बिजली) अपने स्वामी मेघ के साथ हिमालय पर जहाँ आती है, वहाँ एक जगह की निचाई देख कर उसे भय होता है। मेरी वह कल्पना कोरी कल्पना नहीं है, इस विचार से आनन्द का अनुभव हुआ।

इतनी ऊँचाई पर पहुँच गया हूँ कि नीचे के खड्डों में बादल दिखाई पड़ते हैं। आकाश हमारे नीचे है। दूर-दूर जहाँ तक, दृष्टि जाती है, ऐसा जान पड़ता है कि शांत समुद्र हो। उस समुद्र में ही हम तैरे जा रहे हैं। इस समुद्र में तरंगाघात नहीं है। शान्त निश्चल, सुविस्तीर्ण ऐसे समुद्र की पहले कल्पना नहीं की थी। पहाड़ हमारी दृष्टि से ओझल हो गया है। इस स्व-निर्मित समुद्र में जैसे उसने डुबकी ली हो। अब फिर गिरिराज और हमारी गाड़ी एक इमारत के पास पहुँच कर रुक गई। नैनीताल निकट ही है और उसी का यह चुङ्गीघर है। प्रकृति के विशाल क्रीड़ाक्षेत्र पर मनुष्य-कृत यह रचना रुचिकर नहीं जान पड़ी। अपने में डूबा-डूबा मैं गुनगुना रहा था—

"(शम्पे प्रिय शम्पे) यही पावन नगाधिराज,
कर के अचंचल नयन आज
कर लो निमज्जित पवित्र पयोद्गम में,
दिवा और भव के इस विचित्र सङ्गम में!"

इस सङ्गम में जैसे यह कहीं का कर्दम आ पड़ा हो। प्रत्येक यात्री को यहाँ एक रुपया कर चुकाना पड़ा।

आगे के मोटर स्टैंड का पहला ही दृश्य भीषण था। कुलियों के एक झुंड ने आ कर मोटर और मोटर-यात्रियों पर हल्ला बोल दिया। जी एकदम घबरा उठा। कपड़े कुलियों के शरीर पर थे, पर क्या कपड़े ही उन्हें कहना चाहिए? किसी मरणासन्न वृद्ध को बालक कह सकें, तो उन चिथड़ों को भी हम कपड़े कह सकते हैं। "बाबू, हम आपका सामान ले चलेंगे, हमें ले चलिये हमें।"—उनकी इस कातर प्रार्थना में न जाने क्या बात थी कि जी

काँप उठा। उसमें कातरता थी, उसमें धिक्कार था, उसमें भर्त्सना थी। क्या नहीं था उसमें ?

पहला जो कुली सामने आ गया, उसी से हामी भर देनी पड़ी। सब के योग्य सामान मेरे पास न था। कुली सामान सम्हाल ही रहा था, इतने में उसका एक दूसरा भाई आ पहुँचा। पहला कहता था कि हमीं सब सामान ले जायेंगे, दूसरा कहता था—हम! अन्त में एक का सामान दो में बाँट देना पड़ा। दूसरे ने कोई तर्क सुनना पसन्द नहीं किया। उनमें एक क्षत्री था दूसरा ठाकुर। दोनों लड़ झगड़ कर रवाना हुए।

यह नैनीताल है—लगभग एक मील लम्बी झील। नीले रङ्ग का शान्त सरोवर इस समय तरङ्गायित नहीं है। शान्त है, सुस्मित है। अन्य सरोवरों की भाँति यहाँ स्नान और जलक्रीड़ा का उत्सव नहीं दिखाई दिया। दर्शन से ही यह शरीर और मन को शीतलता पहुँचाता है। जल-विहार के लिए कुछ नौकाएँ तट पर बँधी हैं। झील के किनारे चल कर यह पतली सड़क ऊपर चढ़ गई है, जिसे एक ओर के ऊँचे शैल को काट कर तैयार किया गया है। ऊपर सघन वृक्ष-राशि है। बड़ी-बड़ी शिलाएँ अपना अर्धभाग कटवा कर अपनी जगह स्थिर हैं। भूकम्प के कठोर हाथों से कोई अदृश्य और अज्ञात इनमें से किसी को मचमचा दे तो क्या हो? यहाँ इनके नीचे हम लोग जो चल रहे हैं, उनका क्या हो? प्रश्न ऐसा है कि इसे टाल ही देना चाहिये।

शीत यहाँ काफी है। गर्मी के कपड़ों से काम न चलेगा। इसी समय अनेक महिलाएँ झुंड की झुंड दिखाई दीं। प्राचीनाएँ भी, और आधुनिकाएँ भी; रंग-बिरंगे बारीक वस्त्र धारण किये हुए। देख कर तसल्ली होती है कि आक्रमण कर देने के लिए निमोनिया इस समय यहाँ सन्नद्ध नहीं खड़ा है। देवियाँ देवताओं में साहस का, पौरुष का संचार करती हैं, इसका एक नया प्रमाण मिला।

अपने डेरे पर आ पहुँचा हूँ। काफी सुन्दर स्थान है। स्वागत करने वालों से एक ही शिकायत है। वे अतिथि के रूप में मुझे लेना चाहते हैं।

मैं चाहता हूँ, मैं उन्हीं में का एक हो जाऊँ। बाहरी जन हो कर सम्मान और आदर विशेष मिलता है, परन्तु घाटे में भी कम नहीं रहना पड़ता।

समुद्र-तल से लगभग सात हजार फुट की ऊँचाई यह है। इसका मतलब यह हुआ कि सूर्य के कितने निकट पहुँच गया हूँ। साधारण न्याय से सूर्य का उत्ताप यहाँ अधिक होना चाहिए। पर बड़ों के सम्बन्ध में साधारण न्याय से विचार करना कदाचित् ठीक नहीं होता।

+ + + +

जीवन में दो ही बार हिमालय के वर्णन का सौभाग्य मिला है। एक बार तब, जब कि यहाँ से सैकड़ों मील कमरे में बैठ कर "मञ्जुघोष" कविता लिख रहा था। और दूसरी बार यहाँ इस समय नैनीताल में। जानकार लोग यही कहेंगे कि मैंने एक बार भी दर्शन नहीं किया। उनसे मुझे समझौता करना पड़ेगा। इस बार भले ही मैंने गिरिराज के दर्शन न किये हों किन्तु उस बार के सम्बन्ध में प्रश्न तक नहीं उठ सकता। उस कल्पना की वास्तविकता में मैं असंदिग्ध हूँ।

इस बार दर्शन हुए हों या न हुए हों, देवतात्मा का बहुत बड़ा प्रसाद ले कर यहाँ से उतर रहा हूँ। मेरे मन में घर के लिए उत्सुक वेदना जाग उठी है। जान पड़ता है, स्वर्ग विहार करने वाली आत्माएँ पुण्य के क्षीण होने पर भी अनिच्छा के साथ नहीं लौटतीं। पृथ्वी पर भी कुछ ऐसी गरिमा है, कुछ ऐसी स्नेह-माधुरी है, ऐसा आकर्षण है, जिसके कारण स्वेच्छा से ही उन्हें इसकी गोद में फिर आना पड़ता है। इस आकर्षण की गुरुता से और तीव्रता और शक्तिमत्ता से इनकार नहीं किया जा सकता। वैज्ञानिक भी स्वीकार करते हैं।

सोच रहा हूँ, इस समय वहाँ के उस सुन्दर प्रान्त भाग में आकाश मेघों से भरा होगा। यहाँ की तरह मेघ नीचे उतर कर हमारे शरीरों को वहाँ नहीं छूते, परन्तु इस कारण दूर होने पर भी वहाँ वे हमारे अधिक निकट हैं। अधिकतर मनमोहक हैं, अधिकतम वांछनीय हैं। वहाँ घन-गम्भीर घोष होता है, वहाँ क्षण-क्षण पर बिजली कौंधती है, वहाँ रिम-झिम बूँदें पड़ती हैं और थोड़ी ही देर में अखण्ड और प्रबल धारा-पात से छोटे-छोटे नाले तक प्रखर प्रवाहिणी

का रूप धारण कर लेते हैं। यहाँ की तरह वृष्टि अरुचि नहीं उत्पन्न करती, वितृष्णा से मन को नहीं भर देती। इसके लिए भीतर और बाहर एक-सी जलन है, एक-सी चाह है। इसी से मेघदूत का विरही यक्ष वहीं के रामगिरि पर दिन काटने के लिए उतरता है। वहाँ के मेघागम में "वर्ष-भोग्य" शाप की शान्ति है। प्रिय विरहदूत का पुनर्मिलन है। इसी से इस समय वहाँ घर-घर आनन्द छाया हुआ है, घर-घर उत्सव की बाँसुरी वहाँ मेघ मुरज के ताल पर बज उठी है। वहाँ के आम, वहाँ के जामुन, वहाँ के नीम नयी वायु में चञ्चल होकर दोलायित हैं। स्त्रियों के मधुर स्वर में सावन का गीत है, पुरुषों की ध्वनि में मलार की तान है। बेतवा अपने दोनों ही कूलों पर आज के नवीन आनन्द में मुखरित हो उठी है। सीधे और टेढ़े कितने ही मार्गों के बीच में हो कर अनेक आवर्त्त-विवर्त्तों में कहीं तो फेनोच्छ्वास के द्वारा वह खिलखिलाती जाती है और कहीं पर जम्बु वृक्षों के श्यामायमान वनों के मध्य कठिन प्रस्तर-शिलाओं से टकरा कर अट्टहास करती हुई दौड़ती है। उछलती हुई, कूदती हुई, किस पुलक से भर कर आज उसने अपने किस प्रिय के लिए अभिसार किया है। उसका यह उत्कट उत्साह आज वहाँ के गाँव-गाँव में, वहाँ के घर-घर में दूर-दूर तक फैल गया है। इतनी दूरी पार करके आज उसने अपनी स्मृति यहाँ इस मेरे मन तक पहुँचा दी है। हिमालय की इस यात्रा ने वहाँ की यह आनन्दानुभूति जिस उत्कण्ठा के साथ हृदय में अंकित कर दी है, उसे मैं कभी न भूलूँगा। मेरे लिए वह क्या पुरानी न पड़ेगी!

असमय में यह यात्रा की थी, इस लिए हिमालय के श्रीमन्दिर की झलक तो दूर से दिखाई दे गई है, पर उनका रूप-दर्शन मुझे नहीं हुआ। वहाँ के लीला-निकेतन ने अपने पट मेरे लिए नहीं खोले। वहाँ की हिम-गंगा, वहाँ का कुसुम-हास वहाँ की रंग-बिरंगी परिधानसज्जा, वहाँ के क्षण-क्षण पर परिवर्तित प्रकृति चित्र, वहाँ के निर्झर-प्रपात, वहाँ की सरिताओं के उद्दाम नृत्य, वहाँ के पलायित प्रवाहों के ग्रीवा-भंग मेरे देखने में नहीं आये। खिन्न मन से मैं नीचे उतर रहा हूँ।

पाँच सौ फुट नीचे उतर कर इस झील के किनारे खड़ा हो गया हूँ।

पीछे की ओर देख लेने के लिए एक बार गर्दन मोड़ कर दृष्टि डाली। इस एक क्षण में, विदा के इस एक क्षण में, यह मेरी दृष्टि कहाँ से कहाँ जा पहुँची है ! चारों ओर नीला कुहरा छाया है। नीलाकाश की नीलम-रज ही यह जैसे यहाँ फैली हो। उसके सौन्दर्य की अनुभूति ही अनुभूति होती है, वाणी उसे छू नहीं सकती। इस नीलपुञ्ज में नैनीताल की उच्च अट्टालिकाएँ अदृश्य हैं। वहाँ कुछ दिखाई नहीं देता। दिखाई नहीं देता, फिर भी यह देख क्या रहा हूँ, अनुभव कर क्या रहा हूँ ? किसी एक अट्टालिका की ही एक कोर अस्पष्ट रूप से वहाँ जान पड़ती है। क्या वहाँ, उसी जगह कहीं वह "स्रस्तगंगादुकूला" अलकापुरी है ? वहाँ तक चर्म-चक्षुओं की पहुँच नहीं होती, फिर भी वहाँ का कोई अनुपम, कोई अलौकिक, कोई अवर्णनीय चित्रपट एक-साथ मेरे आगे खुल पड़ा है। जान पड़ता है वहाँ वे वधुएँ हाथ में लीला-कमल लिये हुए हैं; अलकों में उनके बालकुन्द गुँथे हैं; मुख-मंडल लोध्र-पुष्प के पराग से रंजित हैं; कर्णों में शिरीष पुष्प, चूड़ापाश में नवकुरबक और सीमन्त में उनके कदम्ब कुसुम हैं। "विद्युद्वन्तं ललित वनिताः" आदि में कवि के द्वारा उल्लिखित उन अलौकिक वनिताओं की एक झाँकी से इस एक क्षण में न जाने किस अतुलनीय पुलकभार से मैं समाच्छन्न हो उठा हूँ। न जाने वह कैसा है, न जाने वह कितना है, न जाने वह कहाँ का है, उसके सम्बन्ध में मैं कुछ नहीं कह सकता।

—श्री सियारामशरण जी के 'झूठ सच' में संगृहीत निबन्धों में से पूर्ण कृतज्ञता के साथ उद्धृत। यह वर्णन-प्रधान विवरणात्मक निबन्ध का अच्छा उदाहरण है।

५६. ताजमहल की आत्मकहानी

अपने विधाता को मैं अपने अंक में लिये बैठा हूँ। जिसने मुझे खड़ा किया वही मेरी गोद में सो रहा है, जिसके लिए मैं खड़ा किया गया वह तो मेरी गोद में सो ही रही है। उनके इस अप्रतिम स्नेह को पा कर मैं गर्व से फ़ूला नहीं समाता। शताब्दियाँ बीत गईं पर उनके स्नेह का वैभव आज भी

मुझ में सुरक्षित है। इस वैभव को संसार जाने कब से विस्मय-विमुग्ध हो कर देख रहा है। दुनिया के महान् आश्चर्यों में मेरी गणना की जाती है।

सम्राट् शाहजहाँ और सम्राज्ञी मुमताज की मैं प्रेम-समाधि हूँ। प्रेम की पवित्रता और तल्लीनता का मैं स्मारक हूँ। भेद-भावों में पड़े मनुष्यों को मैं यह संकेत कर रहा हूँ कि प्रेम ईश्वरीय सृष्टि की सबसे बड़ी विभूति है। दो बिछुड़े हुए हृदय मेरी गोद में जुड़े हुए हैं। अत्याचारियों ने समय समय पर आक्रमण किया—मुझे भी लूटा गया। मेरे आभूषणों, रत्नों और जवाहरों को लोग ले गये। मेरे शरीर को उन्होंने नग्न कर दिया। पर मेरे अन्दर जो वैभव छिपा पड़ा है—जो दो हृदय जुड़े पड़े हैं—उन्हें लूटने का साहस नृशंस से नृशंस अत्याचारी को भी नहीं हो सका। प्रेम की लौ के सामने उनकी आँखें खुली नहीं रह सकीं। मैं भौतिक ऐश्वर्य का स्मारक नहीं—प्रेम का स्मारक हूँ। मेरी नींव में उस वियोगी सम्राट् के दो बूँद आँसू चू पड़े थे। कहते हैं आकाश का हृदय भी उन आँसुओं की स्मृति में द्रवीभूत हो उठता है और दो बूँद आँसुओं से वह मेरे हृदय को सींचने का प्रतिवर्ष प्रयत्न करता है। पर मेरे हृदय तक उसके सभी आँसू पहुँच जाते हैं—कल्पना जगत् के विश्वासों पर मैं विश्वास नहीं करता। उसके आँसुओं से तो मेरा कलेवर भी निखर उठता है।

यमुना के किनारे पर मैं खड़ा हूँ। आगरे के स्नेह को मैं भूल नहीं सकता। उसे छोड़ कर मैं कहीं नहीं जा सकता। योगी की समाधि की तरह मैं आगरे में यमुना के किनारे अपनी स्मृतियों को सँजोने का प्रयास करता हूँ। बावली यमुना भी मेरे अतीत वैभव के स्वर्णिम दिनों को याद कर दुख से सूख रही है। वह श्यामा हो गई है। मुझे उस पर स्वाभाविक रूप से स्नेह है। हम पुराने साथी हैं। वह हिलोरें ले कर मुझे प्यार करती है। अपनी सुनाती है, मेरी सुनती है।

कहते हैं, मैं वास्तविकता का अद्वितीय उदाहरण हूँ। श्वेत संगमरमर से मेरा निर्माण हुआ है। मेरे निर्माण में करोड़ों रुपये व्यय हुए। हजारों आदमियों का पेट भरा। एक युग में भी मेरा निर्माण-कार्य समाप्त न हो सका।

मृत्युशय्या पर अंतिम साँसें गिनती हुई मुमताज की यही तो अंतिम

इच्छा थी। उस स्वर्गीय देवी की बात शाहजहाँ कैसे टाल सकता था? इसीलिए तो उसकी इच्छानुसार उसकी यह बेजोड़ कब्र अस्तित्व में आई। कब्र? पर यह कब्र अभागी नहीं। रात-दिन इसे देखने न जाने कितने लोग आते हैं। सुदूर विदेशों से यात्री आ कर मुझे देख कर अपना आना सार्थक समझते हैं। मेरे पास आ कर उन्हें श्रद्धा से झुक जाना पड़ता है। उनके मनोभावों को पढ़ने का मुझे भी अवसर मिलता है। अपने सम्बन्ध में उनकी धारणाओं को देख मैं मुसकरा उठता हूँ।...उसने अपने पति से कहा—'प्रिय! अगर मेरी मृत्यु के पश्चात् तुम कोई अनुपम स्मारक बनाने का वचन दो तो अभी मैं इस ताज के उस बुर्ज से कूद कर अपने प्राण त्याग दूँ।'...क्या कल्पना है! मुझे भय है, कोई सचमुच मेरे प्रांगण में प्राणों का विसर्जन न कर दे। मानव समाज की बर्बरता को देख कर आज मेरा पाषाण हृदय भी क्षुब्ध हो उठा है। मुझ सा स्मारक अब और किसी को अपने अन्तर में स्थान देने में अपने को असमर्थ पा रहा है।

मुगल साम्राज्य के ऐश्वर्य के दिन बीत गये। भारत की इस असहाय अवस्था को देख कर आज मुझे दुख होता है। सिनेमा के पट पर मेरी छवि अंकित करने के लिए लोग यहाँ आते हैं, मेरे चित्र उतारते हैं। चित्रकार अपनी तूलिका से मुझे अमर करना चाहता है। कवि अपनी रचना में मुझे चिरजीवी बनाने का प्रयत्न करता है। पर मेरा हृदय विदीर्ण होता जा रहा है। सम्राट् और सम्राज्ञी भी अपने भारत की इस दुरवस्था को देख कर म्लान हो रहे हैं। अगर यही अवस्था रही तो दुख के बोझ से मैं ढह जाऊँगा—आज नहीं, कल सही। मैं चाहता हूँ मुझ से प्रेम का पाठ ले कर भारतवासी एक सूत्र में बँध जायँ और अपने देश का कल्याण करें।

मुझे किसी से प्रतिद्वन्द्विता नहीं। आगाखाँ महल आज इस युग में मेरा एक सच्चा साथी हुआ है। कस्तूरबा उसकी गोद में है। मेरी गोद में प्रेम की देवी है। उसकी गोद में कर्त्तव्य की देवी है। मुझे विश्वास है, इस प्रेम और कर्त्तव्य के सन्देश को ले कर मानवता अपना कल्याण करेगी।

———

५७. भक्ति की रीति निराली है*

भारतवर्ष में आदिकाल से ईश्वर-प्राप्ति के तीन मार्ग माने गये हैं, ज्ञान, कर्म और भक्ति। यद्यपि ज्ञान का पंथ 'कृपाण की धारा' बतलाया गया है और कर्म की 'गहना गति' कही गई है, तथापि वेदों और शास्त्रों ने इन दोनों मार्गों को निश्चित रूप दिया है। 'भक्ति' हृदय का विषय है; हृदय की गति स्वच्छन्द है, वह नियम और शासन से बाहर है। प्रेम का पाठ पढ़ाये से नहीं पढ़ा जाता। 'प्रेम न तो बाड़ी में उपजता है और न हाट में बिकता है।' 'प्रेम' का उदय हृदय में होता है। वेद उसका भेद नहीं जानते; पाण्डित्य उस के लिए कोई महत्त्व नहीं रखता। योग उसके वियोग में संयोग उत्पन्न करने में असमर्थ रहता है—'ऊधो जोग जोग हम नाहिं'। सूत्र उसको बाँध नहीं सकते, धर्म-शास्त्र उसको शासन में नहीं ला सकते, दर्शन-शास्त्र भी उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते—'नाँय कराय सकै षट दरसन दरसन मोहन तेरो। दिन दिन दूनो कौन बढ़ावै या हिय माँझ अँधेरो।' राज-विधान में उसके लिए स्थान नहीं। घर-बार, मान-मर्य्यादा, कुल की आन, सब का प्रभाव विफल होता है।

किती न गोकुल कुल-बधू काहि न किहि सिख दीन।
कौनै तजी न कुल-गली ह्वै मुरली-सुर लीन॥

भक्त की यही दशा होती है। उसे जाति-पाँति का कुछ ख्याल नहीं रहता। 'हरि को भजे सो हरि को होई', न वह हिंदू रहता है और न मुसलमान, न ईसाई, न जैन—'हाँ हम सब पंथन ते न्यारे, लीनो गहि अब प्रेम-पन्थ हम और पन्थ तज प्यारे'। उसे तो अपनी ही धुन रहती है। मीरा की भाँति उसको धन-धान्य, राजपाट, ज्ञान और गौरव सब हेय हो जाते हैं—

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।
सन्तन ढिंग बैठि बैठि लोक-लाज खोई॥

भक्ति के प्रभाव से सब सांप्रदायिक विरोध नष्ट हो जाते हैं। हिन्दू मुसल-

---

* इसका दूसरा शीर्षक यह भी हो सकता था 'प्रेम को पैंडो ही है न्यारो'।

मान का भेद नहीं रहता। देखिये एक मुसलमान कवयित्री ताज क्या कहती है—

नंद के कुमार कुरबान ताँडी सूरत पै
ताँण नाल प्यारे, हिन्दुवानी है रहूँगी मैं।

जिस प्रकार उसके लिए जाति-पाँति का ध्यान नहीं रहता उसी प्रकार उसे अपना भी ध्यान नहीं रहता। उसे मुक्ति की भी चाह नहीं रहती, उसे तो केवल 'प्रेम' की चाह रहती है। वह यदि कुछ माँगता है तो भक्ति। वह तुलसीदास जी की भाँति यही कहता है कि 'देहु भक्ति अनपायिनी'। उसको एक ही बल, एक ही भरोसा और एक ही आशा तथा विश्वास रहता है। वह यही चाहता है कि वह चकोर की भाँति अपने प्रियतम को देखता रहे 'रामचन्द्र चन्द्र तू चकोर मोहि कीजिये'। वह हानि-लाभ सुख-दुख को भी कुछ नहीं समझता। वह दुख को भी सुख मानता है। वह द्रौपदी की भाँति दुखों का स्वागत करता है; क्योंकि दुख में भगवान की याद आती है।

सच्चा भक्त कठिनाइयों से विचलित नहीं होता, प्रेम का बदला भी नहीं चाहता, प्रेम करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य बन जाता है। बस उसकी चातक की सी गति हो जाती है—

उपल बरखि गरजत तरजि, डारत कुलिस कठोर।
चितव कि चातक जलद तजि, कबहुँ आन की ओर॥

धन वैभव घट जाने की उसको परवाह नहीं, भौतिक बल की उसे चिंता नहीं। उसे यदि चिंता है तो केवल इस बात की कि उसका प्रेम न घटे—

स्रवन घटहु, अनि दृग घटहु, घटहु सकल बल देह।
इते घटे घटिहै कहा, जो न घटे हरि नेह॥

भक्त को भगवान के न मिलने पर दुख होता है। वह उस दुख की भी सराहना करता है। विरह का शाप उसको वरदान हो जाता है। कबीर की भाँति वह विरह-शून्य हृदय को मसान समझता है। विरह का काँटा उसके हृदय में खटकता है, किन्तु उसकी कसक को वह मधुर समझता है—

कहा निकासन आई उर ते काँटो अरी हठीली।
चुभ्यौ रहन दै, लागति नीकी वाकी कसक चुभीली॥

यह तो भक्त का निरालापन है कि वह काँटे को भी नहीं निकालने देता; वह उपदेष्टा को उलटा उपदेश देता है । ऊधो गोपियों को समझाने आते हैं, उन्हें योग की शिक्षा देते हैं, वैराग्य का महत्त्व बतलाते हैं, प्रेम-दुःख से गोपियों को मुक्त करना चाहते हैं, लेकिन क्या मिलता है—

श्याम गति, श्याम मति, श्याम ही हैं प्रानपति,
श्याम सुखदाई सो भलाई सोभाधाम हैं।
ऊधो तुम भये बौरे, पाती लैके आए दौरे,
योग कहाँ राखें यहाँ रोम-रोम श्याम हैं।

× × ×

कान्ह भये प्रानमय प्रान भये कान्हमय,
हिय में न जान परै कान्ह हैं कि प्रान हैं।

योग के उपदेष्टा ऊधो भी इस उत्तर को सुन कर दंग रह जाते हैं। आत्म-विस्मृति उनको भी घेर लेती है—

लखि गोपिन को प्रेम, नेम ऊधो को भूल्यौ।
गावत गुन गोपाल फिरत कुंजन मैं फूल्यो॥
खिन गोपिन के पग धरै धन्य तुम्हारो नेम।
धाइ-धाइ द्रुम भेटही ऊधो छाके प्रेम॥

भक्त के लिए संसार की सभी बातें उलटी होती हैं। वह श्याम रंग में डूबने को उज्ज्वल होना समझता है—'ज्यों-ज्यों बूड़े श्याम रंग, त्यों-त्यों उज्जलु होय'। उसके लिए सोना और जागना एक हो जाता है। मरण ही उसके लिए जीवन होता है।

पाने में मैं तुमको खोऊँ
खोने में समझूँ पाना;
यह चिर अतृप्ति हो जीवन,
चिर-तृष्णा हो मिट जाना!

क्या ही सुन्दर भाव है! संसार के सुख और ऐश्वर्य को पाने में प्रियतम को खोना है और संसार को खो देने में प्रियतम को पाना है। अतृप्ति

ही जीवन है । प्रेम-पिपासा मिटती नहीं, यदि उसको तृष्णा है तो बस मिट जाने की ।

भक्त जन विरोधों के संघात बन जाते हैं । कभी तो दीन से भी दीन, कभी हठी से भी हठी दिखाई पड़ते हैं । कभी तो 'हौं सब पतितन को टीको', 'मो सम कौन कुटिल खल कामी…', 'पापी कौन बड़ो है मोते सब पतितन में नामी, सूर पतित को ठौर कहाँ है, सुनिए श्रीपति स्वामी', 'सूरदास द्वारे ठाढ़ो आँधरो भिखारी' कहते हैं और कभी अकड़ बैठते हैं और लड़ने को तैयार हो जाते हैं—

आज हौं एक-एक करि टरिहौं ।
कै हमहीं कै तुमहीं माधव अपुन भरोसे लरिहौं ।

भक्त के लिए कोई नियम नहीं, कोई शृंखला नहीं, कोई बन्धन नहीं । वह स्वच्छन्द है, वह उन्मुक्त है, वह अपनी धुन का पूरा है । यदि उसकी कोई चीज़ स्थिर है तो उसकी लगन है, इसके सिवाय उसके मन की बात जानना कठिन है । वह कभी रोता है और कभी हँसता है, कभी रीझता और कभी खीझता है । वह संसार में नहीं रहता, उसकी मथुरा तीन लोक से न्यारी होती है । उसके हृदय का रहस्य वही जानता है । उसके भीतरी मर्म को—दर्द को—सांसारिक लोग नहीं समझ सकते । 'जाके पायँ न फटी बिवाई, सो का जाने पीर पराई,' भक्ति की रीति भक्त ही जानता है । सांसारिक लोग तो बस इतना ही कह सकते हैं कि—'प्रेम को पैंडो ही है न्यारो ।'

———

५८. विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा

"वास उसी में है विभुवर का, है बस सच्चा साधु वही,
जिसने दुखियों को अपनाया, बढ़ कर उनकी बाँह गही ।
आत्म-स्थिति जानी उसने ही; पर-हित जिसने व्यथा सही ;
पर-हितार्थ जिनका वैभव है, है उनसे यह धन्य मही ॥"

—मैथिलीशरण गुप्त

"जी से प्यारा जगत-हित औ लोक-सेवा जिसे है,
प्यारी ! सच्चा अवनितल में आत्मत्यागी वही है।"

—प्रिय-प्रवास

संसार के मनुष्य, पशु, पत्नी, कीट, पतंग इत्यादि सभी प्राणी स्वहित-साधन में तत्पर रहते हैं। अपने पर प्रेम करना किसी से सीखना नहीं पड़ता। अपने लिए सबके सब उदार ही हैं। हाँ, यह ठीक है कि मनुष्य स्वभाव से ही अपने ऊपर प्रेम करता है, किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत थोड़ी है जो अपने अतिरिक्त और किसी व्यक्ति को प्यार न करते हों। मनुष्य अपने हित-चिन्तन के साथ दूसरे का भी हित-चिंतन कर ही लेता है।

क्रूरातिक्रूर मनुष्य के हृदय-क्षेत्र में दया के कोमल बीज समूल नष्ट नहीं हो जाते। कभी-कभी समय पा कर वे अंकुरित हो आते हैं। निष्ठुर व्याध दिन भर भीषण हत्या-काण्ड में प्रवृत्त रहता है—किस लिए ? अपने और अपने बाल-बच्चों के भरण-पोषण के निमित्त। अपने प्यारे बच्चों के लिए तो निष्करुण व्याध का भी हृदय अत्यन्त कोमल हो जाता है। ऐसे-ऐसे नर-पिशाच, जिनका हृदय कभी किसी के लिए दयार्द्र और प्रेम-प्लावित नहीं हुआ, शुष्क वैज्ञानिक अथवा अर्थशास्त्र विशारद पंडितों के विभीषिका-पूर्ण मस्तिष्क में घुसते हों, तो हों, किन्तु इस प्रत्यक्ष दृश्यमान जगत् में तो वस्तुतः कहीं ऐसे पामर पतित नहीं दिखाई पड़ते।

भयंकर बाघ भी बाघिनी पर आसक्त हो उसके लिए अपनी भारी भयंकरता भूल जाता है। काल-रूप सर्प अपनी प्यारी नागिन के लिए अपनी दुर्दमनीय विषैली शक्ति भूल कर कोमल कलेवर धारण कर लेता है। ऐसा कोई नहीं, जो किसी न किसी काल में अपना व्यक्तित्व न छोड़ता हो। जहाँ व्यक्तित्व गया, वहीं प्रेम की विजयध्वनि हुई। सभी विश्वव्यापी पवित्र प्रेम के अधीन हैं।

प्रेमदेव के वशीभूत होने पर फिर व्यक्ति कहाँ ? प्रेम के प्रज्वलित, पुनीत पावक में पार्थक्य का नाश हो जाता है। जहाँ प्रेम है, वहीं व्यक्तित्व का नाश है। प्रेम में ही आत्मा के केन्द्र का विस्तार दिखाई पड़ता है। सच्चे प्रेम के साथ स्वार्थ और हिंसा-वृत्ति का अस्तित्व नहीं रह सकता। महर्षि

कण्व के आश्रम में आया हुआ शिकारी दुष्यन्त अपनी हिंसा-वृत्ति को भूल जाता है। उसका प्रेम-प्लावित हृदय उन हरिणियों पर, जिनके साथ रह कर उसकी प्रिया ने भोली चितवन का पाठ पढ़ा था, तीर चलाने से विद्रोह करने लगता है और प्रेम के कोमल प्रवाह में पड़ कर वह समस्त वन्य जन्तुओं को अभय-दान दे देता है।

वह कहता है:—

शर चढ़ाय यह चाप, तानि सकत नहिं मृगन पै।
जिन सिखई प्रिय आप, भोरी चितवन संग बसि॥

और भी देखिए:—

भैंसन देहु करन रँगरेली। सींग पखारि कुण्ड बिच केली॥
हरिण यूथ रूखन तर आवें। बैठि जुगार करत सुख पावें॥
सूकर बृन्द डहर में जाई। खोद निडर मोथा जर खाई॥
शिथिल प्रत्यञ्चा धनुष हमारो। आज त्यागि श्रम होइ सुखारो॥

जहाँ एक बार व्यक्तित्व का त्याग हुआ, बस कोई सीमा बाँधना वृथा है। जब अपने व्यक्तित्व का नाश हुआ, तब सारे भेद भी उसी के साथ छिन्न-भिन्न हो गये।

प्रेम का अर्थ ही है—व्यक्तित्व का परित्याग। फिर जहाँ ज्ञान हो कि सब स्थानों में एक ही पवित्रात्मा का प्रकाश अथवा विकास है, वहाँ प्रेम—रुके हुए जल-स्रोत की भाँति—सारे बन्धनों को तोड़-फोड़ कर चारों ओर फैलने लगता है। प्रेम का शुद्ध स्रोत अथाह है। प्रेम की स्वाभाविक वृत्ति विश्व-प्रेम द्वारा सम्भव है। भौतिक पदार्थों की भाँति प्रेम की परिमिति नहीं। व्यापकता के साथ इसकी तीव्रता घटती नहीं, वरन् उत्तरोत्तर बढ़ती ही जाती है।

विश्वप्रेम उन्हीं के लिए कठिन एवं दुस्साध्य है, जो अपनी आत्मा को पंच महाभूतों का ही गुण मानते हैं। प्रकृतिवाद व्यक्तित्व से बाहर नहीं जा सकता, किन्तु उसके मानने वाले भी व्यक्तित्व से बाहर जाने का यत्न किया करते हैं। वे भी पर-हित-साधन के पक्षपाती हैं। प्रकृतिवादियों की आत्मा हमारी आत्मा से भिन्न नहीं। जब विस्तार ही आत्मा का गुण है, तब फिर आत्मा के

विस्तार को कौन रोक सकता है। जादू वही है जो सिर पर चढ़ कर बोले।

क्या हमें प्रतिक्षण इस बात के प्रमाण नहीं मिलते कि हम इस क्षुद्र शरीर में संकुचित नहीं हैं? हमारे आदर्श हमें अपनी परिमितता से बाहर ले जाते हैं। हमारी देह और इन्द्रियाँ एकदेशीय हों तो हों, पर हमारी आत्मा में एकदेशीयता का लेश भी नहीं।

आत्मा का विस्तार जितना बढ़ाओ, उतना ही बढ़ता जाता है। जैसे जैसे हमारी औदार्यमयी सहृदयता की मात्रा बढ़ती जाती है वैसे ही वैसे हमारी आत्मा का वृत्त भी बढ़ता जाता है। साधारण मनुष्य के लिए उसका घर ही उसकी आत्मा है। जाति सुधारक के लिए जाति और राष्ट्रनिर्माता के लिए राष्ट्र ही उसकी आत्मा है। देशानुरागी की आत्मा निज परिवार, कुटुम्ब और जाति में ही संकुचित नहीं रहती; उसकी स्वार्थ-सिद्धि तो देश के परम कल्याण में है—देश का ऐश्वर्य देशभक्त का गौरव है। जिस बात से देश का मुख कलंकित हो, उस बात से उसे भी दारुण दुःख होता है। जिससे देश का मुख उज्ज्वल हो, उसका लांछन छूट जाय, मस्तक उन्नत हो, वही उस देश-भक्त के परमानन्द का प्रधान कारण होता है। मनुष्य मात्र की हित-कामना करने वाले का आत्म-विस्तार देश-हितैषी की आत्मा के विस्तार से भी बृहत् है। फिर प्राणिमात्र से अविरल प्रेम करने वाले महापुरुष की आत्मा का तो कहना ही क्या? वह तो समष्टि की आत्मा से एक हो जाती है। एक शरीर में केन्द्रीभूत आत्मा के वृत्त का विस्तार जितना ही बढ़ता चला जाय, उतनी ही अधिक आनन्दामृत की वृष्टि होगी—यह मिट्टी की काया कंचन की हो जायगी—इसी धरती पर स्वर्ग उतर आवेगा। आत्मा का विस्तार केवल इस बात को जान लेने से नहीं बढ़ता कि हम सब एक ही हैं। यह ज्ञान विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा के लिए परमावश्यक है, किन्तु इसका प्रत्यक्षीकरण अथवा स्पष्टीकरण बिना प्रेम और सेवा के नहीं होता।

विश्व-प्रेम देश और जाति के संकुचित बन्धनों को नहीं स्वीकार करता है। उसके लिए शत्रु-मित्र का भेद नहीं रहता। दीन-दुखी और दलित ही विश्व-प्रेमी के सगे-सम्बन्धी बन जाते हैं। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' वाले उदार-चेता

के लिए कोई वस्तु अदेय नहीं रहती और कोई सेवा गर्हित नहीं समझी जाती। कुरूपता उसके लिए विकर्षण नहीं उत्पन्न करती और बीभत्सता उसके लिए अर्थ-शून्य हो जाती है। रुधिर और पीव स्रवित करने वाले कुष्ठी के गलित अङ्ग उनकी मरहम-पट्टी करते समय उसकी घृणा के विषय नहीं बनते। संक्रामक रोगों की विभीषिका उसको कर्तव्य-पथ से विचलित नहीं करती। शीतोष्ण के द्वन्द्व उसके कर्तव्य-मार्ग में बाधक नहीं बनते।

विश्व-प्रेम की पावनी ज्वाला के प्रकाशपुञ्ज में जातीयता की क्षीण रेखाएँ विलीन हो जाती हैं। सब की सेवा विश्व हितैषी का धर्म बन जाता है। वह शत्रु-दल में भी निर्भय भाव से प्रवेश कर जाता है। वह अत्याचारी के आगे सिर नहीं झुकाता किन्तु वह उससे घृणा भी नहीं करता। पाप से दूर भागता हुआ भी वही पापी को प्रेम-प्रसारित बाहु-पाश में आबद्ध करने को तैयार रहता है। वह सेवा-धर्म को अनेक रूपों में अपनाता है। भूखे को भोजन और प्यासे को पानी देना, रोगी की सेवा-शुश्रूषा करना, अशिक्षितों को शिक्षित बनाना, भूले-भटकों को राह लगाना, अत्याचारियों से परित्राण दिलाना, आश्रयहीनों को आश्रय देना, बेरोजगारों को रोजगार में लगाना, शत्रुओं में मेल कराना, यह विश्व-मानव देव के प्रति उसकी नवधा भक्ति के विभिन्न अङ्ग हैं। उसकी भक्ति के रूप नवधा ही नहीं वरन् शतधा भी हो सकते हैं। विश्वप्रेम का साधक सेवा के अवसर पा कर उल्लसित हो उठता है और अपने सुख-दुख को भूल जाता है। वह उपकृत के आगे नतमस्तक हो उसके स्वाभिमान की रक्षा करता है। वह दूसरों का तोष दान से ही नहीं वरन् मान से भी करता है।

विश्व-प्रेम और विश्व-सेवा द्वारा ही व्यक्तित्व का जटिल बन्धन छूट सकता है। विश्व-प्रेम से ही समष्टि-व्यष्टि का एकीकरण हो सकता है। विश्व-सेवा द्वारा ही आत्मा का साक्षात्कार हो सकता है। प्रेम और सेवा द्वारा व्यक्ति की परिमितता जाती रहती है। संकोच का अकुञ्चित विस्तार हो जाता है—संकीर्णता के स्थान में सुव्यवस्थित उदारता का राज्य हो जाता है। सत्सेवा के सहारे हम सच्चे विजयी बन सकते हैं—सारे संसार को अपना बना सकते हैं—कलियुग को कृतयुग में पलट सकते हैं। फिर निराश क्यों?

५६. साम्प्रदायिकता, राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता

मज़हब नहीं सिखाता आपस में वैर रखना।
हिन्दी हैं हम वतन है हिन्दोस्ताँ हमारा॥

—इक़बाल

भारत एक स्वतन्त्र राष्ट्र है। राष्ट्र के लिए यह आवश्यक नहीं है कि उसके रहने वाले एक जाति व सम्प्रदाय के ही हों। राष्ट्र एक राजनीतिक इकाई है। उसके निवासियों के राजनीतिक हितों की एकध्येयता और शासन की एकसूत्रता उनमें संगठन स्थित रखने के लिए आवश्यक है। सभी सम्प्रदाय और सभी प्रान्त राष्ट्र के अङ्ग हैं। राष्ट्र का हित सब का सम्मिलित हित है और राष्ट्र का अहित सब के लिए घातक है। ऐसी चेतना ही राष्ट्रीयता का मूल है। राष्ट्र सब के हित के लिए है। उसके लिए हिन्दू, मुसलमान, ईसाई, पारसी, सिख सब बराबर हैं। वह किसी जाति विशेष का नहीं है और न किसी जाति विशेष को उसमें कोई विशेष अधिकार है, सभी उसके संरक्षण और पोषण के समान रूप से अधिकारी हैं। सब के उसमें समान अधिकार और कर्त्तव्य हैं। सब पूर्ण रूप से स्वतन्त्र हैं जब तक कि वे दूसरे की स्वतन्त्रता में बाधक न हों और राजकीय नियमों का पालन करते रहें।

साम्प्रदायिकता उस सीमा तक क्षम्य है जहाँ तक कि वह अपने लोगों की सांस्कृतिक उन्नति में सहायक होती है। साम्प्रदायिकता वहीं दूषित हो जाती है जहाँ पर कि वह अपने लोगों के लिए दूसरों की अपेक्षा विशेषाधिकार चाहने लगती है। अपने अपने धर्म का अविरोध रूप से पालन करते रहना साम्प्रदायिकता नहीं। अपने धर्म को बलपूर्वक दूसरों पर लादना या अपनी सुविधा के आगे दूसरों की सुविधाओं का ध्यान न रखना साम्प्रदायिकता का दूषित रूप है।

साम्प्रदायिकता के इसी दूषित रूप ने देश में दो राष्ट्रों के सिद्धान्त को जन्म दिया और देश के विभाजन सम्बन्धी असंख्य यातनाएँ और भीषण

मारकाट के दृश्य इसी के फलस्वरूप देखने में आये। इसकी प्रतिक्रिया भारत में भी हुई। महात्मा गांधी घृणा को प्रेम से जीतना चाहते थे। यह बात लोगों की समझ में न आई। इसीलिए साम्प्रदायिक रोष की वेदी पर उनका बलिदान हुआ। घृणा घृणा को ही बल देती है। घृणा का तारतम्य एक ओर से बन्द करने पर ही बन्द होता है। हमारी सरकार ने साम्प्रदायिकता के उन्मूलन में किसी जाति का पक्ष नहीं किया। इसी कारण साम्प्रदायिक दंगों का जल्दी शमन हो सका।

राष्ट्र को समृद्ध और सम्पन्न बनाने के लिए सम्प्रदायों में अविरोध ही नहीं वरन् पारस्परिक प्रेम भी अपेक्षित है। पारस्परिक आदान-प्रदान में ही दोनों सम्प्रदायों की अभिवृद्धि की आशा है। विश्वास से विश्वास उत्पन्न होता है। कुछ लोग स्वभाव से अवश्य बुरे होते हैं किन्तु कोई इतना बुरा नहीं कि उस पर सच्चे हृदय से की हुई भलाई का प्रभाव न पड़े।

प्रत्येक सम्प्रदाय के लोग अपने-अपने धर्म और अपनी-अपनी संस्कृति के अनुकूल जीवन यापन करने में स्वतन्त्र हैं। राष्ट्र किसी के धर्म और संस्कृति में बाधक नहीं है और न एक सम्प्रदाय को दूसरे सम्प्रदाय की धर्म और संस्कृति में बाधक होना चाहिए। धर्म एकता का द्योतक है। उसे पार्थक्य का साधन न बनाना चाहिए। जो सम्प्रदाय अपने धर्म का आदर चाहता है उसको दूसरे के धर्म का आदर करना चाहिए। सब धर्म मूल में एक ही हैं। सभी धर्म मनुष्य के साथ सद्व्यवहार सिखाते हैं। ईश्वर किसी विशेष धर्म या जाति का नहीं। सर्वव्यापक किसी एक सम्प्रदाय में सीमित नहीं हो सकता। इसी लिए कबीर और गांधी जैसे उदारचेता महात्माओं ने राम और रहीम की एकता मानी है। 'ईश्वर अल्ला तेरे नाम, सब को सन्मति दे भगवान'।

धर्म के मूल में पार्थक्य नहीं। ईश्वर-प्राप्ति के साधनों और आराधना के प्रकारों में अन्तर हो सकता है किन्तु यह अंतर पार्थक्य का कारण नहीं बन सकता है। जहाँ तक राष्ट्रीय हितों का प्रश्न है वहाँ तक हिन्दू-मुसलमान में कोई अन्तर नहीं। सब को अन्न-वस्त्र और रहने के मकानों की आवश्यकता होती है। सब को औषधालयों और न्यायालयों की अपेक्षा होती है, फिर पार्थक्य किस बात का?

राष्ट्रीय विषयों में पार्थक्य भावना का पोषण करना राष्ट्र के लिए घातक है। पृथक् निर्वाचन एवं काउन्सिलों में स्थान सुरक्षित रखने के परिणाम स्वरूप ही तो दो राष्ट्रों की कल्पना को प्रोत्साहन मिला और देश का विभाजन हुआ। पार्थक्य की भावना को दूर हटा कर संयुक्त निर्वाचन ही देश के लिए हितकर है। संयुक्त निर्वाचन के साथ-साथ बहुसंख्यक जातियों पर इस बात का उत्तरदायित्व आ जाता है कि इस संयुक्त निर्वाचन के कारण अल्पसंख्यकों के हितों की हानि न हो। उनके योग्य व्यक्तियों को चुनाव में आ जाना चाहिए। बहुसंख्यकों की अनुदारता ही पार्थक्य की भावना को जन्म देती है।

सरकारी नौकरियों में जातियों के अनुपात से स्थान सुरक्षित कराना उचित नहीं है। नौकरियों में जो चुनाव हो वह खुली प्रतिद्वन्द्विताओं द्वारा ही हो। उस में चुनने वाले लोगों को सम्प्रदाय और बिरादरी की भावना से परे होना चाहिए। अल्पसंख्यक लोग शिक्षा में पिछड़े हों तो उनको शिक्षा में ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना आवश्यक है किन्तु अल्पसंख्यकों को खुश करने की खातिर अयोग्य व्यक्तियों की भर्ती करना ठीक नहीं।

साम्प्रदायिकता चाहे मुसलमानों में हो और चाहे हिन्दुओं में, बुरी है। राष्ट्र को तो साम्प्रदायिकता के विष से दूर रहना चाहिए। साम्प्रदायिक ऐक्य के लिए संस्कृतियों का एकीकरण भी आवश्यक नहीं। सम्प्रदाय वाले अपनी-अपनी संस्कृति रखते हुए एक दूसरे के प्रति उदार रह सकते हैं। बलपूर्वक अपनी संस्कृति या अपना धर्म दूसरों पर लादना पाप है किन्तु शान्तिमय साधनों द्वारा सबको अपने-अपने धर्म के प्रचार की भी स्वतन्त्रता है। धर्म विश्वास की वस्तु है और विश्वास बलपूर्वक नहीं उत्पन्न किया जा सकता है।

साम्प्रदायिक सामञ्जस्य के लिए पर-धर्म-सहिष्णुता आवश्यक है। धर्म में कट्टर बने रहना बुरी बात नहीं है किन्तु वह कट्टरता इस हद तक न जानी चाहिए कि वह दूसरों को अपना धर्म पालन करते हुए न देख सके। इस सम्बन्ध में पूज्य महामना मालवीयजी के निम्नलिखित उपदेश को सदा ध्यान में रखना चाहिए।

विश्वासे दृढ़ता स्वीये परनिन्दा विवर्जनम् ।
तितिक्षा मतभेदेषु प्राणिमात्रेषु मित्रता ॥

अर्थात् अपने विश्वास में दृढ़ता और पराई निन्दा से दूर रहना मत-भेदों को छोड़ देना (सामान्य बातों को ग्रहण कर लेना भेद की बात को उपेक्षा की दृष्टि से देखना) और प्राणिमात्र से मित्रता रखना चाहिए।

साम्प्रदायिक झगड़े जो होते हैं वे इसी पर-धर्म-सहिष्णुता के अभाव और अपनी टेक रखने के मिथ्याभिमान के कारण होते हैं। धर्मों में कोई बड़ा और छोटा नहीं। सभी धर्म ईश्वर की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न साधन हैं। 'रुचीनां वैचित्र्याद् ऋजु-कुटिल-नानापथजुषां त्वमेकैः गम्यः भवसि पयसामर्णव इव' रुचियों की विचित्रता के कारण लोग टेढ़ा और सीधा मार्ग ग्रहण करते हैं। तुम ही एक सब के गम्य स्थान हो जिस तरह से कि सब नदियों का एक लक्ष्य समुद्र ही है। यदि हममें यह भावना आ जाय तो साम्प्रदायिक झगड़े बन्द हो जायँ। साम्प्रदायिक झगड़ों से देश की शक्ति क्षीण होती है और पारस्परिक वैमनस्य जड़ पकड़ जाता है। एक बार वैमनस्य स्थापित हो जाने पर भय और अविश्वास की मनोवृत्ति जाग्रत हो जाती है, जहाँ पारस्परिक भय होता है वहाँ या तो पलायन वृत्ति का पोषण होता है या हिंसा का। दोनों ही मनोवृत्तियाँ जाति को पतन की ओर ले जाती हैं। महात्मा गांधी ने वीरों की अहिंसा का प्रचार किया है जो निर्भय हो कर अहिंसात्मक साधनों से अत्याचार का सामना करता है, वीरों की अहिंसा में दूसरों को मारने की अपेक्षा अपने प्राणों का बलिदान करना अधिक श्रेयस्कर समझा जाता है। सब से पहले तो ऐसी परिस्थिति उत्पन्न करनी चाहिए जिसमें साम्प्रदायिक झगड़े असम्भव हो जायँ। सबल होते हुए भी दूसरे पक्ष को धर्म की नीति से जीतने का प्रयत्न करना चाहिए और सत्य के आग्रह में बिना दूसरे पर हाथ उठाये आवश्यकता पड़ने पर अपने प्राणों का भी उत्सर्ग कर देना चाहिए। यही महात्माजी का उपदेश है।

राष्ट्र को सशक्त बनाने की आवश्यकता है। साम्प्रदायिक एकता से राष्ट्र की शक्ति बढ़ेगी और पारस्परिक प्रेम भाव के कारण सभी सम्प्रदाय समुन्नत और समृद्धिशाली बन सकेंगे। हम को रविबाबू की निम्नलिखित भावना

को हृदय से अपनाना चाहिये। सत्य नारायणजी कृत अनुवाद देखिए :—

भगवन्! मेरा देश जगाना!
स्वतन्त्रता के उसी स्वर्ग में, जहाँ क्लेश नहीं पाना॥
रुचे जहाँ मन से निर्भय हो, ऊँचा शीश उठाना।
मिले बिना किसी भेद भाव के, सबको ज्ञान खजाना॥
तंग घरेलू दीवारों का, बुना न ताना-बाना।
इसीलिए बच गया, जहाँ का पृथक् पृथक् हो जाना॥

जिस प्रकार साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता में बाधक होती है उसी प्रकार राष्ट्रीयता, जब अपनी उचित सीमाओं का उल्लंघन करने लगती है तब वह अन्तर्राष्ट्रीयता में बाधक होने लगती है। अपनी राष्ट्रीयता पर गर्व करना अच्छा है। उसकी शक्ति बढ़ाना भी किसी अंश में आवश्यक होता है किन्तु शक्ति का प्रयोग परेषां परिपीडनाय न होना चाहिए। उसका स्व और पर के रक्षण में ही उपयोग होना वाञ्छनीय है। आजकल की राष्ट्रीयता जो महायुद्धों की मूल आधार-भित्ति रही है, वैयक्तिक स्वार्थ साधन का एक बृहत् संस्करण है। ऐसी राष्ट्रीयता न धर्म के बन्धनों को मानती है और न जाति के। इसके मूल में आर्थिक कारणों के अतिरिक्त वृथा जातीय अभिमान भी काम करता है। आर्थिक कारणों में अपने माल की खपत और अपने आदमियों को रोजगार दिलाना है किन्तु इसके लिए दूसरे राष्ट्रों को अपने अधीन बनाना अन्याय है। ऐसी राष्ट्रीयता मानवता की विरोधिनी और युद्ध की जननी होती है। हमको अपने राष्ट्र का हित-चिन्तन करते हुए दूसरे राष्ट्रों को दबा कर रखने की न सोचना चाहिए। 'जीओ और जीने दो' की नीति का पालन अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में भी आवश्यक है। राष्ट्रीयता यदि उचित सीमा में रहे तो वह मानवता में बाधक नहीं हो सकती। विश्व के एक राष्ट्र होने की कल्पना चाहे चरितार्थ हो सके या न हो सके किन्तु स्वतन्त्र राष्ट्रों में पारस्परिक साम्य की सम्भावना व्यवहार के क्षेत्र से बाहर नहीं। सब राष्ट्रों की उन्नति में सहायक होना विश्वशान्ति की ओर अग्रसर होना है। विश्वशान्ति में ही अपनी रक्षा और उन्नति है।

---

६०. भारतीय संघ का विधान

भारत वर्ष १५ अगस्त सन् १६४७ को विदेशी शासन के कठोर बन्धनों से मुक्त हो गया था। मुक्त होने के पश्चात् ही भारत की संविधान सभा ने बड़े परिश्रम और अध्यवसाय एवं मनन और विवेचन के साथ अपना संविधान बनाया, और सन् १६५० की २६ जनवरी को जो बहुत काल से हमारे स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाया जाता था, बड़ी धूम धाम और पूर्ण विधि के साथ इसकी घोषणा कर दी। यह पूर्ण स्वामित्व सम्पन्न और स्वतन्त्र भारत का सविधान है। स्वतन्त्र भारत में सब को बिना किसी लिङ्ग, जाति और सम्प्रदाय भेद के समानता का अधिकार है। सब को धार्मिक, सांस्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी स्वतन्त्रता का अधिकार है। सब को अपनी सम्पत्ति पर अधिकार रहेगा, और सब को न्याय का समान संरक्षण प्राप्त होगा। कोई अस्पृश्य या गुलाम नहीं समझा जायेगा। यह धर्म-निरपेक्ष राष्ट्र का विधान है। इसमें किसी के साथ पक्षपात न होगा। यह देश स्वतन्त्र शासन पूर्ण इकाइयों का संघ होगा जिसके द्वारा अनेकता में एकता का आदर्श चरितार्थ होगा। इसकी एक मोटी रूप-रेखा डाक्टर सत्येन्द्र के उपर्युक्त शीर्षक के एक लेख से दे रहे हैं।

२६ जनवरी १६५० को भारत जन-सत्तात्मक रिपब्लिक हो गया है। ६ अगस्त १६४७ को भारत को ब्रिटिश पार्लामेंट ने डोमीनियन के अन्तर्गत अपने कानून के द्वारा स्वतन्त्रता प्रदान की थी। उस समय स्वतन्त्र-भारत का शासन-विधान बनाने के लिए एक विधान-परिषद् स्थापित थी। इसी परिषद् को स्वतन्त्र-भारतीय-संघ की धारा-सभा का काम सौंप दिया गया था। इस विधान-परिषद् ने २६ अगस्त १६४७ को विधान का प्रारूप प्रस्तुत करने के लिए एक समिति बना दी थी। उस समिति ने विधान प्रस्तुत किया। वह गम्भीर विचार के उपरान्त स्वीकार किया गया। २६ जनवरी १६५० से वह नया शासन-विधान देश में लागू हो गया है। अब भारत अपने निर्वाचित और विश्वस्त, अनुभवी नेताओं द्वारा बनाये हुए विधान के द्वारा शासित

होता है। प्रत्येक नागरिक को इस विधान का ज्ञान होना चाहिए। यहाँ हम इस विधान की महत्त्वपूर्ण बातें लिखते हैं।

भारतीय राष्ट्र का स्वरूप—नये शासन-विधान के अनुसार भारत सर्वतन्त्र स्वतन्त्र जनसत्तात्मक रिपब्लिक होगा। इसका अर्थ यह है कि भारत को अपने सम्बन्ध में प्रत्येक बात पर स्वयं निर्णय करने का पूर्ण अधिकार होगा; इसके लिए उसे किसी दूसरे की अपेक्षा नहीं करनी होगी। प्रत्येक क्षेत्र में न्याय का बोलबाला रहेगा। विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, मत तथा पूजा-अर्चना में सबको स्वतन्त्रता रहेगी। सब में समानता का भाव बरतेगा—सबकी समान प्रतिष्ठा होगी और सबको समान अवसर मिलेंगे। प्रत्येक व्यक्ति की निजी प्रतिष्ठा की रक्षा करते हुए राष्ट्र की एकता के लिए भाई-चारे का प्रसार किया जायगा।

भारतीय संघ और उसका क्षेत्र—भारत एक संघ है। वह कितने ही राज्यों का एक दृढ़ संगठन है। इस संघ के सभी हिस्से अब 'राज्य' कहे जायँगे—प्रान्त शब्द नहीं रहेगा।

नागरिकता—भारतीय संघ में वे व्यक्ति नागरिक माने जायँगे—

१—जो नये विधान के लागू होने के समय नागरिक होंगे।

२—जो (अ) स्वयं भारत की सीमा में उत्पन्न हुए हों, अथवा (आ) जिनके माता-पिता दोनों भारत में पैदा हुए हों या (इ) जिनके बाबा-दादी में से कोई एक भी यहाँ पैदा हुए हों और (ई) १ अप्रैल १६४७ के बाद किसी विदेशी राज्य में जिन्होंने अपने स्थायी निवास नहीं बना लिये होंगे।

३—जो १६३५ के भारतीय विधान के अनुसार मान्य भारत की सीमा में, अथवा, बर्मा, सीलोन या मलाया में स्वयं पैदा हुआ हो, या जिसके माँ-बाप दोनों पैदा हुए हों, अथवा बाबा-दादी में से कोई भी पैदा हुआ हो और जो भारत की सीमा में ही निवास करता हो, बशर्ते कि विधान के लागू होने की तारीख से पहले उसने किसी विदेशी राज्य में नागरिकता न पा ली हो।

शासन-विधान के लागू होने के उपरान्त नागरिकता उन नियमों से मिल सकेगी जिनका निर्माण संघ की धारासभा करेगी।

मौलिक अधिकार १—धर्म, जाति, फिरके अथवा योनि के कारण किसी भी प्रकार का भेद नहीं बरता जा सकेगा।

२—सरकारी और सार्वजनिक नौकरियों के लिए सबको बिना भेद-भाव के समान अवसर रहेगा।

३—छुआछूत बिलकुल बन्द कर दी गई है; किसी भी रूप में छुआछूत का व्यवहार दण्डनीय हो गया है।

४—प्रत्येक व्यक्ति को बोलने की स्वतन्त्रता, बिना हथियार के शान्त सभाओं में एकत्र होने की स्वतन्त्रता, सभा-संगठन करने की, देश भर में बिना रोक-टोक घूमने-फिरने की, भारत-भूमि में कहीं भी रहने अथवा बसने की, सम्पत्ति के पूर्ण अधिकार की, कोई भी पेशा अख्त्यार करने की, कैसा भी व्यवसाय, व्यापार करने की स्वतन्त्रता है।

५—सभी व्यक्तियों को समान रूप से अपने विवेक के अनुसार रहने-सहने तथा किसी भी धर्म को मानने अथवा फैलाने का अधिकार है।

६—आदमियों को बेचने अथवा बेगार या जबर्दस्ती किसी को दबा कर शारीरिक श्रम कराने का बिलकुल निषेध है।

७—अल्पसंख्यक जातियों की संस्कृति और शिक्षा की उन्नति पर ध्यान दिया जाता रहेगा।

८—मौलिक अधिकारों को मनवाने के लिए सर्वोच्च न्यायालय को प्रेरित किया जा सकता है।

संघ की कार्यकारिणी—प्रधान—राज्य का अध्यक्ष 'भारत का प्रधान (प्रेसीडेंट)' होगा। समस्त कार्यकारिणी शक्ति उसके हाथ में होगी। वह अपने मन्त्रिमण्डल के परामर्श से काम करेगा।

उसका चुनाव केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभा की दोनों परिषदें तथा राज्यों की धारासभाओं के निर्वाचित सदस्य करेंगे।

वह पाँच वर्ष के लिए चुना जायगा; और केवल एक बार और पुनर्निर्वाचन के लिए खड़ा हो सकता है।

उसकी उम्र ३५ वर्ष से कम की नहीं होगी।

प्रधान पर विधान-विरुद्ध काम करने पर मुकदमा चलाया जा सकेगा।

उपप्रधान—एक उपप्रधान भी होगा। पाँच साल के लिए यह भी चुना जायगा।

मन्त्रिमण्डल—एक मन्त्रिमण्डल प्रधान को परामर्श देने के लिए होगा। इसका अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होगा। समस्त मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से जन-सभा के प्रति उत्तरदायी होगा।

एक कानूनी सलाहकार भी नियुक्त किया जायगा।

संघ-संसद् (यूनियन पार्लामेंट)—संघ की पार्लामेंट प्रधान और दो परिषदों से मिल कर बनेगी। पहली परिषद् 'राज्यों की परिषद्' होगी। दूसरी 'जन-परिषद्' होगी।

राज्य-परिषद् में दो सौ पचास सदस्य होंगे। इनमें से पन्द्रह तो अध्यक्ष नियुक्त करेगा, साहित्य, कला, विज्ञान आदि विशेष विषयों का प्रतिनिधित्व करने के लिए। शेष दो सौ पैंतीस राज्यों में चुने जायँगे। 'जन-परिषद्' में पाँच सौ से अधिक सदस्य नहीं होंगे। ये राज्यों से निर्वाचित होंगे। चुनाव का आधार प्रौढ़ मताधिकार होगा। प्रत्येक ७,५०,००० जन-संख्या के लिए एक से कम प्रतिनिधि नहीं होगा, और ५,००,००० की जन-संख्या के लिए एक से अधिक प्रतिनिधि नहीं होगा।

राज्य-परिषद् का कभी अन्त नहीं होगा। किन्तु यथासम्भव दूसरे वर्ष की समाप्ति पर लगभग एक तिहाई सदस्य हट जाया करेंगे और उनके स्थान पर नये आ जाया करेंगे।

'जन-परिषद्' की अवधि पाँच साल की होगी। पाँच साल समाप्त होते ही उस परिषद् का अन्त हो जायगा, नई चुन कर आयेगी। विशेष संकट काल में परिषद् की अवधि अधिक से अधिक एक साल के लिए और बढ़ाई जा सकती है।

प्रत्येक सत्र के आरम्भ में प्रधान दोनों परिषदों की एकत्र बैठक को भाषण दिया करेगा।

अध्यक्ष के अधिकार—प्रधान को किसी विशेष आवश्यकता में

किसी भी समय विशेष आज्ञा (आर्डीनेंस) प्रचारित करने का अधिकार है, पर ऐसा वह उन दिनों में नहीं कर सकता जिनमें पार्लामेंट हो रही है। ऐसी विशेष आज्ञाओं को वह मन्त्रियों के परामर्श से ही प्रचारित करेगा। ऐसी आज्ञा संघ-संसद् की बैठक के उपरान्त छः सप्ताह के समाप्त होने तक लागू रहेगी।

संघीय न्यायाधिष्ठान—भारत का एक सर्वोच्च न्यायालय होगा, जिसमें एक भारत का प्रधान न्यायाधीश और सात अन्य विचारक होंगे। विशेष अवधि के लिए भारत का प्रधान न्यायाधीश हाईकोर्ट के विचारकों में से भी कुछ को सर्वोच्च न्यायालय में बैठने के लिए नियुक्त कर सकता है।

इस न्यायालय के ये काम हैं:—

१—संघ और राज्य अथवा दो राज्यों के पारस्परिक कानूनी अधिकार सम्बन्धी झगड़ों का निपटारा करना।

२—भारतीय विधान की उचित व्याख्या करना।

३—संघ के प्रधान को, प्रधान द्वारा पूछे जाने पर, कानूनी परामर्श देना।

राज्य—संत्र के अनुरूप ही राज्य का शासन है। राज्य का प्रमुख राज्यपाल (गवर्नर) होगा। राज्यपाल में ही शासन की समस्त शक्तियाँ होंगी। उसके परामर्श के लिए एक मन्त्रि-मण्डल होगा, मन्त्रि-मण्डल का अध्यक्ष प्रधान मन्त्री होगा।

राज्यपाल का कार्य-काल पाँच वर्षों का होगा। विधान-विरुद्ध कार्य करने पर राज्यपाल पर अभियोग चल सकता है।

राज्यपाल को निम्न बातों पर मन्त्रि-मण्डल के परामर्श की आवश्यकता नहीं—इन्हें वह स्वयं कर सकता है। १—धारा सभाओं को बुलाने अथः समाप्त करने के सम्बन्ध में। २—राज्य-लोक-सेवक कमीशन के अध्यक्ष तथ सदस्यों की नियुक्ति पर। ३—किसी अर्थ-निरीक्षक की नियुक्ति के सम्बन्ध में तथा, ४—विधान को स्थगित करने के विषय में।

राज्यों की व्यवस्थापिका—राज्य की व्यवस्थापिका में राज्यपाल औ

। परिषदें कुछ में, तथा एक परिषद शेष सभी में।

धारा सभा में प्रौढ़ मताधिकार से चुन कर आये हुए सदस्य होंगे। ये सदस्य किसी धारा सभा में ५०० से अधिक नहीं होंगे, ६० से कम नहीं। एक लाख की जन-संख्या के लिए एक सदस्य होगा।

दूसरी परिषद में राज्य की धारा सभा की संख्या के २५ प्रतिशत से अधिक सदस्य न होंगे। इनमें से आधे विविध कार्यकर वर्गों की सूची में से चुने जायँगे, एक तिहाई धारा-सभा द्वारा चुने जायँगे, शेष राज्यपाल द्वारा नामज़द होंगे।

धारा-सभा का कार्य-काल पाँच वर्ष होगा। पाँच वर्ष बाद धारा-सभा विसर्जित हो जायगी, दूसरी चुन कर आयेगी। लेजिस्लेटिव कौंसिल इस प्रकार विसर्जित नहीं होगी, प्रति तीसरे वर्ष केवल एक तिहाई के लगभग सदस्य हट जाया करेंगे, और उतने ही नये चुन कर आ जाया करेंगे।

राज्य का कार्य उस प्रदेश की भाषा में या हिन्दी में हुआ करेगा।

राज्यपाल को विशेष आदेश प्रचारित करने का अधिकार है, पर ऐसा वह उस समय नहीं कर सकेगा, जब कि व्यवस्थापिकाओं की बैठक हो रही हो और ऐसा विशेष आदेश प्रचारित होने के उपरान्त से धारा-सभा के अधिवेशन के होने के बाद सिर्फ ६ सप्ताह तक लागू रह सकेगा।

सङ्कट काल में—विशेष संकट काल में राज्यपाल राज्य में विधान की किन्हीं धाराओं को स्थगित करने की घोषणा कर सकता है। यह घोषणा दो सप्ताह के लिए वैध रहेगी। इसी बीच में राज्यपाल को स्थिति की सूचना केन्द्रीय प्रधान को देनी होगी। प्रधान उस घोषणा को वापिस लेगा, या फिर अपनी घोषणा प्रचारित करेगा। इस घोषणा से राज्य का प्रबन्ध केन्द्र के हाथ में आ जायगा।

हाई कोर्ट—हाई कोर्ट का जज ६० वर्ष की उम्र तक काम कर सकता है। धारा-साभा ६५ वर्ष तक भी इस अवधि को बढ़ा सकती है।

चीफ कमिश्नरी प्रान्त—देहली, अजमेर, कोडगु, और पन्थ पिपलोदा जैसे प्रान्त, जिनका १९३५ के कानून से केन्द्र द्वारा शासन हो

रहा है प्रेसीडेंट द्वारा नियुक्त चीफ कमिश्नर, लेफ्टिनेंट गवर्नर, गवर्नर अथ किसी राजा के प्रबन्ध में रखे जायेंगे। प्रेसीडेंट इन प्रदेशों के लिए विध. प्रस्तुत कर सकेगा, स्थानीय धारा सभाएँ तथा कौंसिलें बनवा सकेगा।

सङ्घ तथा राज्य—विधान में सङ्घ और राज्यों के द्वारा शासित हो वाले विषयों की अलग-अलग गिनती कर दी गई है। सिद्धान्त यही रहा है। जो राष्ट्रीय महत्त्व के विषय हैं, वे संघ के अधिकार में रहें और जो स्थानी महत्त्व के हैं वे राज्यों के अधीन रहें। इसी सिद्धान्त पर यह भी नियम बनाय गया है कि आगे भी कभी यदि कोई विषय स्थानीय महत्त्व की अपेक्ष राष्ट्रीय महत्त्व ग्रहण कर लेगा तो वह भी राज्य-परिषद के दो तिहाई मत से संघ का विषय बन सकेगा।

अन्य दिये हुए विषयों के साथ पाँच वर्ष तक आवश्यक पदार्थों जैसे रुई, वस्त्र, अन्न, बिनौले आदि का व्यापार व्यवसाय, उनका उत्पादन, संग्रह तथा वितरण, स्थान-भ्रष्ट मनुष्यों की सहायता तथा पुनर्निवास जैसे विषय भी संघ तथा राज्य दोनों के अधीन रहेंगे।

अल्पसंख्यकों का हित—दस साल तक मुसलमानों, दलित जातियों, भारतीय ईसाइयों के लिए संघ की तथा राज्यों की धारा-सभाओं में स्थान निश्चित कर दिये गये हैं।

अल्पसंख्यक जातियों के हित की रक्षा के लिए एक विशेष अधिकार रहेगा। दलित जातियों के शासन की स्थिति के सम्बन्ध में एक कमीशन नियुक्त किया जाया करेगा।

प्रधान तथा राज्यपाल की रक्षा—प्रधान तथा गवर्नर के विरुद्ध जब तक वे पदारूढ़ हैं कोई कानूनी कार्रवाई नहीं की जा सकेगी।

विधान में संशोधन—संघ पार्लामेंट की प्रत्येक परिषद में उपस्थित सदस्यों के दो तिहाई मत से, जो पूर्ण सदस्य-संख्या का स्पष्ट बहुमत हो, विधान में संशोधन किया जा सकता है।

—(डा० सत्येन्द्रजी के निबन्ध-रत्नाकर से)